॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१२१

श्रीराजशेखरविरचिता

काव्यमीमांसा

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकारः—
डॉ० गंगासागर राय
...०, पी-एच० डी०
सर्वभारतीय काशीरा...
दुर्ग रामनगर, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१२१

श्रीराजशेखरविरचिता

काव्यमीमांसा

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकारः—

डॉ० गंगासागर राय

एम० ए०, पी-एच० डी०

सर्वभारतीय काशीराज न्यास

दुर्ग रामनगर, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
121

THE

KĀVYA-MĪMĀṀSĀ

OF

RĀJAŚEKHARA

EDITED WITH 'PRAKĀŚA' HINDI COMMENTARY

By

Dr. Ganga Sagar Rai
M. A., Ph. D.
ALL INDIA KASHIRAJA TRUST
FORT RAMNAGAR, VARANASI

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

श्रद्धेय गुरुवर्य

आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय

को

सादर

द्वितीय संस्करण

काव्यमीमांसा के इस संस्करण में अपेक्षित संशोधन कर दिया गया है। यत्र-तत्र अतिरिक्त टिप्पणियाँ भी जोड़ दी गईं हैं। आशा है यह संस्करण भी साहित्यशास्त्र के अध्येताओं का ग्राह्य होगा। संशोधन में उन विद्वानों के उन सुझावों को भी ध्यान में रखा गया है जिन्हें उन्होंने समय-समय पर सुझाया था। आशा है भविष्य में भी वे अपने सुझावों से अनुगृहीत करते रहेंगें। चौखम्बा विद्याभवन के संचालक महोदय ने बड़ी तत्परता और ध्यान से यह संस्करण प्रस्तुत किया है। एतदर्थं वे संस्कृत-जगत् के साधुवाद के भाजन हैं।

काशी
विजयदशमी, २०३४ विक्रमी

गंगासागर राय

वक्तव्य

काव्य के साथ ही काव्यशास्त्र वा साहित्यशास्त्र का उद्भव भी सम्बद्ध है। इस शास्त्र का विकास और परिष्कार लगभग दो सहस्र वर्षों से होता आया है साहित्यशास्त्र के आचार्यों में काव्यमीमांसा के प्रणेता महाकवि राजशेखर का स्थान महत्त्वपूर्ण है। राजशेखर का व्यक्तित्व बहुमुखी था—नाटककार, कवि और साहित्यशास्त्री इन सभी रूपों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनकी काव्यमीमांसा साहित्यशास्त्र की एक प्रौढ कृति है। इस ग्रंथ में उन्होंने पूर्वप्रचलित सिद्धान्तों का कुशलता से उपन्यास किया, साधिकार समीक्षा की और यथास्थान अपने सुविचारित मत की स्थापना की। काव्यमीमांसा एक आकरग्रंथ है जिसमें विभिन्न विषयों का विवेचन किया गया है। कवियों के लिये यह व्यावहारिक मार्ग का निर्देश करता है। इस ग्रंथ का विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व भी है। इसमें बहुत से कवियों एवं आचार्यों के नाम-निर्देश के साथ मत-निर्देश भी किया गया है। इससे तत्तत् कवियों तथा आचार्यों के काल की अन्तिम सीमा निर्धारित की जा सकती है। भौगोलिक नामों से प्राचीन भौगोलिक स्थानों को ज्ञात करने में सरलता होगी।

प्रस्तुत संस्करण में इस महनीय ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। स्थान-स्थान पर मूल अनुवाद के साथ टिप्पणियाँ जोड़ दी गई हैं जिससे अनुवाद को समझने में सरलता हो तथा मूल के तुलनात्मक रूप का भी ज्ञान हो। प्रारम्भ में राजशेखर के जीवन-वृत्त, कर्तृत्व, महत्त्व आदि के विषय में एक विस्तृत भूमिका है। अन्त में परिशिष्टों को जोड़ा गया है। आशा है इस रूप में यह अधिक उपादेय तथा ग्राह्य होगा।

इस कार्य में जिन लोगों से प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है उनमें प्रमुख हैं श्रद्धेय गुरुवर्य आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय। आपका निर्मल व्यक्तित्व, प्रकृष्ट पाण्डित्य, सौजन्य तथा वात्सल्य सदैव प्रेरक रहा है। मैं अपने इस प्रयास को श्रद्धासुमन के रूप में उन्हीं को समर्पित कर रहा हूँ।

चौखम्बा विद्याभवन के उदीयमान संचालक-गण मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिनके प्रयास से यह ग्रंथ शीघ्र प्रकाशित हो सका है।

काशी
विजयदशमी, २०२१
१५-१०-१९६४

गंगासागर राय

विषय-सूची

•: प्रस्तावना :•

आचार्य बलदेव उपाध्याय

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष : पुराणेतिहास विभाग

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,

वाराणसी

प्रस्तावना

राजशेखर और शास्त्रीय सम्प्रदाय

रस-सम्प्रदाय :—

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय में रसाधिकारिक की रचना नन्दिकेश्वर द्वारा स्वीकार की है। भरत का, जो रूपक के साथ ही रस के भी आदि-आचार्य माने जाते थे, इस कथन से निराकरण हो जाता है[1]। नन्दिकेश्वर महादेव के अनुयायी थे—जिन्होंने १००० अध्यायों में कामशास्त्र की रचना की थी। नन्दिकेश्वर ने सम्भवतः एकमात्र शृङ्गाररस की ही गरिमा प्रतिपादित की थी, जिसके आधार पर भरत ने आठ नाटचरसों का निरूपण किया।[2]

काव्यमीमांसा में रस-सम्प्रदाय का केवल उल्लेख ही नहीं हुआ है, प्रत्युत राजशेखर की उससे अभिरुचि भी व्यञ्जित होती है। उन्होंने काव्य का आत्मा रस को ही स्वीकार किया है—"शब्दार्थौ ते शरीरं संस्कृतं मुखम्...उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा....." का. मी.। काव्य में रसाभिनिवेश के विषय में रस-वादी आचार्य [3]आपराजिति (लोल्लट) का मत उद्धृत किया गया है जिन्होंने

---

१. Bharata's treatment would indicate that some System of Rasa, however undeveloped or even a Rasa School, particularly in connection with the drama, must have been in existence in his time. (Sanskrit Poetics Vol. II. De. p. 22)

२. १६ वीं शताब्दी में केशव मिश्र ने भगवान् शौधोदनी का उल्लेख किया है, जो रस के सूत्रकार हैं। (De, p. 22.)

महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्रेणाध्यायानां पृथक् कामसूत्रं प्रोवाच। दिव्यं वर्ष-सहस्रमुमया सह सुरतसुखमनुभवति महादेवे वासगृहद्वारगतो नन्दी कामसूत्रं प्रोवाच।—वात्स्यायन की टीका (१-१. ८)

यत् कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमत्रागमित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टं तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते संक्षेपतः। अभिनव-भारती में सुमति के भरतार्णव नामक ग्रंथ का जो नन्दिकेश्वर के ग्रंथ के आधार पर निर्मित हुआ था—उल्लेख मिलता है। प्राचीन अभिलेखों से भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का उपदेश नन्दिकेश्वर ने दिया—ऐसा प्रतीत होता है।

३. आपराजिति लोल्लट ही हैं क्योंकि हेमचन्द्र ने (काव्यानु० पृ० २१५ पर) उनके उद्धरणों को उद्धृत किया है। लोल्लट रससिद्धान्तवादी थे और उन्होंने नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी—(संगीत-रत्नाकर १-१-१६ और अभिनवभारती G. O. S. ed. PP. 266 and 274)

काव्य के रसपेशलता को ही युक्त स्वीकार किया है; उसके अनुसार नीरस अर्थों का निवेश अग्राह्य होना चाहिये। राजशेखर ने विस्तारपूर्वक अद्रिवर्णन, सागर-वर्णन आदि विषयों में जहाँ रसाभिनिवेश कठिन होता है उसके अनुसार रसनिवेश का ही समर्थन किया है। नीचे के उद्धरण से ज्ञात होता है कि राजशेखर की अभिरुचि रसवादी आचार्यों की ओर उन्मुख थी तथा वे काव्य में रस की स्थिति ही नहीं मानते थे, प्रत्युत काव्य में रस को आत्मा स्वीकार करते थे। "किन्तु रसवत् इव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य" इत्यापराजितिः।

राजशेखर ने काव्य में रस को आत्मा तथा काव्य में रसात्मक तथ्यों के निरूपण का ही कथन नहीं किया है, अपितु काव्यकवि के आठ प्रभेदों में रसकवि का भी महत्त्वपूर्ण वर्णन किया है। इस प्रकार काव्य में रसाधान राजशेखर के लिये महत्त्वपूर्ण है। विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। इतना निश्चित है कि राजशेखर को रस-सम्प्रदाय से सहानुभूति थी और उन्होंने इस पर विशेष बल दिया है किन्तु उन्होंने किस आधार पर काव्य में रस को आत्मा स्वीकार किया है, यह विवादास्पद है।

कर्नल जैकब के J. R. A. S., १८९७ पृ० ८४७ के भ्रान्त प्रकाशन[१] के आधार पर याकोबी ने उद्भट को ही रस को काव्यात्मा मानने का गौरव प्रदान किया था लेकिन यह धारणा मिथ्या सिद्ध हुई। प्रो० नोबेल के कथन का भी आधार यही भ्रान्त धारणा ही है।[२]

राजशेखर की रस–सम्बन्धी मान्यता का आधार भरत का नाटचशास्त्र है और उन्हीं के टीकाकारों के विवेचन का प्रभाव राजशेखर के काव्यात्मनिरूपण पर पड़ा है। राजशेखर के युग तक रस, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि की मान्यता काव्य में पूर्णरूप से निर्धारित की जा चुकी थी। रस की व्याख्या भरत के आधार पर लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदि ने पुनः निरूपित की थी और राजशेखर ने इसे ही स्वीकार किया।[3]

---

१. रसाद्यधिस्थितम् काव्यमजीवद्रूपतया यतः।
कथ्यते तद् रसादिनम् काव्यात्मत्वम् व्यवस्थितम्॥

२. Udbhata, who appears to have lived at the same time as Vamana has more correct opinion regarding the soul of poetry, designating by this term the Rasa. As a kavya, which is endowed with Rasa and so on, is taken to be a living form, the Rasa is called the soul of the Kavya. (Foundation of Indian poetry. Prof. J. Nobel. p. 97)

३. "नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"।

अतएव राजशेखर का रससिद्धान्त उनके युग का ही प्रतिनिधित्व करता है। वे अपने युग के मान्य सिद्धान्त का ही समर्थन करते हैं।

अलंकार-सम्प्रदायः—

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में अलंकार को सप्तम अंग कह कर काव्य में ही नहीं, अपितु शास्त्र में भी इसकी अनिवार्यता स्वीकार की है। "उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्" इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतेः।

उन्होंने शास्त्रसंग्रह में शब्दालंकार के दृष्टिकोण से अनुप्रास, यमक, चित्र और शब्दश्लेष[1] तथा वास्तव, औपम्य, अतिशय, अर्थश्लेष[2] और उभयालंकार का कथन किया है जिनके आचार्य क्रमशः प्रचेतायन, चित्रांगद, शेष, पुलस्त्य, औपकायन, पराशर, उतथ्य और कुवेर हैं। अलंकारविषयक विषयनिरूपण में राजशेखर ने रुद्रट का अनुकरण किया है। लेकिन रुद्रट के वक्रोक्ति अलंकार का खंडन भी राजशेखर ने काकु को पाठधर्म स्वीकार कर किया है।

विषयवर्णन करते समय उस विषय से सम्बद्ध आचार्यों का उल्लेख राजशेखर की अपनी विशेषता है। काव्यमीमांसा के प्रथम ११ अध्याय रुद्रट के काव्यालंकार के १० अध्याय तक विशेष रूप से समानता रखते हैं। सम्भव है दोनों व्यक्तियों की रचना का आधार एक ही रहा हो जो संप्रति अनुपलब्ध है।

राजशेखर ने विभिन्न अलङ्कारों की विभिन्न आचार्यों द्वारा जो उद्भावना की है, वह एकमात्र अनुप्रास की छटा प्रस्तुत करने के लिये नहीं की गई है, अपितु उसका विशेष ऐतिहासिक महत्त्व भी है जो शोध का विषय है।

रुद्रट ने यद्यपि रस को स्वीकार किया है किन्तु उनका सम्बन्ध अलंकार-सम्प्रदाय से ही है।[3] राजशेखर ने रुद्रट के काव्यालङ्कार के आधार पर प्रतिपादन ही नहीं किया है अपितु काव्यहेतु में शक्ति आदि का ग्रहण भी उन्हीं से

---

१. शब्दालंकार—वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथाऽपरं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्योऽस्तु॥
—रुद्रट काव्या०—२.१३

२. इस प्रसंग में रुद्रट का वचन द्रष्टव्य है:—
अर्थालंकार—अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥ काव्या० ७–९

३. Although influenced considerably by the Rasa doctrine, Rudrata, belongs properly to the Alankara School. (S. K. De., p. 75)

किया है। लेकिन रुद्रट के वक्रोक्ति अलङ्कार का खण्डन राजशेखर ने काकु को पाठ-धर्म स्वीकार कर लिया है।

उद्भट का उल्लेख भी राजशेखर ने "त्रिधाऽभिधा-व्यापारः इति औद्भटाः" और विचारित सुस्थ और अविचारित रमणीय अर्थ के प्रसङ्ग में किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजशेखर ने उद्भट का उल्लेख भी काव्यमीमांसा में किया है। उद्भट का रस-स्थापना में भी महत्त्व विशिष्ट है[१]। प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उद्भट ही आचार्य थे जिन्होंने रस को काव्यात्मा स्वीकार किया था, लेकिन यह तथ्य अब असत्य सिद्ध हो चुका है। उद्भट अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्य हैं जिनके सिद्धान्त का विश्लेषण राजशेखर ने औद्भटाः के नाम से किया है तथा उसे सम्मानपूर्वक स्वीकार किया है।

तृतीय आलंकारिक मेधाविरुद्र हैं जिनके विषय में काव्यमीमांसा से ज्ञात होता है कि ये जन्मान्ध थे तथा काव्यशास्त्री और कवि थे।[२]

राजशेखर अपनी मौलिकता तथा आलोचना-शक्ति का भी उपयोग करते हैं और यही कारण है कि उन्होंने रुद्रट की लाटीय रीति को अस्वीकार कर वामन के रीतिसिद्धान्त का अनुसरण किया है।

रीति-सम्प्रदायः—

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के तृतीय अध्याय में प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति का निरूपण किया है। आचार्य राजशेखर के अनुसार रीतिनिर्णय के आदि सुवर्णनाभ हैं।[3] इनकी 'प्रवृत्ति' वेषविन्यास से सम्बन्धित है। इसमें भरत का अनुकरण पाया जाता है।[४] रीति की अपेक्षा प्रवृत्ति की परिधि व्यापक है। रीतियों के विकास में वामन से प्रेरणा ग्रहण की गई प्रतीत होती है।

---

१. We shall also see that Udbhata is certainly more advanced in recognising Rasa and defining its place in the poetic figure. (De. p. 71)

२. Medhavin cited by Bhamaha, probably belonged to this School, and his is the only authentic name of an early exponent of this system. (De, p. 48-49)

३. सुवर्णनाभ का उल्लेख "सुवर्णनाभः साम्प्रयोगिकम्" (कामसूत्र १-१-१३) में हुआ है।

४. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी॥—ना० शा० १४।३६
पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्त्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।—ना० शा०

राजशेखर की रीति की परिभाषा वामन से मिलती है। अन्तर केवल शाब्दिक है—वचनविन्यासक्रमः रीतिः।[1] वचन का अर्थ शब्द या पद, और विन्यास का अभिप्राय रचना से है। काव्यपुरुष के वर्णन क्रम में राजशेखर ने वाणी से सम्बन्ध रखने वाले शब्द प्रयुक्त किये हैं जबकि वामन ने लेखन से सम्बन्धित शब्द का प्रयोग किया है। इसी कारण वामन के पद के स्थान पर वचन और रचना के स्थान पर विन्यास-क्रम का प्रयोग हुआ है।

वामन रीति में मूलतत्त्व गुण को, रुद्रट समास को एवं आनन्दवर्धन गुण को आन्तरिक तथा समास को बाह्यतत्त्व स्वीकार किये हैं। राजशेखर में नवीनता है; उन्होंने समास के साथ ही अनुप्रास को भी रीति का मूलतत्त्व स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त राजशेखर ने तीन नये आधार-तत्त्वों की कल्पना की है—वैदर्भी योगवृत्ति, पांचाली उपचारगर्भा और गौडीया योगवृत्ति परम्परा। भोज ने राजशेखर की इस योगवृत्ति आदि परम्परा का और भी विस्तार किया है। अग्निपुराण में गुण और रीति का परस्पर सम्बन्ध किया गया है। उनमें रीति का मूलतत्त्व समास, उपचार और मार्दव की मात्रा—ये तीन स्वीकार किये गये हैं।

राजशेखर ने रीति के मूलतत्त्व में समास का ग्रहण रुद्रट से किया है, लेकिन परिभाषा और उसके तीन प्रकार वामन से स्वीकार किया है। रुद्रट की लाटीय रीति का इन्होंने परित्याग कर दिया है।

राजशेखर ने विलास-विन्यास को वृत्ति माना है। आनन्दवर्धन ने 'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते' का कथन किया है जिससे स्पष्ट है कि पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टा ही वृत्ति है।

"वृत्तिरीतिस्वरूपं यथावसरं वक्ष्याम", और 'रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात्' के अनुसार वृत्तियों रीतियों आदि के विषय में राजशेखर ने आगे लिखने का संकेत किया है। या तो वह पूरा नहीं हो सका या यदि पूरा हुआ तो आज उपलब्ध नहीं है।

कर्पूरमञ्जरी में राजशेखर ने चार रीतियों का वर्णन किया है। तीन रीतियाँ जो वामन द्वारा निर्धारित थीं, इन्हीं के आधार पर राजशेखर ने मानुष या वैष्णव वचन का तीन प्रकार से विभाजन किया है। रीतिरूप वाक्य के भी तीन प्रकार होते हैं।[2] रुद्रट के वक्रोक्ति की शब्द अलंकार की मान्यता का खण्डन भी राजशेखर ने उसे पाठधर्म स्वीकार कर लिया है।

---

१. संघटना पदरचना रीतिः। —वामनः काव्यलंकारः।

२. वासुदेवस्य वचो वैष्णवम् (इति) तन्मानुषमिति व्यपदिशन्ति। तच्च त्रिधा रीतित्रयभेदेन। वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली चेति रीतयस्तिस्रः।

कवि-विभेद में राजशेखर ने मार्गकवि का भी उल्लेख किया है। मंगल नामक आचार्य का राजशेखर ने उल्लेख किया है तथा उनके सिद्धान्त को उद्धृत किया है। वे रीति-सम्प्रदाय के ही आचार्य थे।[1]

राजशेखर ने काव्य की परिभाषा 'गुणवदलंकृतञ्च वाक्यमेव काव्यं' में रीति सम्प्रदाय के आचार्य वामन की परिभाषा 'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार-संस्कृतयोः शब्दार्थयोः वर्तते' (का० अ० १-१-१.) का समर्थन किया हैं। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि राजशेखर की सहानभूति रीतिसम्प्रदाय की ओर थी।[2]

ध्वनि और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

यद्यपि राजशेखर के काव्यमीमांसा में ध्वनि-सम्प्रदाय का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी यत्र-तत्र उसके सिद्धान्तों का उद्धरण दिया गया है जिससे ज्ञात होता है कि ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना राजशेखर के समय तक हो चुकी थी लेकिन उसकी सैद्धान्तिक मान्यतायें आलोचकों को उस समय तक मान्य हो नहीं सकी थीं।

काव्यमीमांसा के प्रथय अध्याय शास्त्र-संग्रह में औक्तिक प्रकरण का उल्लेख किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि राजशेखर का मन्तव्य ध्वनि-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की विवेचना का था तथा जिसके आदि आचार्य उक्तिगर्भ थे। इस सन्दर्भ में राजशेखर ने ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य आनन्दवर्धन का उल्लेख काव्यमीमांसा में किया।[3] अर्थहरण–प्रकार के कवियों का विभाजन भी राजशेखर ने ध्वन्यालोक से ग्रहण किया है, यद्यपि उनमें व्यापकता अधिक है। कवि-प्रभेद में उन्होंने उक्ति-कवि का भी स्थान-निर्धारित किया है। काव्य में उक्ति का स्थान राजशेखर ने प्रमुख रूप से स्वीकार किया है।[4] इस प्रकार हम

आशु (सु) च साक्षान्निवसति सरस्वतो तेन लक्ष्यन्ते ॥
रीतिरूपं वाक्यत्रितयम्। काकुः पुनरनेकयति।......अभिप्रायवान्पाठधर्मः काकुः। स कथमलङ्कारी स्यात्? इति यायावरीयः। —का० मी०।

१. From these citations by Rajashekhar it appears that Mangala, if he is not earlier in date than Vamana, belongs most probably to the same school of opinion. (De, p. 123)

२. If any definite conclusion can be drawn from this statement, Rajashekhara, in general theory, appears to recognise tacitly the position of the Riti. (De, p. 371)

३. "प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी" इत्यानन्दः। का० मी०।

४. काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः। का० मी०।

देखते हैं कि राजशेखर ने काव्य में उक्ति-वैचित्र्य की महत्ता को स्वीकार किया है जो ध्वनि-सम्प्रदाय का ही सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त राजशेखर ने आनन्द-वर्धन के ध्वन्यालोक से भी विषय ग्रहण किया है तथा उसमें व्यापकता निविष्ट की है।[1] इन्होंने आनन्दवर्धन के काव्यात्मा रूप में ध्वनि को स्वीकार नहीं किया है, इसका कारण यही है कि उस समय तक आनन्दवर्धन के सिद्धान्त आलोचकों को मान्य नहीं हुये थे।

आचार्य रुद्रट के वक्रोक्ति सम्बन्धी शब्दालंकार की मान्यता का खण्डन राज-शेखर ने काकु-वक्रोक्ति को पाठधर्म स्वीकार कर किया है।[2]

यद्यपि राजशेखर ने रुद्रट के शब्दालंकाररूप काकुवक्रोक्ति का खण्डन किया है, फिर भी कुन्तक ने वक्रोक्ति के जो काव्य के जीवन की मान्यता प्रदान की और संस्कृत काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना की, विषय में अवन्ति-सुन्दरी के "विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम् इत्यवन्ति-सुन्दरी" का उद्धरण पाते हैं। इस प्रकार कुन्तक के वक्रोक्ति-सम्प्रदाय पर काव्य-मीमांसा का प्रभाव परिलक्षित होता है। सम्भवतः वक्रोक्ति को राजशेखर औक्तिक प्रकरण में ही निविष्ट करते जैसा कि भोजदेव ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में किया है (२.३६)।

राजशेखर का सम्प्रदाय

राजशेखर के समय तक काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति और ध्वनिसम्प्रदाय प्रचलित हो चुके थे। भरत के रससूत्र की विभिन्न व्याख्यायें हो चुकी थीं और रस का क्षेत्र नाटक तक ही सीमित नहीं था, अपि तु उसका विस्तार काव्य तक मान्य हो चुका था। अलंकारशास्त्र को भी उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने पर्याप्त प्रश्रय दिया था, अलंकार की सीमा भी पर्याप्त बढ़ चुकी थी। भामह का अनुकरण कर उद्भट, रुद्रट आदि आचार्यों ने इसका यथेष्ट पोषण किया था। रीति भी वैज्ञा-निक आधार पर काव्य में मान्यता ही नहीं प्राप्त कर सकी थी अपितु गुण के मूल आधार पर वामन ने उसे काव्यात्मा के उत्कृष्ट पद पर अभिषिक्त किया था। ध्वनि-सम्प्रदाय की अभी शैशवावस्था थी। आनन्दवर्धनाचार्य ध्वनि को ही काव्य की आत्मा घोषित कर चुके थे लेकिन अभी उनका मत साहित्य-आलोचनाक्षेत्र में विशेष समादृत नहीं हो सका था। इस प्रकार राजशेखर के काल तक काव्य-शास्त्र का विस्तार बहुत अधिक हो चुका था और आलोचना के

---

१. शब्दार्थहरण—अध्या० ११ से १३ तक का० मी०।

२. "काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयम्" इति रुद्रटः। अभिप्रायवान्पाठधर्मः काकुः। स कथमलंकारी स्यात्? इति यायावरीयः। —का० मी०।

विभिन्न सम्प्रदाय प्रचलित थे तथा विभिन्न आचार्यों ने उन्हें यथेष्ट प्रश्रय प्रदान किया था।

काव्यशास्त्र के विशाल आधार पर आचार्यों के सिद्धान्तों की संक्षिप्त, पर सुस्पष्ट विवेचना करते हुये काव्य-व्युत्पत्ति के निमित्त कवियों के लिये राजशेखर ने काव्यमीमांसा की रचना की थी[1] जिसमें विभिन्न आचार्यों का मत उद्धृत कर विवादात्मक गुत्थियों को सुलझाया है और यथास्थान अपने सिद्धान्त का निरूपण "यायावरीय" के नाम से किया है। मेधाविरुद्र, उद्भट और औद्भटाः, वामन और वामनीयाः, रुद्रट, मंगल और आनन्द इन आचार्यों के अतिरिक्त राजशेखर ने "आचार्याः" नाम से भी कई स्थानों पर प्राचीन मतों का उल्लेख किया है।

आपराजिति, सुरानन्द, पाल्यकीर्ति, श्यामदेव वाक्पतिराज और अपनी पत्नी अवन्तिसुन्दरी का उल्लेख उन्होंने अनेक बार किया है। हम देखते हैं कि काव्य-मीमांसा एक आकर ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न आचार्यों को उद्धृत किया गया है। विवादात्मक विषयों पर राजशेखर इनका उल्लेख कर एक सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। काव्यशास्त्र के इस व्यापक कोष का उपयोग कर राजशेखर ने अलंकारशास्त्र की एक निश्चित प्रणाली एवं मार्ग का निर्माण किया है। साहित्यिक आलोचना और काव्यशास्त्र की वैज्ञानिकता जो हमें काव्यमीमांसा में मिलती है, वह राजशेखर की एक बहुत बड़ी देन है।

विषय के निरूपण में उन्होंने एकमात्र कौटिल्य और वात्स्यायन के अर्थशास्त्र और कामशास्त्र की शैली का ही अनुसरण नहीं किया है, प्रत्युत धर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा के लेखकों का भी अनुसरण किया है। विषय-विवेचन में उन्होंने रुद्रट का अनुसरण किया है। लेकिन रुद्रट की अपेक्षा इनका विभाजन अधिक व्यापक और पूर्ण है, क्योंकि रुद्रट को वैनोदिक, औपनिषदिक आदि का ज्ञान नहीं था। औपनिषदिक अध्याय में अर्थशास्त्र और कामशास्त्र से लेकर अलंकार-शास्त्र को पूर्ण करने का श्रेय राजशेखर को है।

राजशेखर ने शैली का ग्रहण कौटिल्य, वात्स्यायन, धर्ममीमांसाकार तथा ब्रह्ममीमांसाकार से किया है। विषय-प्रतिपादन रुद्रट से तथा विषय का चयन नीचे उल्लिखित आधारों पर किया है। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि राजशेखर ने अन्धानुकरण किया है, बल्कि उन तथ्यों में यथास्थान परिवर्धन एवं संशोधन कर अधिक वैज्ञानिक, पूर्ण एवं व्यापक रूप प्रदान किया है। राज-शेखर का यह विवेचन उनके पाण्डित्य का परिचायक है।

---

१. यायावरीयः सङ्क्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्।
व्याकरोत्काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः॥ का० मी० अ० १।

सारस्वतेय काव्यपुरुष का कथानक वायुपुराण और बाण के हर्षचरित से, विषय-प्रतिपादन और अधिकरण-विवेचन रुद्रट के काव्यालंकार से, औपनिषदिक अधिकरण कामशास्त्र से, अध्यायों का विभाजन और शास्त्र-निर्देश-अध्याय अर्थशास्त्र और कामशास्त्र से, विद्या-विवेचन अर्थशास्त्र से, रस को काव्यात्मा की स्वीकृति भरतनाटयशास्त्र से, शिष्यों का वर्गीकरण वामन के काव्यालंकरसूत्र और अर्थशास्त्र से, शक्ति को काव्य-कारण की मान्यता और व्युत्पत्ति रुद्रट के काव्यालंकार से, वचन के पांच प्रकार वायुपुराण और विष्णुधर्मोत्तर से, तीन रीतियाँ तथा काव्यस्रोत वामन के काव्यालंकार से, अर्थ-विभाजन के दो प्रकार उद्भट और भामह से, कवि का कर्तव्य और कवि की नैष्ठिक वृत्ति कामशास्त्र से, पदार्थहरण के अनुसार कवि-विभाजन गौडवहो, ध्वन्यालोक और वामन के काव्यालंकार से, जम्बूद्वीप और भारतवर्ष का वर्णन पुराणों से लिया गया है।

राजशेखर ने इस प्रकार विस्तृत अध्ययन के द्वारा काव्यमीमांसा की रचना की। सम्पूर्ण अलंकारशास्त्र का आलोडन कर कवियों के व्युत्पत्ति के निमित्त काव्यमीमांसा की रचना की गई जिसमें पूर्णता, वैज्ञानिकता और व्यापकता उल्लेखनीय है।

राजशेखर के विषय-ग्रहण का स्रोत यथेष्ट व्यापक था और उन्होंने काव्यमीमांसा में बहुत से आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है जिसमें उस समय तक प्रचलित सभी सिद्धान्तों का समावेश पाया जाता है—रस, अलंकार, रीति और ध्वनि-सम्प्रदाय समानरूप से उनके उपजीव्य रहे हैं। यथास्थान इनका उपयोग और विपरीत पड़ने पर आवश्यकतानुसार परित्याग दोनों काव्यमीमांसा में पाया जाता है। इसलिये राजशेखर का सम्प्रदाय क्या था, यह निर्णय करना कठिन है। इतना निश्चित है कि ध्वनिसम्दाय की मान्यता नहीं प्रदान की गई है, यद्यपि आनन्द (आनन्दवर्धनाचार्य) के मत को उद्धृत किया गया है, शब्दार्थहरण के अनुसार कविविभाजन स्वीकार किया गया है। ध्वनि को काव्यात्मा स्वीकार करने के स्थान पर राजशेखर ने केवल रस को ही काव्यात्मा स्वीकार किया है।

राजशेखर और रीतिसंप्रदाय

"गुणवदलंकृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्"

वामन के द्वारा उल्लिखित तीन रीति-प्रकार की स्वीकृति के आधार पर डा० एस० के० डे ने राजशेखर के सम्प्रदाय के लिये रीति-सिद्धान्त की सम्भावना प्रकट की है[1]। काव्ययोनि तथा शब्दार्थहरण, शिष्यों के दो भेद आदि स्थलों का

---

१. If any definite conclusion can be drawn from this statement, Rajashekhara in general theory, appears to recognise

उपजीव्य वामन का काव्यालंकारसूत्र ही रहा है। काव्यमीमांसा के विभिन्न स्थलों पर वामनीयाः के द्वारा उनका ससम्मान उद्धरण भी दिया है लेकिन इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है—कि राजशेखर सर्वत्र वामन से सहमत हैं। उन्होंने वामन की आलोचना कर उनसे असहमति भी प्रकट की है। काव्यपाक के प्रसंग में राजशेखर ने वामन की मान्यता को अशक्ति कथन कर धज्जी उड़ा दी है तथा अवन्तिसुन्दरी के मत का समर्थन किया है जिसमें रसोचित शब्दार्थ सूक्तियों के निबन्धन को पाक स्वीकार किया गया है[1]। रीति-निरूपण में भी राजशेखर ने वामन के मूलरूप गुण को ही एकमात्र आधार नहीं स्वीकार किया है प्रत्युत उन्होंने रुद्रट से समास को भी ग्रहण कर तथा अनुप्रास को भी स्वीकार कर नवीनता का उन्मेष किया है।[2] योगवृत्ति, उपचारगर्भ, योगवृत्ति परम्परा का उपन्यास भी रीति-निरूपण में राजशेखर की नवीन उद्भावना है। हां, उन्होंने वामन की वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली रीतियों को अवश्य स्वीकार किया है। रुद्रट की लाटीया रीति का परित्याग राजशेखर ने काव्यमीमांसा में अवश्य किया है, परन्तु कर्पूरमंजरी नामक सट्टक में उन्होंने चार प्रकार की रीतियाँ स्वीकार की हैं। राजशेखर ने रीति-प्रकार तो अवश्य वामन से लिया है, लेकिन उनके मूलरूप गुण को ही एकमात्र आधार नहीं स्वीकार किया, अपितु रुद्रट के समास को भी ग्रहण किया है।

"गुणवदलंकृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्" में राजशेखर ने अलंकार की अनिवार्यता स्वीकार की है, लेकिन वामन की परिभाषा में गुण नित्यधर्म है और अलंकार अनित्य—इस कथन के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि राजशेखर की परिभाषा का आधार वामन की परिभाषा ही है। राजशेखर के काव्य की परिभाषा तो अलंकारवादी उद्भट के अधिक सन्निकट प्रतीत होती है, क्योंकि उद्भट का स्पष्ट कथन है कि "गुणालंकारचारुत्वयुक्त-मप्यधिकोज्ज्वलम्"।

---

tacitly the position of the Riti School, for in this sentence here produces Vamana's well-known dictum. (Sans-Poetics, Vol II, S. K. De, p. 369)

१. "इयमशक्तिर्न पुनः पाकः" इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन् वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान्भवति। तस्माद्रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धन(नं) पाकः।

यदाह—गुणालंकाररीत्युक्तिशब्दार्थप्रथनक्रमः ।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥ का० मी०।

२. समासवदनुप्रासवद्योगवृत्तिपरम्परागर्भं जगाद सा गौडीया रीतिः। ईषदसमासमीषदनुप्रासमुपचारगर्भञ्च जगाद सा पाञ्चाली रीतिः। स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भं च जगाद सा वैदर्भी रीतिः। —का० मी०

राजशेखर ने यथास्थान वामन से ग्रहण अवश्य किया है लेकिन वामन के रीति-सम्प्रदाय का अन्धानुकरण नहीं किया है, अपितु उनकी आवश्यकतानुसार आलोचना की है। रुद्रट आदि से भी ग्रहण किया है तथा नवीनता का भी समावेश किया है।

राजशेखर और अलंकार-संप्रदाय

काव्यमीमांसा की भूमिका में श्री सी० टी० दलाल ने यह सम्भावना प्रकट की है कि राजशेखर और रुद्रट का उपजीव्य एक ही रहा हो जो इस समय अनुपलब्ध है।[1]

यह ठीक है कि राजशेखर में विषय-प्रतिपादन को रुद्रट से ग्रहण नहीं किया है परन्तु रस को काव्यात्मा की स्वीकृति, अलंकारों का वर्गीकरण तथा काव्य में शक्ति की मान्यता भी रुद्रट से ही ग्रहण की है। रुद्रट का प्रभाव उन पर विशेष लक्षित होता है। राजशेखर का अनुप्रास, यमक, चित्र और शब्द-श्लेष जो शब्दालंकार हैं तथा वास्तव, औपम्य, अतिशय, अर्थश्लेष स्पष्टतः रुद्रट का अनुकरण हैं।[2] यहाँ भी राजशेखर ने नवीनता प्रकट की है। रुद्रट के वक्रोक्तिरूप शब्दालंकार को पाठ धर्म का कथन कर खण्डन किया है, उभया-लंकारिक रुद्रट में भी अर्थश्लेष के पश्चात् आया है और राजशेखर ने उन्हीं का अनुकरण किया है।

उद्भट नामक दूसरे अलंकारशास्त्री को भी राजशेखर ने उद्धृत किया है और उनके विचारित सुस्थ और अविचारित रमणीय नामक अर्थ के दो प्रकार का कथन किया गया है। प्रतिहारेन्दुराज के आधार पर उद्भट ही वे आलंकारिक थे जिन्होंने रस को काव्यात्मा स्वीकार किया। रुद्रट और उद्भट का रस-प्रतिपादन उन्हें रस-सम्प्रदाय के सन्निकट कर देता है जिससे विद्वानों को भ्रम हो जाता है।

---

१. It is also possible that Rajashekhara and Rudrata followed a common source for their materials which unfortunately does not exist now. In any case, it can sefely be asserted that Rajashekhara in the first 11 sections of the Kavyamimamsa colsely follows the arrangement of topics as found in the first 10 chapters of Rudrata's Kavyalankara. (C. D. Dalal का. मी. नोट. १२४.)

२. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथाऽपरं चित्रम्।
शब्दस्यालंकारः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्योऽस्तु॥ (२. १३)
अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषाः अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥ काव्या. ७. ९।

प्रो० जैकोबी ने जंकब के अपभ्रंश पाठ के आधार पर उद्भट को ही रस को काव्यात्मा मानने वाला आचार्य सिद्ध किया था जिसका नोवेल आदि अन्य विद्वानों ने भी उल्लेख किया था लेकिन यह धारणा निर्मूल थी। इस भ्रम का प्रधान कारण इन दोनों आचार्यों द्वारा रस का पर्याप्त विवेचन करना ही है। वास्तव में ये दोनों आचार्य अलंकारवादी हैं जिनका प्रभूत ऋण राजशेखर पर है। रीति-सम्प्रदाय की अपेक्षा रुद्रट का अनुसरण राजशेखर ने अधिक किया है, लेकिन रुद्रट की अपेक्षा पूर्णता और व्यापकता उनमें अधिक है। राजशेखर ने अलंकार को सातवां अंग कहा है।

राजशेखर और रस-संप्रदाय :—

राजशेखर ने काव्यात्मा रस को ही स्वीकार किया है। आपराजिति (लोल्लट) के मत को रसाधान के विषय में उद्धृत किया है "किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य" इत्यापराजितिः। लोल्लट के अनुसार सरस का भी वर्णन अत्यधिक नहीं होना चाहिये और प्रकृत रस के उपयुक्त होना चाहिये। राजशेखर नाटयशास्त्र की इस मान्यता का आधान काव्य में भी करते हैं कि कवि-वचन के द्वारा नदी, पर्वत आदि के वर्णन में भी रसनिवेश किया जा सकता है। कवि-प्रभेद में उन्होंने रसकवि का भी कथन किया है। राजशेखर के अनुसार रस काव्य का आत्मा है। उन्होंने रस पर यथेष्ट बल दिया है।

डा० एस० के० डे ने राजशेखर का कोई निश्चित सम्प्रदाय निर्धारित नहीं किया है प्रत्युत रीति और रस-सम्प्रदास के समीप लाकर रख दिया है।[1] ऊपर हम देख चुके हैं कि राजशेखर ने रीति-सम्प्रदायवादी वामन की तीव्र आलोचना की, वामन के रीति के एकमात्र आधार गुण को भी नहीं स्वीकार किया है अपितु रुद्रट के समास को भी ग्रहण किया है तथा अनुप्रास की नवीन उद्भावना की है। अतएव राजशेखर का सम्भाव्य सम्प्रदाय रीति नहीं है।

विषय-प्रतिपादन, अलंकर-निरूपण तथा काव्य-हेतु में शक्ति की मान्यता स्पष्टतः उन्होंने रुद्रट से ग्रहण की है। अलंकार को सप्तम अंग की मान्यता भी उन्हें अलंकारवादी रुद्रट के मत के समीप रखती है। रुद्रट और उद्भट का

---

१. It is true that his school lays special stress also on Rasa and like most writers coming after आनन्दवर्धन, Rajashekhara does not fail to bring Rasa into prominence. This makes it difficult to take his work as framed definitely' for any particular system. But it is clear that his sympathies ally him with the older Riti and Rasa school, rather than the new school of आनन्दवर्धन. (S. K. De. Sanskrit Poetics. vol. II.)

रस-निरूपण इतना सापेक्षिक है[१] कि यह धारणा हो चली थी उद्भट ही रस को काव्यात्मा का कथन करने वाले आदि आचार्य हैं। रुद्रट और उद्भट का राजशेखर ने प्रभूत अंश में अनुकरण किया है लेकिन रस को काव्यात्मा की स्वीकृति उन्हें रस-सम्प्रदाय से ही सम्बद्ध करती है जिसका आधार भरत के रससूत्र की व्याख्या करने वाले उत्तरवर्ती आचार्य भट्ट नायक (आनन्द के समकालीन), भट्ट लोल्लट, शंकुक का रस निरूपण है जो राजशेखर के समकालीन हैं।

राजशेखर की आलोचना-पद्धति

कविराज राजशेखर की कविप्रशस्ति जो उनके उपलब्ध ग्रन्थों बालरामायण, कर्पूरमञ्जरी तथा अन्यान्य सूक्ति-ग्रंथों में प्रचुरमात्रा में पाई जाती है, उद्धृत कवि तथा उनके काव्य के निर्धारण में अत्यन्त उपयोगी एवं सहायक है। इन प्रशस्तियों में मुख्यतया दो प्रकार के दृष्टिकोण दिखलाई पड़ते हैं। प्रथमतः इन प्रशस्तियों से अप्रसिद्ध कवियों का ऐतिहासिक इतिवृत्त तथा उनके ग्रन्थ का विवरण और द्वितीयतः प्रसिद्ध कवियों की साहित्यिक विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त होता है। उनकी इस प्रशस्ति की एकमात्र उपयोगिता यही नहीं है कि कवियों के विषय में अनुपलब्ध ज्ञेय की जानकारी प्राप्त होती है; कवियों की साहित्यिक विशेषताओं से परिचय प्राप्त होता है, प्रत्युत इसका महत्त्व इस दृष्टिकोण से और भी अधिक हो जाता है कि यह स्वयं राजशेखर की आलोचनाशक्ति का द्योतन करता है, उनके आलोचकरूप का स्पष्टीकरण करता है तथा स्वयं उनकी शास्त्रीय अभिरुचि की अभिव्यक्ति करता है। इतना ही नहीं, अपि तु प्रशंसित कवियों का कालनिर्धारण राजशेखर के काल निर्धारण की भी एक बाह्य सीमा निबद्ध करता है। अभिप्राय यह है कि यह प्रशस्ति—उल्लेख कवियों के विषय में ही उपयोगी नहीं है, प्रत्युत राजशेखर के कालनिर्धारण व्यापक दृष्टिकोण, शास्त्रीय सम्प्रदाय, आलोचना-शक्ति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन कर एक निश्चित मत स्थापित करने में सहायक है।

कविराज राजशेखर ने बालरामायण नामक अपने नाटक में वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ, भवभूति, शंकरवर्मा, अकालजलद, तरल, सुरानन्द, कविराज आदि कवियों का उल्लेख किया है। कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक में मृगांकलेखा कथाकार आपराजिति, हाल, हरिश्चन्द्र, नन्दिचन्द्र आदि कवियों का उल्लेख किया है। इनमें शंकरवर्मा, आपराजिति तो राजशेखर के समकालीन कवि हैं। अकालजलद,

---

१. Although influenced considerably by the Rasa doctrine, रुद्रट belongs properly to the Alankara school. (Sans. Poetics, Vol. II. De, p. 75)

तरल, सुरानन्द कविराज राजशेखर के पूर्वज हैं। वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ, भवभूति, हरिश्चन्द्र तो प्रसिद्ध ही हैं, नन्दिचन्द्र, आदि अप्रसिद्ध कवि हैं।

सूक्तिमुक्तावली, सुभाषितहारावलो, शार्ङ्गधरपद्धति आदि सूक्ति-ग्रंथों में राजशेखर द्वारा विरचित प्राचीन कवियों के विषय में प्रशंसापरक श्लोक मिलते हैं जो उनके उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं पाये जाते। इन कविप्रशस्तियों का महत्त्व प्रशंसित कवियों के विषय में जानकारी के लिये ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत राजशेखर की आलोचना-पद्धति का द्योतन भी इनके आधार पर होता है।

अकालजलद (सू० मु०, कवि का० प्र० ४, श्लो० ८३), अवन्तिवर्मा (सू० मु० ४, ६४) कादम्बरीराम (सू० मु० ४, ८४), कुलशेखर वर्मा (सू० मु० ४, ८६), गणपति (सू० मु० ४, ७२) गुणाढ्य (सू० मु० ४-५२) तरल (सू० मु० ४-८९), दण्डी (सू० मु० ३-७४, शा० व० पृ० ७२-३) धनञ्जय (सू० मु० ४-८७), पाणिनि (सू० मु० ४-४५), मीमट (सू० मु० ४-८१), मातङ्गदिवाकर (सू० मु० ४-७०), मायुराज (सू० मु० ४ ८२), रत्नाकर (सू० मु० ४-७७), रामिलसोमिल (सू० मु० ४-४९), वररुचि (सू० मु० ४-४६) शातवाहन नरेश (सू० मु० ४-५३), सुरानन्द, स्कन्ध, सुबन्धु, श्रीसाहसांक (शा० प०, १७ पृ० २८)।

उपर्युक्त कवियों का उल्लेख जो राजशेखर ने किया है उनसे उनकी ऐतिहासिकता एवं उनके काव्य का ज्ञान होता है। अकालजलद कवि थे, जिनकी रचनाओं का कवियों में समादर होता था। कादम्बरीराम, जो नाटककार थे, अकालजलद के ग्रंथों से सामग्री लेकर ही रचना करते थे। कुलशेखर वर्मा द्वारा लिखित मुकुन्दमाला तो प्रसिद्ध ही है, आश्चर्यमञ्जरी भी कोई ग्रन्थ था जिसके उल्लेख की पुष्टि अन्य आधार से भी होती है[1]। कुलशेखर ही राजशेखर थे जो केरल के अधिपति थे, इस कथन का निराकरण भी राजशेखर की इस प्रशंसा से हो जाता है, क्योंकि राजशेखर ने ही कुलशेखर का वर्णन यहाँ किया है। गणपति कवि गान्धर्व–विद्या में निपुण थे और उन्होंने महामोद नामक ग्रन्थ की रचना की। गुणाढ्य-रचित बृहत्कथा छह लाख श्लोकों में थी जो जलने के पश्चात् एक लाख मात्र अवशिष्ट है[2]। तरल, सुरानन्द, राजशेखर के पूर्व-पुरुष थे, इसका कथन बालरामायण में किया गया है। दण्डी द्वारा रचित तीन प्रबन्धों का ज्ञान होता है[3]। धनञ्जय द्विसंधानकाव्य, (जिसका दूसरा नाम राघव-

---

१. पाणिनिप्रत्याहारो वा महाप्राणसमाश्लिष्टो झपालिङ्गितश्च समुद्रः, इत्याश्चर्यमञ्जरी अमरकोषटीकायां वारिवर्गे झपपदव्याख्याने मुकुटः।

२. इसकी पुष्टि कथासरित्सागर के अष्टम तरंग से होती है।

३. काव्यादर्श, दशकुमारचरित तथा इतर ग्रन्थ भी दण्डी के थे।

पाण्डवीयम् है) के रचयिता जैन थे[१]।

वैयाकरण पाणिनि कवि भी थे जिन्होंने जाम्बवतीजय की रचना की थी जिसका दूसरा नाम पातालविजय भी था। इसकी पुष्टि अन्य आधारों पर भी होती है।[२] भीमट कालिंजर नरेश ने पाँच नाटकों की रचना की थी जिनमें 'स्वप्नदशानन'' प्रबन्ध था। हर्ष की सभा में प्रसिद्ध कवि दिवाकर ही मातङ्ग-दिवाकर हैं। मायुराज कलचुरि देश के कवि हैं, जिन्होंने रामायण के अनुकूल किसी नाटक की रचना की थी। रामिलसोमिल शूद्रककथाकार हैं। वररुचि ही प्रसिद्ध कात्यायन हैं। राजशेखर के वर्णन से ज्ञात होता है कि ये कवि भी थे। इनके नाम से बहुत से श्लोक सूक्ति-ग्रन्थों में मिलते हैं। सातवाहननरेश, स्कन्ध, श्रीसाहसांक और सुबन्धु का केवल नामोल्लेख हुआ है।

इस प्रकार राजशेखर के इस उद्धरण में एक ओर तो हमें उनके कौटुम्बिक अकालजलद आदि कवियों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है, तो दूसरी ओर उन कवियों के तथा उनके काव्य के विषय में जानकारी होती है जो या तो अप्रसिद्ध हैं जैसे भीमट आदि या जिनके कवि होने का ज्ञान हमें नहीं था, उनका दूसरा रूप ही हमारे सामने था, यथा पाणिनि, वररुचि आदि। राजशेखर का यह वर्णन हमारे सामने विगत कवियों की ऐतिहासिकता और काव्य की एक सुस्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करता है और इस प्रकार कवि और काव्य का यथार्थ निर्देश राजशेखर के इस उद्धरण से हमें प्राप्त होता है।

राजशेखर की कवि-प्रशस्ति का दूसरा रूप हमें प्रसिद्ध कवियों के उद्धरण में प्राप्त होता है जो सूक्तिमुक्तावली में है। उन कवियों की साहित्यिक विशेषता और मान्य सिद्धान्तों का ही चयन राजशेखर ने किया।

आनन्दवर्धन (सू० मु० ४-७८), कर्णाटी विजयांका (सू० मु० ४-९३), कालिदास (सू० मु० ४-६०), कुमारदास (सू० मु० ४-७६), गोनन्दन (सू० मु० ४-८५), त्रिलोचन (सू० मु० ४-७१) लाटी कवि प्रभुदेवी (सू० मु० ४-९४), प्रद्युम्न (सू० मु० ४-७३) बाण (सू० मु० ४-६५, ४-६७), भास (सू० मु० ४-४८), भारवि (सू० मु० ४-५८), माघ

---

१. प्रसिद्ध कविराजकृत एवं मुद्रित राघवपाण्डवीय काव्य दूसरा है।

२. स पार्षदैरम्बरमापुपूरे, इति जाम्बवत्यां पाणिनिः" इत्यादि–जाम्बवती जय से मुकुट नामक अमरकोष—टीका में उद्धृत किया गया है। तथा हि पाणिनेः पाताल-विजये महाकाव्ये "संध्यावधूं गृह्यकरेण" इत्यादि नमिसाधु ने काव्यालंकार टीका में उद्धृत किया है। महाभारत में जाम्बवती-विजय की कथा वर्णित है। डॉ० भण्डारकर शैली के आधार पर सिद्ध करते हैं कि ये वैयाकरण नहीं हो सकते। (J. B. B. R. A. S. Vol. XVI p. 344)।

(सू० मु० ४-५८, ५६), मयूर (सू० मु० ४-६८), विकटनितम्बा (सू० मु० ४-६२), शाङ्करी (सू० मु० ४-६०), शीला भट्टारिका (सू० मु० ४-६१), सुभद्रा (सू० मु० ४-६५)।

उपर्युक्त कवि प्रसिद्ध हैं। अतएव राजशेखर के वर्णन द्वारा उनकी साहित्यिक प्रतिभा का द्योतन होता है। आनन्दवर्धन प्रसिद्ध ध्वन्यालोक के रचयिता हैं, जिन्होंने ध्वनि से अत्यन्त गम्भीर काव्यतत्त्व का निवेश किया है। विजयांका कर्णाट देश की कवियित्री हैं, जिनका स्थान वैदर्भी रीति की रचना में कालिदास के पश्चात् अन्यतम है। कालिदास के शृंगार-रस और इनके ललित वाणी का उल्लेख किया गया है। कुमारदास ने जानकीहरण नामक काव्य की रचना की थी। कालिदास के रघुवंश नामक महाकाव्य के रहते हुये ही कुमारदास के जानकीहरण की रचना उनकी अद्भुत प्रतिभा का द्योतक है। गोनन्दन अनुप्रास की रचना में अपनी समता नहीं रखते थे। त्रिलोचन के अतिरिक्त पार्थविजय की क्षमता अन्य में नहीं हो सकती और अर्थ-सन्निवेश की प्रशंसा की गई है। प्रभुदेवी लाटदेश की कवियित्री हैं; जिन्होंने सूक्तियों, कामकेलि तथा कलाओं का काव्य में सन्निवेश कर अपने को अमर बना दिया है। बाण की स्वच्छन्द वाणी की कुलटा स्त्री से तुलना की गई है तथा उनकी पदरचना की प्रशंसा की गई है। भास के स्वप्नवासवदत्ता नाम नाटक की पवित्रता की प्रशंसा की गई है। भारवि की रचना सम्पूर्ण कवियों को प्रबुद्ध करने वाली है जबकि माघ की रचना से कविगण माघमास की भाँति प्रकम्पित हो जाते हैं। माघ की रचना को पढ़कर कवियों का उत्साह भङ्ग हो जाता है। उनकी पदरचना शिथिल हो जाती है। उस समय कविगण बन्दरों की भाँति माघ मास से हत सूर्य की भाँति भारवि का स्मरण करते हैं। बाण के समान मयूर भी हर्ष की राजसभा के कवि थे, जिनकी रचना को पढ़कर कवियों का अभिमान समाप्त हो जाता था। विकटनितम्बा कवि के विषय में तो अधिक विवरण प्राप्त नहीं है किन्तु राजशेखर ने इनकी रञ्जित वाणी की प्रशंसा की है। शंकर राजशेखर के समकालीन कवि शंकरवर्मा ही हैं, जिनकी स्वाभाविक मधुर वाणी की प्रशंसा की गई है। शीला भट्टारिका पांचाली रीति की रचना करने वाली कवियित्री हैं। सुभद्रा के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है; लेकिन इनकी रचना विवेक-पूर्ण होती थी।

इस प्रकार राजशेखर ने प्रसिद्ध कवियों की प्रशस्ति में उनकी विशेषताओं तथा उनके मान्य सिद्धान्तों को ग्रहण किया है। आनन्दवर्धन ध्वनि का काव्य में प्रमुख स्थान स्थापित करने वाले आचार्य हैं। कालिदास, कुमारदास की रस-निपुणता को उन्होंने ग्रहण किया है। प्रभुदेवी की सूक्तियाँ, कामकेलि और कलाओं की विलासभूमि भी रस-सम्प्रदाय से ही अनुगत है। शंकरवर्मा की

स्वाभाविक मधुर वाणी में रसप्रसूति का ही उन्मेष दृष्टिगोचर होता है। उपर्युक्त कवियों की रस-निपुणता को राजशेखर ने ग्रहण किया है।

विजयांका, वैदर्भी रीति में निपुण कवियित्री हैं, विकटनितम्बा की रञ्जित तथा मधुरवाणी तथा शीला भट्टारिका के पांचाली रीति की प्रशंसा की गई है। इस प्रकार रीति-सम्प्रदाय का भी आश्रयण इस कवि-प्रशस्ति में उपलब्ध होता है।

गोनन्दन के अनुप्रास, बाण की स्वच्छन्द पदरचना, भारवि के अर्थ गाम्भीर्य, माघ की उत्साह समाप्त करने वाली पदरचना, सुभद्रा के वचन—चातुर्य तथा त्रिलोचन के अर्थ-सन्निवेश को राजशेखर ने उद्घृत किया है। यह उद्धरण अलंकार-सम्प्रदाय के अधिक समीप ज्ञात होता है जिसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का समान पुट है।

राजशेखर का आग्रह इस प्रशस्ति में किसी सम्प्रदाय विशेष से अनुगत नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत इन्होंने इस प्रशस्ति में उन कवियों के मान्य सिद्धान्तों और साहित्यिक विशेषताओं को ही ग्रहण किया है। इस सन्दर्भ में इतना अवश्य उल्लेख्य है कि उन्होंने भावकों की जो चार कोटियाँ अरोचकिन:; सतृणाभ्यव-हारिण:, मत्सरिण:, तत्त्वाभिनिवेशिन: निर्धारित की हैं[1] उसके अनुसार राजशेखर की यह कवि-प्रशस्ति तत्त्वाभिनिवेशिन: कोटि के अन्तर्गत आती है, जिसमें उन्होंने बिना किसी द्वेष के उन कवियों की साहित्यिक विशेषताओं को उद्धृत किया है जिनमें कवियों के मान्य सिद्धान्तों एवं परम्पराओं का यथातथ्य उल्लेख किया गया है।

राजशेखर की इस प्रशस्ति में अपने पूर्वपुरुषों अकालजलद, तरल और सुरानन्द के उल्लेख के साथ-साथ उनके काव्य-वैशिष्ट्य का विवरण उपलब्ध होता है।

कादम्बरीराम नाटककार, कुलशेखरवर्मा के आश्चर्यमञ्जरी नामक ग्रंथ तथा कुलशेखर ही राजशेखर थे जो केरल के अधिपति थे, इस कथन का निराकरण, गणपति के महामोह नामक ग्रंथ, धनञ्जय के द्विसंधान, वैयाकरण पाणिनि के कविरूप का परिचय और उनका "जाम्बवतीजय" या "पातालविजय" का विवरण, नाटककार भीमट का "स्वप्नदशानन" नामक प्रबन्ध, वररुचि का कविरूप, विजयांका का कवियित्री होने का प्रमाण, गोनन्दन का अनुप्रास-वैशिष्ट्य, त्रिलोचन के पार्थविजय का ज्ञान, प्रभुदेवी का परिचय, विकटनितम्बा का कवियित्री-रूप, शीला भट्टारिका का कवियित्री-रूप और पाञ्चाली रीति से प्रेम,

---

१. विवेकानुसारेण हि बुद्धयो मधु निष्यन्दन्ते। परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्। विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते।""तत्त्वाभिनिवेशी तु मध्येसहस्रं यद्येकः। का० मी० पृ० १४।

२ हि० का० मी० भू०

सुभद्रा का कवियित्री-रूप आदि राजशेखर के उपर्युक्त उद्धरण ऐसे हैं जो संस्कृत वाङ्मय के इतिहास निर्धारण में अधिक सहायक हैं। कवि तथा उनके काव्य का ऐतिहासिक वर्णन हमें राजशेखर के इस उद्धरण में ही प्राप्त होता है। इसलिये राजशेखर की इस प्रशस्ति का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है।

राजशेखर ने इस प्रशस्ति में जिन कवियों का उल्लेख किया है, उनमें बहुत से कवि ऐसे हैं जिनका अभी तक काल-निर्धारण नहीं है, लेकिन जिन कवियों का कालनिर्धारण हो चुका है, उनमें आनन्दवर्धन (८५४–८३ ई०), अवन्तिवर्मा (८५५–८८४ ई०) के नाम भी हैं। अन्य कवि इन दोनों के पहले के ही हैं। अतएव राजशेखर के काल-निर्धारण की एक बाह्य सीमा भी इस प्रशस्ति से उपलब्ध होती है कि राजशेखर ८५४ ई० से पहले के नहीं हो सकते।

समष्टिरूप से राजशेखर की इस प्रशस्ति[1] का महत्त्व अप्रसिद्धकवियों के कवित्वरूप और उसके काव्य का परिज्ञान करा कर ऐतिहासिक साधन प्रस्तुत कराने में है तथा राजशेखर के काल-निर्धारण की बाह्य सीमा प्रस्तुत करना है। प्रसिद्ध कवियों की साहित्यिक विशेषताओं और उनके मान्य सिद्धान्तों का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करता है, जिनमें हमें राजशेखर तत्त्वाभिनिवेशी आलोचकरूप का दर्शन होता है, कवियों का उल्लेख करने में उन्होंने रसवादी, रीति–अलंकारवादी कवियों और ध्वनिवादी आनन्दवर्धन का समानरूप से यथार्थ तत्त्वों का वर्णन किया है जो उस समय तक प्रचलित सभी वादों की परम्परा के ज्ञान का तथा उनके उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण का सूचक है।

काव्यमीमांसा का यह अनुवाद अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। अनुवाद की भाषा बड़ी ही सरल-सुबोध है तथा मूल के गूढ़ भावों का तात्पर्य बड़ी ही सरलता से अभिव्यक्त किया है। ऐतिहासिक तथा भौगोलिक विवरण परिशिष्ट में दिये गये हैं। इस विषय के आजतक उपलब्ध तथ्यों का संकलन अनुवादक की जागरूकता का परिचय दे रहा है। ऐसे शोभन तथा प्रामाणिक अनुवाद के लिए हम अपने सुयोग्य शिष्य डा० गंगा सागर राय, एम० ए०, पी–एच० डी० को आशीर्वाद देते हैं और आशा रखते हैं कि अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों का भी ऐसा प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत कर वे यशोभागी होंगे।

—बलदेव उपाध्याय

---

१. प्रशस्तिवाले इन कवियों के संक्षिप्त ऐतिहासिक वृत्त के निमित्त देखिए बलदेव उपाध्याय रचित 'संस्कृत सुकवि-समीक्षा' (प्र० चौखम्बा विद्याभवन, काशी १९६३) पृष्ठ २८९ से लेकर ६४५ पृष्ठ तक।

भूमिका

१. प्रवेश

साहित्यशास्त्र वा काव्यशास्त्र का उद्भव कब और किससे हुआ यह एक नितान्त गूढ़ प्रश्न है। वस्तुतः भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा एक सुदूर पूर्ववर्ती काल से अनवच्छिन्नरूप से परिवर्धित तथा परिमार्जित होती हुई अद्यतन काल तक चली आयी है। भारतीय परम्परा के अनुसार साहित्यशास्त्र का उद्भव नितान्त रोचक तथा कुतूहलजनक है। काव्य-मीमांसा के लेखक राजशेखर ने एक अत्यन्त चमत्कारजनक (और डा० एस० के० डे के अनुसार काल्पनिक) आख्यान दिया है। उनके अनुसार भगवान् श्रीकण्ठ (शङ्कर) ने काव्य-विद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी (ब्रह्मा), वैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्यों को किया। भगवान् स्वयम्भू (ब्रह्मा) ने अपने अयोनिज शिष्यों को इसका उपदेश दिया। इन्हीं शिष्यों में एक सरस्वती-पुत्र काव्यपुरुष भी था जो सभी का वन्द्य था। प्रजापति ब्रह्मा ने भूः, भुवः तथा स्वः तीनों लोकों में रहनेवाली प्रजाओं की हित-दृष्टि से उनको काव्य-विद्या के प्रवर्तन के लिये नियुक्त किया। उन्होंने अठारह अधिकरणों वाली काव्य-विद्या को स्नातकों को सविस्तर पढ़ा दिया।[1]

वस्तुतः राजशेखर का यह कथन आख्यानात्मक ही है जिसकी संस्कृत-साहित्य में कमी नहीं और किसी शास्त्र को प्राचीनता एवं पवित्रता का आवरण देने का यह सरलतम ढंग है। हाँ, इस विषय में यह बात सम्भव प्रतीत अवश्य हो रही है कि राजशेखर द्वारा उल्लिखित कतिपय नाम ऐतिहासिक हों और ये नाम किसी सतत प्रवहमान परम्परा के परिचायक हों। इस विषय में हम इतनी स्थापना अवश्य कर सकते हैं कि लक्ष्य और लक्षण दोनों का निर्माण आगे-पीछे साथ ही साथ होता है और इस आधार पर हम साहित्यशास्त्र को भी उतना ही प्राचीन मान सकते हैं जितना स्वयं काव्य।

---

१. अथातः काव्यं मीमांसयिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान्स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। तं च सर्वसमयविदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवःस्वस्त्रितयवर्त्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्तनार्थं प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच। —काव्यमी० १, पृ० १।

यद्यपि यह सत्य है कि राजशेखर द्वारा उल्लिखित नामों में से कुछ आख्यानात्मक हैं तथापि इस सत्य को अस्वीकार करना भी अपलाप ही होगा कि इनमें से कुछ नाम यथार्थभूत हैं। यह टांकने योग्य हैं कि राजशेखर द्वारा उद्धृत नामों से कुचमार और सुवर्णनाम—ये दो नाम वात्स्यायन के कामसूत्र (१. १. १३, १७) में उल्लिखित हैं। काव्यमीमांसा पर हृदयङ्गमा व्याख्या के अनुसार वररुचि तथा काश्यप राजशेखर के पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्री हैं—पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य (१. २ पर टीका)। इनके अतिरिक्त भरत का नाटचशास्त्र तो उपलब्ध ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं अलङ्कारशास्त्र की परम्परा राजशेखर से बहुत पहले से चली आ रही थी। इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यान रखने योग्य है कि इस आलोचनाशास्त्र वा काव्यशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र का मौलिक नाम अलङ्कारशास्त्र है। अलङ्कारशास्त्र उस प्राचीन परम्परा को द्योतित करता है जिसमें काव्याभिव्यक्ति के लिए अलङ्कार ही सर्वोच्च अथवा सबसे महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता था। साहित्यशास्त्र की प्राचीन पुस्तकों के नाम से ही पता चल जाता है कि अलङ्कार के प्रति उनका कितना व्यामोह था—भामह के ग्रंथ का नाम काव्यालङ्कार है तथा उनके टीकाकार उद्भट के ग्रंथ का नाम है—काव्यालङ्कारसारसंग्रह। प्रतापरुद्रीय टीका में कुमारस्वामी इस शास्त्र के अलङ्कारशास्त्र नाम की सार्थकता बताते हुए कहते हैं—यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि च्छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते।' भाव यह है कि कुमारस्वामी के अनुसार इस शास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय अलङ्कार है।

इस शास्त्र का साहित्यशास्त्र नाम अपेक्षाकृत परवर्ती युग में हुआ। संभवतः राजशेखर ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने इस शास्त्र का नाम साहित्यविद्या रखा—पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः (काव्यमीमांसा)। बाद में रुय्यक ने अपने ग्रंथ का नाम साहित्यमीमांसा तथा विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण रखा।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है अलङ्कारशास्त्र की परम्परा राजशेखर से बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी। इस शास्त्र का आदिम नाम क्रियाकल्प बताया जाता है[1] जिसका उल्लेख वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत किया है। ललितविस्तर में कलाओं की गणना में इसे भी गिना गया है। जयमङ्गला के अनुसार इसका अर्थ है 'काव्यक्रियाकल्प'—इति काव्यकरणविधिः काव्यालङ्कार इत्यर्थः।' आचार्य दण्डी भी इस नाम से अभिज्ञ हैं—

---

१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र : भाग १, पृ० १०।

'वाचां विचित्रमार्गाणां निबन्धुः क्रियाविधिम्' (काव्यादर्श १. ६) रामायण के अन्तर्गत विभिन्न कलाओं के अन्तर्गत महर्षि वाल्मीकि ने इसे भी निबद्ध किया है—

क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनात्—(उत्तरकाण्ड ६४. ७) अलङ्कारशास्त्र या काव्यशास्त्र के मूल को अति प्राचीन मानते हुये भी यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि इसका उद्भव स्पष्टरूपेण कब से और किसके द्वारा हुआ। हाँ, इसके मूल को वेद, निरुक्त, निघण्टु तथा पाणिनि में देखा जा सकता है।[1] यहाँ यह भी स्मरण कर लेना चाहिये कि व्याकरणशास्त्र ने अलङ्कारशास्त्र के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया।[2] यद्यपि नाटयशास्त्र स्वतः साहित्य का एक अङ्गमात्र ही है तथापि इसका विकास अलङ्कारशास्त्र से कुछ पूर्व का प्रतीत होता है। भारतीय दृष्टि से यद्यपि अग्निपुराण कालक्रम की दृष्टि से प्राचीनतर है तथापि नूतन प्रमाणों से इसकी प्राचीनता सन्दिग्ध हो जाती है।

२. राजशेखर के पूर्ववर्ती आचार्य

(१) भरत—राजशेखर के अनुसार भरत ने १८ अधिकरणों में रूपकनिरूपण किया। रूपक में उपयोगी होने के कारण प्रसंगवशात् उन्होंने संगीतशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र और छन्दःशास्त्र का विवरण प्रस्तुत किया। भरत को मुनि पद से भी अभिहित किया है जिससे उनकी महत्ता तथा पवित्रता की सूचना मिलती है।

भरत के नाटयशास्त्र के अति प्राचीन होने पर भी उनके निश्चित समय का पता नहीं। विद्वानों की खोज का इतना ही परिणाम प्रस्तुत हो सका है कि भरत का समय ई० पू० २०० से ईस्वी सन् २०० तक के मध्य होगा। कुछ भी हो, इतना तो निश्चितरूपेण कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ अपने वर्तमान रूप में भी ईसा की ८ वीं सदी से पूर्व आ चुका था, क्योंकि लोल्लट और शंकुक ने, जो संभवतः इसी सदी के थे, इस पर टीकायें लिखीं।[3]

भरत का व्यक्तित्व प्राचीन काल में एक मुनि के रूप में ही उभरा था यह अव्यवस्था इस सीमा तक पहुँची कि नाटक के प्रयोक्ता नट भी 'भरत' नाम से अभिहित किये जाने लगे। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि भरत के नाम

---

१. विशेष के लिये द्रष्टव्य : डे, संस्कृत पोयटिक्स, भाग १, पृ० ४–११; उपाध्याय, भाग, १ पृ० ११ पृ० ११–१६।

२. तत्रैव।

३. द्रष्टव्य, काणे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स, पृ० ८–११; डे, उपर्युक्त ग्रंथ पृ० २३–२७।

से विख्यात उपलब्ध नाट्यशास्त्र नाना सदियों में विकसित नाट्यशास्त्र का एक संग्रहीत रूप है। पर इतना अवश्य है कि इसका मौलिक रूप भरत मुनि से सम्बद्ध है।

समग्र नाट्यशास्त्र ३६ अध्यायों में विभक्त है। इसमें पांच सहस्र श्लोक हैं जिसमें अधिकांश अनुष्टुप् छन्दात्मक हैं। कहीं-कहीं गद्यात्मक वचन भी मिलते हैं। यद्यपि प्रामुख्येन नाट्यशास्त्र का विषय नाट्य का ही विस्तृत विवेचन है, पर प्रासङ्गिक रूप से छन्दःशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र तथा संगीतशास्त्र का भी वर्णन है।

भरत के नव टीकाकारों का पता चला है—(१) उद्भट, (२) लोल्लट, (३) शङ्कुक, (४) भट्टनायक, (५) राहुल, (६) भट्टयन्त्र, (७) अभिनवगुप्त, (८) कीर्तिधर और (९) मातृगुप्ताचार्य।

(२) मेधाविरुद्र—भरत के अनन्तर प्रमुख साहित्यशास्त्री मेधाविरुद्र हुये जिनका उल्लेख भामह तथा राजशेखर ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। राजशेखर ने इन्हें कवि तथा जन्मान्ध कहा है। नमिसाधु ने इन्हें अलङ्कारग्रन्थ का प्रणेता कहा है। भामह के अनुसार मेधावी ने उपमा के साथ दोषों का वर्णन किया है—हीनता, असंभव, लिङ्गभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य, उपमानासादृश्य (काव्यालङ्कार २।३।६४०)। इन्हीं का उल्लेख नमिसाधु ने भी किया है (रुद्रट–काव्यालङ्कार की टीका ११।२४) भामह ने (२।८८) मेधाविरुद्ध का उल्लेख इस प्रकार किया है—

यमासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्॥

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेधाविरुद्र नामक आचार्य भामह और राजशेखर से पूर्व थे।

(३) भामह—भामह का सबसे प्राचीन उल्लेख ध्वन्यालोक पर आनन्दवर्धन की वृत्ति के दो अनुच्छेदों में है। दूसरा उल्लेख प्रतिहारेन्दुराज ने किया है जिसके अनुसार उद्भट ने भामह पर एक व्याख्याग्रन्थ लिखा था, जिसका नाम भामह–विवरण थी। दैवदुर्विपाक से यह व्याख्याग्रन्थ अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख अभिनवगुप्त, हेमचन्द्र तथा नामान्तर से रुय्यक और समुद्रबन्ध ने भी किया है। इन उल्लेखों से भामह की इन आलङ्कारिकों से पूर्ववर्तिता सहज सिद्ध हो जाती है।[1]

---

१. द्रष्टव्य, डे, उपर्युक्त ग्रंथ पृ० ४५–४७।

आचार्य भामह की जीवनी के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं; केवल इतना ही पता है कि उनके पिता का नाम 'रक्रिलगोमी' था—

अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्ये ।
सुजनावगमाय भामहेन, ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम् ॥

भामहालङ्कार ६।६४

भामह के काल के विषय में भी पर्याप्त मत-वैभिन्य दृष्टिगत होता है। किसी समय लोग भामह तथा दण्डी के पूर्व-पर-भाविकता पर लड़ा करते थे। पर अब प्रमाणों के आधार पर भामह का प्राचीन होना निश्चितप्राय है। इनके काल के विषय में निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं—(१) बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित ने जो अष्टम सदी में हुये थे, अपने तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ में भामह के मत को निर्दिष्ट करते हुये इनके कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः भामह अष्टम शतक से पूर्ववर्ती हुये (२) आनन्दवर्धन ने भामह के एक श्लोक को बाणभट्ट के एक वाक्य से प्राचीन बताया है ('धरणी धारणाय अधुना त्वं शेषः' हर्षचरित-द्रष्टव्य, ध्वन्यालोक, उद्योत ४)। अतः आनन्दवर्धन के मतानुसार भामह बाणभट्ट (ई० सन् ६२५) से पूर्ववर्ती हुये। (दिङ्नाग के सिद्धान्तों से भामह परिचित तथा परवर्ती बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के सिद्धान्त से अपरचित हैं। अतः इनका समय दोनों के मध्य (५०० तथा ६२५ ई० सन्) मानना चाहिये।[१]

भामह के नाम से निश्चितरूप से एक ही ग्रन्थ मिलता है। यह ग्रन्थ काव्यालङ्कार है। यह ग्रन्थ ६ परिच्छेदों में विभक्त है और विषय के अनुसार पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है। भामह द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्त ये हैं— शब्दार्थ से काव्य की निष्पत्ति होती है। ओज, प्रसाद और माधुर्य ये तीन गुण हैं (भरत ने दस गुण बताये थे)। अलङ्कारों का मूलभूत वक्रोक्ति है। दोषों की संख्या दस बढ़कर है।

विषय के अनुसार काव्यालङ्कार का विभाग निम्नलिखित रीत्या किया गया है—(१) काव्य-शरीर—काव्य तथा उसके प्रयोजनादि का विवेचन (प्रथम परिच्छेद), (२) अलङ्कार-निरूपण (द्वितीय और तृतीय परिच्छेद); (३) दोष (चतुर्थ परिच्छेद), (४) न्याय-निर्णय (पञ्चम परिच्छेद) और (५) शब्दशुद्धि (षष्ठ परिच्छेद)।

---

१. विशेष के लिये द्रष्टव्य, बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र भाग १, ४२–४३। काणे-हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स पृ० २७–४०। डे महाशय भामह का समय सातवीं सदी का अन्त तथा आठवीं का प्रारम्भ मानते हैं, द्र० उनका उपर्युक्त ग्रंथ पृ० ४५–४६।

(४) दण्डी—अलङ्कारशास्त्र के विकास में आचार्य दण्डी का महत्त्व असन्दिग्ध है। आचार्य दण्डी प्रमुखरूपेण रीति-मार्ग के उद्भावक कहे गये हैं। अलङ्कारों के विवेचन में भी उनकी लेखनी ने ललित लास्य प्रदर्शित किया है।

दण्डी का जीवनवृत्त काल की कन्दरा में लुप्त हो गया है। उनका समय भी विद्वानों के शास्त्रार्थ का विषय बना हुआ है। दण्डी का सबसे पहला निर्देश प्रतिहारेन्दुराज ने किया है। दक्षिणी भारत की भाषाओं में उपनिबद्ध अलङ्कार ग्रन्थों में दण्डी एक सिद्ध तथा प्रामाणिक आलङ्कारिक बताये गये हैं। कन्नड भाषा में रचित अमोघवर्ष नृपतुंज के ग्रन्थ कविराजमार्ग में अलङ्कारों के अनेकों ऐसे उदाहरण वर्तमान हैं जो काव्यादर्श के अक्षरशः अनुवाद हैं। सिंहली भाषा के अलंकार ग्रंथ सिय–वस–लकर (स्वभाषालंकार) में दण्डी को उपजीव्य माना गया है। इस ग्रंथ की रचना नवम सदी से परवर्ती कदापि नहीं है। अतः दण्डी इससे पूर्ववर्ती हुये। इसके अतिरिक्त यौवन-वर्णन-प्रसंग में दण्डी पर बाणभट्ट का प्रभाव स्पष्ट है (काव्या० २।१९७)। माघ के एक पद्य की छाप भी दण्डी पर है (दण्डी, २।३०२ माघ २।४)। सारांश यह कि दण्डी, बाण तथा माघ (सातवीं सदी का पूर्वार्ध) के अनन्तर हुये। अतः इनका समय सप्तम शतक का उत्तरार्ध है।[1]

काव्यादर्श लोक-प्रचलित लक्षण ग्रंथ रहा है। सिय–वस–लकर नामक सिंहली ग्रंथ पर इसका प्रतिबिम्ब है तथा कन्नड़ भाषा में लिखित कविराजमार्ग नामक ग्रंथ स्पष्टतः इससे उपकृत हैं। काव्यादर्श के प्रचार का स्पष्ट प्रमाण उस पर की अनेकों टीकायें हैं। इन टीकाओं के नाम हैं—(१) तरुण वाचस्पति कृत व्याख्या, (२) अज्ञातनामा लेखक की हृदयङ्गमा व्याख्या, (३) महा-महोपाध्याय हरिनाथकृत मार्जन भाष्य, (४) कृष्णकिंकर तर्कवागीशकृत काव्यतत्त्वविवेचक कौमुदी, (५) वादिघङ्घलकृत श्रुतानुपालिनी और (६) जगन्नाथपुत्र मल्लिनाथकृत वैमल्यविधायिनी। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य टीकाओं का उल्लेख भी आफ्रेक्ट ने किया है।

दण्डी-रचित ग्रंथों की संख्या तीन हैं—(१) काव्यादर्श, (२) अवन्ति-सुन्दरी-कथा, तथा (३) दशकुमार-चरित। इनमें दशकुमारचरित उपन्यास-ग्रंथ है जिसमें दस राजकुमारों का मनोरम जीवनचित्र खींचा गया है और उनको उपदेश दिया गया है। इसमें अवन्तिसुन्दरी-कथा ललित भाषा में लिखा गया गद्यकाव्य है।

---

१. द्रष्टव्य, बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र भाग १ पृ० ४६-४७; काणे, हि० आ० सं० पो० पृ० २७–४१; मैक्समूलर, वेबर, मैकडानल आदि दण्डी का समय षष्ठ शतक मानते हैं—द्र०, काणे, हि० आ० सं० पो०, पृ० ४१।

दण्डी के कीर्ति-ध्वज के लिये काव्यादर्श दण्ड के समान है। इस ग्रन्थ ने खूब प्रचार पाया और विपुल टीका-सम्पत्ति से समन्वित हुआ है। ग्रन्थ में तीन परिच्छेद तथा ६६० श्लोक हैं। पहले परिच्छेद मे काव्य-लक्षण, काव्य-गुण, आख्यायिका तथा रीति एवं गुण आदि का विवेचन है। दूसरे परिच्छेद में अलंकारों की परिभाषा इत्यादि है। तीसरे में यमक, चित्रबन्ध, १६ प्रकार की प्रहेलिका तथा दश विधि-दोषों का वर्णन है।

(५) उद्भट—अलङ्कारशास्त्र के विकास में भट्ट उद्भट का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने उद्भट के मत का निदर्शन पुनः किया है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन लिखते हैं—'अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः।' रुय्यक तथा अप्पय दीक्षित ने भी बड़े सम्मान के साथ उद्भट का स्मरण किया। स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उद्भट का नामोल्लेख किया है।[1]

उद्भट भट्ट के समय के विषय में कोई मतभेद नहीं। कल्हण ने उन्हें कश्मीरी राजा जयापीड (७७९–८१३ ई०) का समापति बताया है—

> विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
> भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥—राजतरङ्गिणी ४. ४९५

इस मत की परिपुष्टि ध्वन्यालोक (९वीं सदी का उत्तरार्ध) से भी होती है जिसमें उद्भट उल्लिखित है और इस कारण निस्सन्देह उससे पूर्ववर्ती हैं। अतः हम यह निश्चितरूपेण कह सकते हैं कि उद्भट का समय ८वीं सदी का अन्त और ९वीं सदी का प्रारम्भ है। राजशेखर के उल्लेख तथा उद्भट नाम से भी इनका काश्मीरी होता स्पष्ट है।

अद्यावधि भट्ट उद्भट के तीन ग्रंथों का पता लगा हैं—१. भामह-विवरण २. कुमारसंभव-काव्य तथा (३) अलङ्कारसारसंग्रह। इनमें भामह-विवरण का केवल नाम मात्र उपलब्ध है। प्रतिहारेन्दुराज ने अलङ्कारसारसंग्रह की लघु-विवृति नाम से टीका की है जिसमें उन्होंने लिखा है—'विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथा चास्माभिर्निरूपितः।' इस कथन से यह सिद्ध है कि उद्भट ने भामह-विवरण नामक ग्रंथ लिखा था। उद्भट के अलङ्कारसारसंग्रह से प्रतीत होता है कि इन्होंने भामह-निर्दिष्ट अलंकार-

---

१. विशेष के लिए द्र० बलदेव उपाध्याय, भा० सा० शा०, भाग १ पृ० ४०–४१।

लक्षणों को अधिक स्थलों पर उठा कर रख दिया है। इससे यही अनुमित होता है कि भामह से इनका परिचय था।

उद्भट का दूसरा ग्रंथ कुमारसंभव काव्य भी अनुपलब्ध है। केवल प्रतिहारेन्दुराज के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि अलंकारसारसंग्रह में प्राप्य उदाहरण इसी ग्रन्थ के हैं। उद्भट के कुमारसंभव काव्य में प्राप्त उदाहरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसमें कालिदास के महाकाव्य कुमारसंभव से न केवल भावों में ही, अपितु घटनाओं में भी समानता है।

उद्भट का तृतीय ग्रन्थ अलङ्कारसारसंग्रह ही उपलब्ध है। पण्डित मंगेश रामकृष्ण तैलंग ने प्रतिहारेन्दुराज की लघुविवृत्ति नाम्नी टीका के साथ इसे सम्पादित किया। यह ग्रंथ छह अध्यायों (जिन्हें वर्ग कहा गया है) में विभक्त है तथा ७९ कारिकाओं में ४१ अलङ्कारों के लक्षण दिए गए हैं। जैसा ऊपर निर्दिष्ट है इसमें के उदाहरण उद्भट ने स्वरचित कुमारसम्भव काव्य से दिया है।

भट्ट उद्भट आचार्य भामह के बड़े भक्त थे और उनका अनुकरण भी किया है। परन्तु इनमें प्रतिभा का प्राचुर्य था। जिससे इनका स्वतः का व्यक्तित्व भी भामह की समकक्षता में चला जाता है। इनके द्वारा उद्भावित कुछ सिद्धान्त ये हैं—(१) अर्थभेद से शब्द-भेद होता है। (२) श्लेष के दो प्रकार हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष, और ये दोनों अलङ्कार हैं। इस मत की मम्मट ने कटु आलोचना की है। (३) श्लेष अन्य अलङ्कारों से बलवत्तर है और जहाँ अन्य अलङ्कारों के साथ यहाँ मिला होता है वहाँ यही प्रधान होता है तथा अन्यों की प्रतीति गौण हो जाती है। इसकी भी मम्मट ने आलोचना की है। (४) काव्यमीमांसा में राजशेखर कहते हैं कि उद्भट के सम्प्रदाय के अनुसार अभिधा-व्यापार तीन प्रकार का होता है। (५) अर्थ दो प्रकार का होता है अविचारित रमणीय और सुविचारित सुस्थ, जिनमें पहली कोटि में काव्य तथा दूसरी में शास्त्र आते हैं। (६) गुण संघटना के धर्म हैं। (७) उपमा का परवर्ती वर्गीकरण उद्भट से उद्भूत है।[1]

उद्भट के दो टीकाकारों का पता चला है—(१) प्रतिहारेन्दुराज और (२) राजानक तिलक।

(६) वामन—रीति-सम्प्रदाय के उद्भावक के रूप में आचार्य वामन संस्कृत-अलङ्कारशास्त्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रीति को काव्य का आत्मा कहा—'रीतिरात्मा काव्यस्य।' किन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि वामन ने आलोचनाशास्त्र के प्रत्येक अंगोपाङ्गों का विवेचन किया।

---

१. द्र० काणे, हि० सं० पो०, पृ० ४४; उपाध्याय, भा० सा० शा० पृ० ५९, ६०।

वामन का समय अत्यन्त सीमित अवधि के अंदर निश्चित किया जा सकता है। राजशेखर ने वामन के सम्प्रदाय का अपनी काव्यमीमांसा में निर्देश किया है। राजशेखर का समय दसवीं सदी का प्रथम चतुर्थांश है। प्रतिहारेन्दुराज तथा लोचनकार भी बहुशः वामन को उद्धृत करते हैं। अतः वामन का समय ई० सन् ९०० से पूर्व होगा। इसके अतिरिक्त लोचनकार अभिनवगुप्त की सम्मति में वामन ध्वनिकार आनन्दवर्धन से पूर्व हुए थे। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः॥

इस पर लोचनकार कहते हैं—"वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्"—अर्थात् इस पद्य में वामन ने आक्षेप अलङ्कार कहा है और भामह ने समासोक्ति। इस आशय को हृदयङ्गम कर ग्रंथकार आनन्दवर्धन ने समासोक्ति और आक्षेप उन दोनों का एक ही उदाहरण दिया है। ध्वन्यालोककार ९वीं सदी के उत्तरार्ध में हुये। अतः वामन का समय ८५० ई० से पूर्व हुआ। दूसरी ओर भवभूति के एक पद्य (उ० रा० च० १।३८) को वामन ने रूपक अलङ्कार के प्रसंग में उद्धृत किया है। अतः इनका समय भवभूति (७००–७५०) के बाद हुआ। इसके अतिरिक्त 'राजतरङ्गिणी' में कल्हण इन्हें राजा जयापीड़ के मंत्रियों में गिनता है जो कालक्रम की दृष्टि से ठीक जँचता है। अतः वामन ८०० के आसपास हुये थे।[1]

वामन के ग्रन्थ का नाम है काव्यालङ्कारसूत्र। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अलङ्कारशास्त्र में एक यही ग्रन्थ है जो सूत्र-शैली में लिखा गया है। इसके तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरणों का चयन सुप्रसिद्ध ग्रंथों से किया गया है[2]। स्वयं वामन ने अपने को सूत्र तथा वृत्ति का रचयिता कहा है—

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥

—मंगलश्लोक

---

१. विशेष के लिए द्र०, काणे, हि० स० पो०, पृ० ४८–५०; उपाध्याय, भा० सा० शा०, भाग १, पृ० ६१–६३; डे, हि० सं० पो० भाग १ पृ० ८१, ८२।

२. एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता॥ —४. ३–३३ पर वृत्ति।

इसकी पुष्टि प्रतिहारेन्दुराज जैसे प्राचीन लेखकों द्वारा भी होती है जो सूत्र तथा वृत्ति दोनों को वामन-कृत कहते हैं। इसी प्रकार लोचन में भी वामन के आक्षेप का लक्षण उद्धृत है और उनकी वृत्ति में दिये दो उदाहरण भी निर्दिष्ट हैं। वामन का महत्त्व इस लिये भी बढ़ जाता है क्योंकि वे प्राचीन लेखक हैं और उन्होंने प्राचीन संस्कृत कवियों से उदाहरण लिये हैं। अतः प्राचीन कवियों का समय निश्चित करने में सुविधा होती है। यह ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है और प्रत्येक अधिकरण अध्यायों में बँटा है। इसमें कुल १२ अध्याय तथा ३१९ सूत्र हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि जहाँ प्राचीन सूत्रकार अध्यायों को अधिकरणों में उपविभक्त करते हैं वहाँ वामन ने अधिकरणों को ही अध्यायों में बाँटा है।

पहले अधिकरण में काव्य का लक्षण, अधिकारी, रीति का काव्यात्मा-रूप में कथन, तीन रीतियाँ तथा काव्य के भेदों का वर्णन है। दूसरे अधिकरण में पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों का वर्णन है। तीसरे अधिकरण में गुणविवेचन, गुण तथा अलंकारों में भेद तथा शब्दार्थ के दस गुणों की व्याख्या है। चतुर्थ अधिकरण में यमक, अनुप्रास, उपमा तथा उपमा के छह दोषों का वर्णन है। पञ्चम अधिकरण में कवियों द्वारा मान्य परम्पराओं का वर्णन है।

वामन के सिद्धान्त—वामन संस्कृत आलोचनाशास्त्र में एक नवीन अध्याय को जोड़ने वाले हैं। (१) उनका सबसे प्रमुख सिद्धान्त जिस पर उनकी कीर्ति आधारित है रीति को काव्य का आत्मा बताना है—रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। (१. २. ६–८)। (२) उन्होंने गुण तथा अलङ्कार में विभेद किया—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः (३. २. १–२) इस मत का मम्मट ने प्रबल विरोध किया है। (३) उन्होंने वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार में समाविष्ट किया तथा उसका लक्षण 'सादृश्याल्लक्षणा' दिया। (४) विशेषोक्ति का उन्होंने लक्षण 'एकगुण-हानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' दिया जो पण्डित-राज जगन्नाथ तथा अन्यों की राय में रूपक है। (५) आक्षेप अलङ्कार के जो उन्होंने ही लक्षण दिये वह मम्मट के अनुसार प्रतीप तथा समासोक्ति का लक्षण है।

काव्यालङ्कारसूत्र पर गोपेन्द्रतिप्प भूपाल की व्याख्या उपलब्ध है। अन्य टीकाकार भट्टगोपाल, महेश्वर तथा सहदेव हैं।

(७) **रुद्रट**—भारतीय आलोचनाशास्त्र में रुद्रट महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये प्रथम आचार्य थे जिन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण कुछ खास सिद्धान्तों (जैसे, औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष) पर किया। इन्होंने अपने ग्रन्थ के आदि में गौरी तथा अन्त में भवानी, मुरारि और गजानन की वन्दना की है।

इनके टीकाकार नमिसाधु से ज्ञात होता है कि इनका दूसरा नाम शतानन्द था। इनके पिता का नाम वामुकभट्ट था और ये सामवेदी थे।

रुद्रट का समय निश्चित करने में विशेष कठिनाई नहीं। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में रुद्रट तथा उनकी काकुवक्रोक्ति का उदाहरण दिया है। इस निर्देश से रुद्रट राजशेखर (९२० के लगभग) से पूर्ववर्ती हुए। इसके अतिरिक्त प्रतिहारेन्दुराज भी जो लगभग उसी समय हुए, बिना नाम लिये रुद्रट की कारिका तथा उदाहरणों को उद्धृत करते हैं। रुद्रट को ऊपरी सीमा के विषय में कहा जा सकता है कि वे भामह, दण्डी तथा वामन के पश्चाद्वर्ती थे। पिशेल रुद्रट को नवम सदी के मध्य (८५० ई० के लगभग) रखते हैं। यही समय लगभग आनन्दवर्धन का भी है यदि दोनों समकालिक होते तो आनन्दवर्धन को अवश्य रुद्रट का उल्लेख करना चाहिए था क्योंकि अन्य सभी प्रसिद्ध कवियों का उन्होंने उल्लेख किया है। अतः यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि रुद्रट आनन्दवर्धन से कुछ पूर्ववर्ती थे। इस आधार पर उनका समय ९वीं सदी का प्रारम्भ (८०० ई० के लगभग) मानना संगत प्रतीत होता है। यद्यपि पिशेल के मत को मानने पर भी कोई विशेष हानि नहीं क्योंकि रुद्रट का अन्तिम समय ८५० ई० के पास आ सकता है।[१]

रुद्रट के काव्यालङ्कार पर तीन टीकाओं का पता चला है—(१) रुद्रटालङ्कार—इसके लेखक हैं काश्मीर के मान्य टीकाकार वल्लभदेव जिन्होंने कालिदास माघ, मयूर तथा रत्नाकर के काव्यों पर प्रामाणिक टीकायें लिखी हैं। इनका समय दसवीं सदी का प्रारम्भ है और संभवतः रुद्रट पर सबसे प्राचीन टीका यही है। (२) नमिसाधु की टीका—एकमात्र यही टीका उपलब्ध तथा प्रकाशित है। ये श्वेताम्बर जैन तथा शालिभद्र के शिष्य थे। इनकी टीका-रचना का समय १०६९ ई० है। (३) तीसरी टीका के प्रणेता का नाम आशाधर है जो एक जैन मुनि थे।

रुद्रट को भी अलङ्कारवादी आचार्य ही कहा जा सकता है, क्योंकि, यद्यपि रसयुक्त काव्य की महत्ता इन्होंने अङ्गीकृत की है तथापि इनका आग्रह अलङ्कारों पर है। इनके नये उद्भावित अलंकार हैं—मत, साम्य एवं विहित। कहीं-कहीं इन्होंने प्राचीन अलङ्कारों के नवीन नाम भी दिये हैं।

(८) रुद्रभट्ट—रुद्रभट्ट नामक आचार्य ने शृङ्गारतिलक नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें तीन परिच्छेदों में रस का विशेष वर्णन किया गया है।

---

१. विशेष के लिए द्र०, डे, हि० सं० पो० भाग १ पृ० ८७–८९; काणे, पृ० ९३–९८; उपाध्याय, भाग १ पृ० ६७।

प्रथम परिच्छेद में नवरस, भाव तथा नायक-नायिका का वर्णन है। द्वितीय में विप्रलम्भ-शृङ्गार का वर्णन है एवं तृतीय परिच्छेद में अन्य रसों तथा वृत्तियों का वर्णन है।

बहुत से पाश्चात्त्य विद्वानों ने नाम के साम्य से दोनों आचार्यों के व्यक्तित्व को एक में मिला दिया है, पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। विषय तथा काल दोनों दृष्टियों से दोनों में पर्याप्त पार्थक्य है। रुद्रट का आग्रह प्रतिपाद्य है अलङ्कार, जबकि जैसा नाम से ही स्पष्ट है, रुद्रभट्ट के शृङ्गारतिलक का विवेच्य है रस—विशेषतः शृङ्गाररस। इसके अतिरिक्त शृंगारतिलक के प्रथम उद्धरणकर्ता हैं हेमचन्द्र। अतः रुद्रभट्ट का समय दसवीं सदी से पूर्व कथमपि नहीं हो सकता, जबकि रुद्रट का समय ९वीं सदी का आदिम अंश है।

(६) ध्वनिकार आनन्दवर्धन—ब्यूलर तथा जैकोबी ने राजतरङ्गिणी के आधार पर आनन्दवर्धन को ९वीं सदी के मध्य में प्रादुर्भूत माना है। राजतरङ्गिणी के लेखक कल्हण के अनुसार आनन्दवर्धन कश्मीर के निवासी तथा कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के सभा-पण्डित थे—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

—राजतरङ्गिणी ५।३

कल्हण द्वारा निर्दिष्ट मत की परिपुष्टि अन्य प्रमाणों से भी होती है। आनन्दवर्धन के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थक्रमस्तोत्र की रचना ९९१ ई० में की। आनन्दवर्धन के अन्य ग्रंथ 'देवीशतक' पर कैयट ने ९७७ ई० के लगभग व्याख्या लिखी। और तो और, स्वयं राजशेखर ने, जिनका समय नवीं सदी का अन्त तथा दसवीं का आरम्भ है आनन्दवर्धन के नाम तथा मत का निर्देश किया है। अतः इनका समय ९वीं सदी का मध्यभाग मानना नितान्त उचित है।[1]

आनन्दवर्धन के ग्रंथ—ध्वन्यालोक के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने अनेक काव्य-ग्रंथों का भी प्रणयन किया जिनमें 'देवीशतक' 'विषम बाणलीला' तथा 'अर्जुन-चरित' प्रसिद्ध हैं। ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि-विषयक प्राचीन आचार्यों के मतों का निदर्शन तथा सयुक्तिक निरसन है। वस्तुतः यह ध्वनि का इतिहास है। दूसरे उद्योत में ध्वनि के भेदों का वर्णन है तथा साथ ही साथ प्रसंग-पूर्ति-निमित्त गुण-अलङ्कार भी वर्णित हैं। तृतीय उद्योत भी ध्वनि के प्रभेदों से ही सम्बद्ध है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन का सविस्तर वर्णन है।

---

१. विशेष के लिए द्र० बलदेव उपाध्याय; भा० सा० शा० भाग १ पृ० ७१–७२।

क्या आनन्दवर्धन ही कारिका तथा वृत्ति दोनों के लेखक हैं ?—यह प्रश्न बड़ा जटिल तथा विवादास्पद है। ध्वन्यालोक में तीन प्रकार के अंश हैं—१. कारिका, २. गद्यमयी वृत्ति और ३. उदाहरण। इनमें उदाहरण तो संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों से लिये गये हैं। रही वृत्ति और कारिका की बात। रस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त वृत्तिकार तथा कारिकाकार को दो भिन्न व्यक्ति मानते हैं। उदाहरणार्थ लोचनकार का एक वक्तव्य यह है—

न चैतन्मयोक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तत्रेति।
भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि संमतमेवेति भावः॥

—लोचन

इस आधार पर कतिपय विद्वानों ने दोनों को अलग-अलग माना है। महामहोपाध्याय डा० काणे ने वृत्तिकार का नाम आनन्दवर्धन तथा कारिकाकार का नाम सहृदय बताया है।

परन्तु अभिनवगुप्त के विपरीत अनेकों प्रमाण मिलते हैं जो कारिका तथा वृत्ति के लेखक को एक ही व्यक्ति मानते हैं। इन प्रमाणों का सार इस प्रकार है (१) कुन्तक वृत्तिकार को भी ध्वनिकार के नाम से ही पुकारते हैं। (२) राजशेखर ने आनन्दवर्धन के मत का निर्देश करते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है जो ध्वन्यालोक की वृत्ति में उपलब्ध है (३) महिमभट्ट ने जो अभिनवगुप्त के ही समकालीन तथा काश्मीरी थे, अपने 'व्यक्ति-विवेक' में ध्वन्यालोक की कारिकायें तथा वृत्तियों को समभावेन उद्धृत किया है और दोनों का रचयिता ध्वनिकार को ही माना है। (४) हेमचन्द्र ने ध्वन्यालोक की कारिकाओं को आनन्दवर्धन की ही रचना माना है (५) विश्वनाथ कविराज ने भी वृत्तिकार को आनन्दवर्धन ही माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं सारी परम्परा वृत्ति तथा कारिका के रचयिता को एक ही मानती है।

आनन्दवर्धन का महत्त्व—संस्कृत आलोचनाशास्त्र में आनन्दवर्धन वह देदीप्यमान नक्षत्र हैं जिनकी आभा काल-गति से कभी क्षुण्ण नहीं होती, अपितु सर्वदा उपचीयमान ही होती है। उनका ध्वन्यालोक एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है। यदि अत्युक्ति न हो तो जो स्थान कवियों में कालिदास और वैयाकरणों में पाणिनि का है वही स्थान आलोचकों में आनन्दवर्धन का है। पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वथा उचित ही कहा है कि ध्वनिकार ने आलङ्कारिकों का मार्ग सदा के लिये व्यवस्थापित तथा प्रतिष्ठित कर दिया।

(१०) **अभिनवगुप्त**—आचार्य अभिनवगुप्त की लेखनी ने बीस से भी अधिक ग्रन्थों का निर्माण किया। उनका विशेष लेखन-क्षेत्र काश्मीरी शैवतन्त्र है। उनके

परात्रिंशिकाविवरण से ज्ञात होता है कि उनके पितामह का नाम वराहगुप्त और पिता का नाम चुखल था। प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी-बृहतीवृत्ति के अनुसार उनके छोटे भाई का नाम मनोरथगुप्त था। उन्होंने अपने कई गुरुओं का उल्लेख किया है। लोचन के उपोद्घात के अनुसार भट्टेन्दुराज उनके गुरु थे। भट्टेन्दुराज के उदाहरणों को उन्होंने बहुशः उद्धृत किया है। ये भट्टेन्दुराज न केवल कवि थे, अपितु अलङ्कारशास्त्री भी थे। इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन को भी प्रायशः इन्होंने गुरु अभिधान दिया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने साहित्य-गुरु भट्टतौत से भी पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की।

अभिनवगुप्त का समय निश्चित है। इन्होंने अपनी प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी बृहती-वृत्ति लौकिक संवत् ६० (१०१५) में लिखी—"इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्त्ये युगांशे, तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।' दूसरी ओर इन्होंने अपना भैरव-स्तोत्र ६८ लौकिक संवत् (६६३ ई०) में लिखा अतः इनका समय इसी के इधर-उधर होगा। हम मोटे तौर पर १०वीं सदी का उत्तरार्ध और ग्यारहवीं सदी का प्रथम चरण मान सकते हैं।

ग्रन्थ—परमशैव माहेश्वराचार्य ने अपने विपुल सृजन-वैभव से साहित्य तथा दर्शन दोनों को अलंकृत किया। दर्शनशास्त्र में इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं:—ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रसार, मालिनीविजयवार्तिक, परमार्थसार, परात्रिंशिका-विवरण। वस्तुतः इनके दार्शनिक ग्रन्थ शैव-दर्शन तथा तन्त्र से सम्बद्ध हैं। साहित्यशास्त्र से सम्बद्ध इनकी तीन ही निर्मितियाँ हैं—(१) ध्वन्यालोक-लोचन—ध्वन्यालोक को समझने के लिये यह टीका लोचन के ही समान है। इन्होंने प्राचीन बिखरे रससिद्धान्त को यहां एकत्र पिरोया है। ध्वन्यालोक पर एक प्राचीन टीका चन्द्रिका नाम की थी जो किसी अभिनव गुप्त के पूर्वज ने लिखी थी। स्थान-स्थान पर अभिनव गुप्त ने इसका खण्डन किया है, पर अन्त में स्पष्ट लिख दिया है—'अलं निजपूर्ववंश्यैः विवादेन' अर्थात् अपने पूर्वजों से विवाद ठीक नहीं। (२) अभिनवभारती—अभिनवगुप्त का दूसरा साहित्य-शास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है अभिनवभारती। नाट्यशास्त्र के ऊपर यही एकमात्र उपलब्ध टीका है। लोचन की ही भाँति यह टीका भी सुतरां पाण्डियत्यपूर्ण है। (३) काव्यकौतुक-विवरण—'काव्यकौतुक' अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत की रचना है और विवरण उसी की टीका है। पर गुरु-शिष्य दोनों की कृतियाँ अनुपलब्ध हैं।

अभिनवगुप्त का वैशिष्ट्य—भारतीय साहित्यशास्त्र में आचार्य अभिनवगुप्त का नाम स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है। प्रौढ दार्शनिक पाण्डित्य तथा परिनिष्ठित साहित्य-शास्त्रीय ज्ञान इन दोनों का मञ्जुल-मनोरम संगम अभिनव गुप्त में मिलता है।

इनकी व्याख्यायें इतनी प्रौढ़, प्रकाण्ड पाण्डित्यपूर्ण तथा नवीन तथ्यों की उद्घाटिका हैं कि मूल ग्रंथों से कथमपि इनका महत्त्व न्यून नहीं। इस पूर्ववर्ती परम्परा की अगली शृङ्खला राजशेखर हैं।

३. राजशेखर

जीवन-वृत्त

राजशेखर महाराष्ट्र देश के निवासी प्रतीत होते हैं[1]। बालरामायण में वे अपने को अकालजलद का प्रपौत्र एवं दुर्दक तथा शीलवती का पुत्र बताते हैं—

तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दुकिः शीलवती-सूनुरुपाध्यायश्रीराजशेखर इत्यपर्याप्तं बहुमानेन। —बालरामायण १

तथा—तदकालजलदप्रणप्तुस्तस्य गुणगणः किमिति न वर्ण्यते।

—विद्धशालभञ्जिका।

इन्होंने अवन्तिसुन्दरी नामकी चौहानवंशी स्त्री से विवाह किया था—

चाहुमानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवेच्छति॥

—कर्पूरमंजरी १।११

बालरामायण की प्रस्तावना में उन्होंने अपने को 'मंत्रिसुत' कहा है। अतः अनुमान होता है कि इनके पिता किसी राज्य के अमात्य रहे होंगे।[2]

राजशेखर का जन्म (यायावर) कुल में हुआ था। यह यायावर वंश कौन था तथा इसका नाम यायावर क्यों पड़ा यह पता नहीं। अनुमान यही होता है कि कभी राजशेखर के पूर्वपुरुष घूमा करते रहे होंगे और उसी आधार पर यह नामकरण हुआ होगा। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि यायावर किसी व्यक्तिविशेष का नाम रहा होगा जिसके आधार पर इस वंश को यायावर कुल कहा जाता था। राजशेखर ने बहुत बार अपने को यायावरीय कहा है।

यायावार-कुल अपनी विद्वत्ता के लिये विश्रुत था। अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि कवियों ने इस वंश को अलंकृत किया। अकालजलद की प्रशस्ति सूक्तिमुक्तावली में दर्शनीय है। अकालजलद को राजशेखर ने महाराष्ट्र-चूडामणि कहा है। राजशेखर महाराष्ट्र तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों से पर्याप्त

---

१. काणे, हि० आ० सं० पो०, पृ० ७९।
२. सूक्तमिदं तेनैव मंत्रिसुतेन॥—बालरामायण।
३ का० मी० भू०

परिचित थे। उनके विषय में क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य-विचार-चर्चा' नामक ग्रंथ में एक मनोरञ्जक श्लोक उद्धृत किया है।

> कार्णाटीदशनाङ्कितः शित-महाराष्ट्री-कटाक्ष-क्षतः,
> प्रौढान्ध्री-स्तन-पीडितः प्रणयिनी भ्रू-भंग-वित्रासितः।
> लाटीबाहु-विचेष्टितश्च, मलय-स्त्री-तर्जनी-तर्जितः
> सोऽयं सम्प्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं वाञ्छति ।।

'कर्णाट-देश की महिलाओं के दाँतों से चिह्नित, महाराष्ट्रियों के तीव्र कटाक्षों से आहत, आन्ध्रदेश की प्रौढ रमणियों के स्तनों से पीड़ित, प्रणयिनियों के कटाक्ष से भयभीत, लाटदेशीय रमणियों के भुजपाशों से आलिङ्गित, और मलयनिवासिनी नारियों की तर्जनियों से हटके गये राजशेखर कवि अब वृद्धावस्था में वाराणसी का सेवन करना चाहते हैं।'

इस पद्य से अन्य तथ्यों के अलावे राजशेखर के सार्वदेशिक ज्ञान का भी पता लगता है।

किंतु महाराष्ट्र तथा उसके प्रदेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी यह प्रतीत होता है कि राजशेखर या उनके परिवार ने कन्नौज में अपना निवास बनाया। उन्होंने कन्नौज के प्रतिहार-वंशी राजा महेन्द्रपाल तथा महीपाल को अपना शिष्य बताया है—

> आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारां निधि—
> स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः।
> वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
> देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः ।।

—बालरामायण १।१८

इस आधार पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि राजशेखर कन्नौज में आकर बस गये थे। इस प्रकट निर्देश के अतिरिक्त, राजशेखर ने जिस पक्षपात के साथ कन्नौज और पाञ्चाल का वर्णन किया है उसके आधार पर यह सुतरां सत्य प्रतीत होता है कि राजशेखर ने अपना स्थायी निवास-स्थान कन्नौज में बनाया था। उदाहरणार्थ इस देश की प्रशंसा करते हुए कहते हैं।

> इदं पुनस्ततोऽपि मन्दाकिनीपरिक्षिप्तं महोदयं नाम नगरं दृश्यते।
> ....इदं द्वयं सर्वमहापवित्रं परस्परालङ्करणैकहेतुः।
> पुरं च हे जानकि कान्यकुब्जं सरिच्च गौरीपतिमौलिमाला ।।

अपि च—

> यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां या सूक्तिमुद्राक्रमे
> भङ्गी या कबरीचयेषु रचनं यद् भूषणालीषु च।

दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललनालोकैरिहान्यच्च य-
च्छिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्यः स्त्रियः ॥

—बाल रामायण १०.८९-९०

पाञ्चालों को अन्तर्वेदी का भूषण बताते हुए कह रहे हैं—

इमे अन्तर्वेदीभूषणं पाञ्चालाः
यत्रार्ये ! न तथानुरज्यति कविर्ग्रामीणगीर्गुम्फने
शास्त्रीयासु च लौकिकेषु च यथा भव्यासु नव्योक्तिषु ।
पाञ्चालास्तव पश्चिमेन त इमे वामा गिरां भाजनाः
त्वद्दृष्टेरतिथीभवन्तु यमुनां त्रिस्रोतसं चान्तरा ॥

—वही १०.८६

इसी प्रकार पाञ्चालों के काव्य-पाठ की भी हमारे चरितनायक ने प्रशंसा की है—

मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः ।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनः श्रोत्रे मधु क्षरति किंचन काव्यपाठः ॥

—काव्यमीमांसा अ० ७

इन वर्णनों के आधार पर राजशेखर का कन्नौज में रहना सिद्ध होता है ।

राजशेखर और गुजरात—राजशेखर का गुजरात (लाटदेश) से विशेष प्रेम दिखायी पड़ता है । जहां कहीं भी अनुकूल अवसर मिलता है, महाकवि राजशेखर की उन्मुक्त लेखनी लाटदेश का गुण गाने लगती है । डा० भट्टाचार्य का अनुमान है कि लाटदेश के कवि की घनिष्ठता उसके संरक्षक राजाओं के माध्यम से बढ़ी (काव्यमीमांसा का उपोद्घात पृ० ३६)। राजशेखर की कृति कर्पूरमञ्जरी लाटदेश की है । विद्धशालभंजिका तद्देशीय राजा से ही सम्बद्ध है । बालरामायण में कवि ने इसे पृथ्वी का ललाट माना है—

अयमसावितो विश्वम्भराशिरःशेखर इव लाटदेशः ॥ अंक १०

काव्यमीमांसा में लाटवासियों के पाठ-प्रकार का निर्देश है—

पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः ।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ॥—काव्यमीमांसा

इसी प्रकार बालरामायण में भी वहां की स्त्रियों तथा भाषा की प्रशंसा है :—

यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते
यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः ।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वच-
स्तांल्लाटांल्ललिताङ्गि पश्य नुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम् ॥

और—

लक्षीकर्तुं प्रवृत्तोऽपि लाटीलडहवीक्षितैः।
लक्षीभवति कन्दर्पः स्वेषामेवात्र पत्रिणाम् ॥

—बालरामायण, अंक १०, ४८-४९

इन उदाहरणों से राजशेखर का लाट-प्रेम सुतरां स्पष्ट है।

राजशेखर की पत्नी—जैसा पहले निर्देश किया जा चुका है राजशेखर की पत्नी चौहाणवंशीय कन्या अवन्तिसुन्दरी थीं। अवन्तिसुन्दरी अत्यन्त विदुषी महिला थीं और गम्भीर साहित्यिक विवेचनों से सम्बद्ध थीं। राजशेखर ने इनके मत को तीन बार काव्य-मीमांसा में उद्धृत किया है। इससे अनुमान होता है कि अवन्तिसुन्दरी ने किसी ग्रन्थ की रचना की थी जो काल की कराल दाढ़ में दब गया। अवन्तिसुन्दरी नाम से यह भी अनुमान हो सकता है कि ये अवन्ति देश की रही हों। अवन्ति देश की रमणियों के विषय में राजशेखर ने उनकी काम-विदग्धता का परिचय दिया है।

'विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतिकर्मणि'—बालरामायण, अंक १०,

'कर्पूरमञ्जरी' सट्टक का प्रथम अभिनय इन्हीं की इच्छा से हुआ था। अवन्ति-सुन्दरी संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत भाषा की भी विदुषी थीं। हेमचन्द्र ने 'देशी-नाममाला' में अवन्तिसुन्दरी के देशी-शब्दकोष का उल्लेख किया है तथा उनके द्वारा जो कई शब्दों के नये अर्थ किये गये हैं उनको भी दिया है। इससे इनके प्राकृतप्रेम का परिचय प्राप्त होता है।

राजशेखर द्वारा वर्णित अन्य देश—राजशेखर भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों से खूब परिचित प्रतीत होते हैं। उन्होंने बालरामायण में अयोध्या तथा लङ्का के बीच में अवस्थित देशों का वर्णन किया है। काव्यमीमांसा के अध्याय १७ में भी देश के विभिन्न भागों का वर्णन मिलता है। इन्हीं का अनुकरण हेमचन्द्र तथा वाग्भट ने किया है। राजशेखर ने आर्यावर्त को पांच भागों में बांटा है: १. पूर्वदेश, २. दक्षिणापथ, ३. पश्चाद्देश, ४. उत्तरापथ, और मध्यदेश।[1]

राजेश्वर का प्राकृत प्रेम—बालरामायण की प्रस्तावना में राजशेखर ने अपने को सर्व-भाषा-विचक्षण कहा है—'सर्वभाषाविचक्षणश्च स एवमाह'। किस देश के लोग किस भाषा में विचक्षण होते हैं इसका उन्होंने काव्यमीमांसा में निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने उच्चारण–संबन्धी विवेचन भी प्रस्तुत किया है। इस आधार पर हम निस्संकोच कह सकते हैं कि राजशेखर

---

१. भौगोलिक वर्णनों के विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य, काव्यमीमांसा का उपोद्घात पृ० ४०–४३, बड़ौदा संस्करण।

तत्काल में प्रचलित अधिकांश भाषाओं में विदग्ध थे। कविराज की परिभाषा में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उसका सभी भाषाओं पर समान अधिकार होना चाहिये।[1] उन्होंने अपने लिये कविराज विशेषण का भी प्रयोग किया है ('बालकई कइराओ-कर्पूरमंजरी १. ९)। अतः उनकी भाषा-बहुज्ञता में सन्देह नहीं हो सकता। यहाँ इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है महाकवि राजशेखर ने प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में विशेष रुचि प्रदर्शित की है। इसका ज्वलन्त प्रमाण है उनका कर्पूरमंजरी नामक सट्टक, जिसे उन्होंने प्राकृत-भाषा में निबद्ध किया है। बालरामायण में इन प्राकृतादि की प्रशंसा करते हुये कहते हैं—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतमधुराः प्राकृतधुरः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम्।
विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे
निबद्धा यस्त्वेषां स खलु लिखितेऽस्मिन्कविवृषा॥

—बालरामायण १. १०

इसी भांति कर्पूरमंजरी (१. ४) में भी उन्होंने प्राकृत की प्रशंसा की है :—

परुसा सक्कअबन्धा पाउअन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरिसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणं॥

राजशेखर के समय का समाज—राजशेखर के समय में ब्राह्मण धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। देश की आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति भी दृढ़ थी अतः चारों ओर सुख शान्ति का साम्राज्य था। राजशेखर के विवरणों से यह भी प्रतीत होता है कि वे स्त्री तथा पुरुष को सामाजिक महत्त्व की दृष्टि से समान देखते थे। उनके विचार से संस्कार दोनों में समान है अतः जनके विकास का समान अवसर मिलना चाहिये (संस्कारो ह्यात्मनि समैवेति—काव्य०)। उनके समय में स्त्रियां कविता भी करती थीं जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्वतः उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी है। इस दृष्टि से वे पुरोगामी विचार के हैं।[2]

राजशेखर के समय विदेश-गमनागमन के भी उदाहरण मिलते हैं। कवि लोग विदेश के विषयों को भी ग्रहण कर उनका वर्णन करते थे।

---

१. (अ) स्वतन्त्रस्य पुनरेकवत् सर्वा अपि भाषाः स्युः। —काव्यमीमांसा
(ब) संस्कृतवत्सर्वास्वपि भाषासु यथासामर्थ्यं यथारुचि यथाकौतुकं चावहितः स्यात्॥ —वहीं

२. पुरुषवत् स्त्रियोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समैवेति। न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्रदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च। —काव्य०

किञ्च महाकवयोऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रत्यां व्यवहृतिं निबध्नन्ति स्म—काव्य०

वैदिक शाखाओं का एक सहस्र में विकास हो चुका था और वह भी राजशेखर से बहुत पहले ही—

पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य शास्त्राणि चावबुद्धय देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य....।' काव्य०

राजशेखर की जाति—जैसा ऊपर संकेत किया गया है यायावरवंशीय उपाध्याय राजशेखर संभवतः ब्राह्मण थे। पर डा० कीथ ने अपने 'संस्कृत-ड्रामा' में उन्हें क्षत्रिय कहा है। इसके समर्थन में दो ही प्रमाण दिये जाते हैं—एक तो राजशेखर नाम और दूसरा उनकी पत्नी का क्षत्रियवंशी कन्या होना। पर केवल नाम के आधार पर जाति निर्धारण अनुचित है। इसके अतिरिक्त क्षत्राणी से विवाह करना भी कोई उचित प्रमाण नहीं। इसके विपरीत उनका ब्राह्मण होना ही अधिक संभव प्रतीत होता है।

(ब) राजशेखर के ग्रन्थ—

यह प्रश्न भी विवादास्पद ही है कि राजशेखर ने कितने ग्रन्थों का निर्माण किया। स्वयं राजशेखर के अनुसार उन्होंने छह ग्रन्थों की निर्मिति की। विद्धि नः षट् प्रबन्धान्—(बालरामायण १।१२)। पर दैंवदुर्विपाक से आज पाँच ही उपलब्ध हैं:—१. बालरामायण; २. बालभारत; ३: विद्धशालभञ्जिका; ४. कर्पूरमञ्जरी और ५. काव्यमीमांसा। छठा ग्रन्थ 'हरविलास' था जिसका हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन-विवेक' में उद्धरण दिया है—है। अब इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. बाल रामायण—यह दश अंकों का विपुलकाय नाटक है। पूरा नाटक साहित्यिक श्लोकों से भरा है। कवि ने नाटकीयता के साथ ही साथ अपनी उदात्त काव्य-शक्ति का भी परिचय दिया है। इस नाटक की सबसे प्रशस्त विशेषता एक ही नाटक में सम्पूर्ण राम-चरित को ग्रथित करने की है। नाटक में कथांश में पर्याप्त नवीनता लाने का प्रयास किया गया है। इसमें दश लम्बे-लम्बे अङ्क हैं। कुलग्रन्थ में ७४१ पद्य हैं जिनमें ८६ पद्य स्रग्धरा वृत्त में तथा २०० शार्दूलविक्रीडित में निबद्ध हैं। राजशेखर के शार्दूलविक्रीडित की प्रशंसा तो प्रसिद्ध ही है—

शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः॥ —सुवृत्ततिलक

बालरामायण में नाटकीयता की अपेक्षा काव्य-गुण का ही मनोरम परिपाक हुआ है। स्वयं कवि ने अपने 'भणिति-गुण' की प्रशंसा की है। इसकी

नाटकीयता में जिसे सन्देह हो उसका समाधान स्वयं नाटककार ने पहले ही कर दिया है—

"ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्,

प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति ।

यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठरुनचि···।"—बाल रामायण १।१२

२. बालभारत—इसका दूसरा नाम प्रचण्डपाण्डव भी है। इसमें महाभारत की कथा का नाटकीयरूप प्रस्तुत किया गया है। पर दुर्भाग्यवश इसके आदिम दो अङ्क ही उपलब्ध हुये हैं। यह भी आशङ्का की जाती है कि कदाचित् इसके अगले अङ्कों का निर्माण राजशेखर न कर सके हों। पर इसकी संभावना बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि जिस प्रकार काव्यमीमांसा के १७ अधिकरण लुप्त हो गये उसी भांति बालभारत के भी अगले अङ्क काल-क्रोड में समा गये हों।

५, विद्धशालभञ्जिका—यह राजशेखररचित मनोरम नाटिका है और 'स्त्रीप्राया चतुरङ्किका' के सिद्धान्तानुसार चार अङ्कों में विभक्त है। इसमें विद्याधर मल्ल नामक राजकुमार और मृगाङ्कावली तथा कुवलयमाला नामकी दो राजकुमारियों की प्रणयकथा है।

४. कर्पूरमंजरी—यह चार जवनिकान्तरों में विभक्त सट्टक है। इस सट्टक में चण्डपाल राजा तथा कुन्तलदेश की राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी की शादी को बड़ी ही युक्तिमत्ता से दिखाया गया है। यह सट्टक प्राकृतभाषा में निबद्ध है। यह इसकी बड़ी भारी विशेषता है और इसी कारण वस्तुतः यह नाटिका होते हुये भी सट्टक कहा गया है क्योंकि सट्टक का लक्षण 'प्राकृतभाषा में निबद्ध होना तथा विष्कम्भ, प्रवेशक तथा अङ्क का अभाव होता है।' सट्टकों के विकास में कर्पूरमञ्जरी ने बहुत ही योगदान किया है और परवर्ती सट्टकों के रूप, कथानक तथा वर्णन-पद्धति पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है।

५. हरविलास—हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन-विवेक में राजशेखर के एक पद्य का उदाहरण दिया है जो राजशेखर के नाम से युक्त है—'स्वनामाङ्कता यथा राजशेखरस्य हरविलासे।' उन्हीं ने पुनः हरविलास से दो पद्यों को उद्धृत किया है।

(१) आशीर्यथा हरविलासे—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म श्रुतीनां मुखमक्षरम्।

प्रसीदतु सतां स्वान्तेष्वेकं त्रिपुरुषीमयम्॥

(२) सुजन-दुर्जनस्वरूपं यथा हरविलासे—

इतस्ततो भषन्भूरि न पतेत् पिशुनः शुनः ।
अवदाततया किञ्च न भेदो हंसतः सतः ॥

इसके अतिरिक्त उणादिसूत्रों पर वृत्ति की रचना करने वाले उज्ज्वलदत्त ने भी हरविलास का उद्धरण दिया है :—

दशाननक्षिप्तखुरप्रखण्डितः क्वचिद् गतार्थो हरिदीधितिर्यथा ।'

—इति हरविलासे २,२८

भुवनकोश—हरविलास के अतिरिक्त एक 'भुवनकोश' नामक ग्रन्थ का कर्तृत्व श्री राजशेखर के मत्थे पड़ता है। इस ग्रन्थ के कर्तृत्व के विषय में स्वयं राजशेखर काव्यमीमांसा के १७ वें अध्याय में कहते हैं कि 'यहाँ मैंने देशविभाग संकेतमात्र से सूचित कर दिया है, जिसको अधिक जानना हो वह मद्विरचित 'भुवनकोश' को देखे'—

इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूत्रितः सुधियाम् ।
यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ ॥

(६) काव्यमीमांसा—जैसा कि पहले दिखाई गई अलङ्कारशास्त्र की परम्परा से सुस्पष्ट है कि राजशेखर की काव्यमीमांसा सुदूरपूर्व से आती हुई एक परम्परा की कड़ी है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा अट्टारह अधिकरणों में लिखी थी—

इत्यङ्कारश्च प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिदुच्चिच्छिदे। इतीयं प्रयोजकाङ्गवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता ।

पर इस अठारह अधिकरणात्मक काव्यमीमांसा का केवल प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है जो अठारह अध्यायों में विभक्त है। अन्य अधिकरण समय की गति से नष्ट हो गये। कुछ लोगों ने यह भी संभावना प्रकट की है कि संभवतः राजशेखर सभी अधिकरणों को पूरा न कर सके हों। राजशेखर ने 'रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात्' (१.५), 'तमौपनिषदिके वक्ष्यामः' (१-१०) इत्यादि जो वचन कहे हैं। उनका तो स्पष्ट तात्पर्य यही है कि उन्होंने अवश्य शेष अधिकरणों को पूरा किया होगा। पर दुर्भाग्यवश यह विपुलकाय-ग्रन्थ समग्र रूप में उपलब्ध न हो सका।

काव्यमीमांसा में आये उद्धरण—काव्यमीमांसा में आये उद्धरणों की दृष्टि से यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र का कोश जैसा प्रतीत होता है। इससे राजशेखर के विपुल पाण्डित्य तथा सूक्ष्मग्राहिता का परिचय प्राप्त होता है। राजशेखर ने रामायण, महाभारत, गीता, रघुवंश, कुमारसंभव, विक्रमोर्वशीय, शाकुन्तल, किरात, माघ,

जानकीहरण, कादम्बरी, हयग्रीववध, मालतीमाधव, वेणीसंहार, शिवमहिम्नस्तोत्र आदि ग्रन्थों से सुन्दरतम श्लोकों को उद्धृत किया है। तथापि इन उद्धरणों के अतिरिक्त बहुत से ऐसे उद्धरण हैं जिनका उद्गम ज्ञात नहीं होता।

काव्यमीमांसा में उल्लिखित साहित्याचार्य—राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में बहुत से आलङ्कारिकों के नामों का भी उल्लेख किया है—सुरानन्द, श्यामदेव, वामन, उद्भट, आपराजिति, द्रौहिणि, रुद्रट, वाक्पतिराज, अवन्ति-सुन्दरी, आनन्द। इन उल्लेखों से इन आचार्यों के मतों के उस समय प्रचलित होने का पता लगता है। इनमें बहुतों के तो अब नाम-मात्र ही अवशिष्ट रहे हैं।

राजशेखर के ग्रंथों का रचना-क्रम—ई० सन् १८५६ मे प्राचार्य वी० एस० आप्टे ने राजशेखर के ग्रन्थों को निम्नलिखित क्रम में रचित माना था। १. कर्पूर-मञ्जरी, २. विद्धशालभञ्जिका, ३. बालरामायण और ४. बालभारत (या प्रचण्डपाण्डव। कीथ तथा स्टेनकोनो आप्टे की राय को सामान्यतया स्वीकार करते हैं तथापि वे बालरामायण को विद्धशालभञ्जिका से पहले की रचना मानते हैं, क्योंकि बालभारत अपूर्ण रचना है अतः इसके विषय में उनकी राय है कि इसे पूर्ण करने के पूर्व वे अस्त हो गये थे। काव्यमीमांसा बड़ौदा संस्कारण की भूमिका में सी० डी० दलाल कहते हैं कि राजशेखर ने प्रारम्भ में बाल कवि के रूप में रचना प्रारम्भ की और ये दोनों नाटक तथा विद्धशालभञ्जिका राजशेखर की प्राथमिक रचनायें हैं तथा कर्पूरमञ्जरी और काव्यमीमांसा अंतिम समय की रचनायें हैं। इस समय में वे कविराज के रूप में ख्यात हो चुके थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इनकी रचनाओं के क्रम में मत-ऐक्य नहीं है।

महामहोपाध्याय डा० वी० वी० मिराशी के अनुसार इन रचनाओं का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार है: १ बालरामायण, २: बालभारत, ३. कर्पूर-मञ्जरी, ४. विद्धशालभञ्जिका और ५. काव्यमीमांसा।

बालरामायण—की प्रस्तावना में राजशेखर ने अपने छह ग्रन्थों का निर्देश किया है। प्रतीत यह होता है कि बाल्यकाल में राजशेखर ने छह प्रबन्धों की रचना की थी जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। इसका यह अर्थ यदि किया जाय कि राजशेखर ने कुल छह ग्रंथों की ही रचना की और यह अंतिम ग्रन्थ है तो यह संगत नहीं बैठता, क्योंकि पहले तो इसमें बालकवि विशेषण है, दूसरे इस नाटक की लम्बी प्रस्तावना, व्यापक, अक्रम-विस्तार आदि इस ग्रन्थ की प्रारम्भिक रचना होने को सिद्ध करते हैं। इस नाटक में राजशेखर ने संपूर्ण रामचरित को एकत्र उपनिद्ध करने का प्रयास किया है।

बालभारत—बालभारत राजशेखर की द्वितीय रचना प्रतीत होती है। यह महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल की सभा में अभिनीत हुआ था। इस नाटक का

दूसरा नाम प्रचण्डपाण्डव है जो संभवतः महीपाल का निर्देश करता है। प्रचण्ड-पाण्डव की सभी हस्तप्रतियों में केवल दो ही अङ्क उपलब्ध होते हैं, जिससे अनुमान लगाया गया है कि यह राजशेखर की अंतिम रचना थी जिसे वे पूरा न कर सके थे। पर एक हस्तप्रति में स्पष्टतः लिखा है कि समाप्तमिदं प्रचण्डपाण्डवाभिधं नाटकम्। अतः इसे राजशेखर की अंतिम रचना नहीं मानी जा सकती। या तो वे इसे किसी कारणवश समाप्त नहीं कर पाये थे या यदि समाप्त किया था तो वह अंश किसी कारण से नष्ट हो गया। इस नाटक का मंगल श्लोक काव्य-मीमांसा में उद्धृत है।

कर्पूरमंजरी—स्टेनकोनो तथा कीथ इसे राजशेखर की आद्य कृति मानते हैं, क्योंकि यह किसी राजा के निदेश से नहीं रची गयी, अपितु अपनी स्त्री के आग्रह पर रचा गया। पर यह तर्क उचित नहीं। इस नाटक में राजशेखर अपने को निर्भयराज का अध्यापक बताते हैं (कर्पूर० १.१०)। अतः यह निश्चित है कि इसकी रचना के समय वे कन्नौज में थे अतः इसका कोई कारण नहीं कि इसका अभिनय राजदरबार में न हुआ हो। कवि अपना तथा अपने संरक्षकोंका विस्तृत विवरण अपने पूर्ववर्ती दो ग्रंथों में दे चुका है, अतः इसमें पुनः देने की अपेक्षा उसे प्रतीत न हुई। इस समय उन्होंने अपनी स्त्री का नाम संयुक्त करना चाहा जिनके वैदुष्य तथा काव्यशास्त्रीय पाण्डित्य का निर्देश काव्यमीमासा में उन्होंने स्थल-स्थल पर किया है। महामहोपाध्याय मिराशी चण्डपाल का अर्थ महीपाल से लगाते हैं और कहते हैं कि यह बालभारत के बाद की निर्मिति है क्योंकि इसमें महीपाल का कुन्तलराज की कन्या के साथ ब्याह वर्णित है (चण्डपालधरणी-हरिपाङ्के······१.१२)[1]

विद्धशालभञ्जिका—इस पुस्तक की रचना ९३५ ई० के लगभग हुई होगी। इस समय राजशेखर अपने पैतृक स्थान त्रिपुरी को लौट आये थे। कलचुरि युवाराजदेव प्रथम की विजय के स्मारक के रूप में इन्होंने अपने इस रूपक की रचना की होगी।[2]

काव्यमीमांसा—प्रस्तुत ग्रन्थ काव्यमीमांसा निस्सन्देह राजशेखर की अंतिम तथा प्रौढ रचना है जिसमें उन्होंने अपने नाटकों का उद्धरण दिया है। नाना शास्त्रों के परिचय विभिन्न मत-मतान्तरों का खण्डन-मण्डन यह स्पष्टतः सूचित करता है कि काव्यमीमांसा उनकी अंतिम रचना है।

राजशेखर के मान्य कवि—राजशेखर ने अपने को वाल्मीकि भर्तृमेण्ठ तथा भवभूमि का अवतार माना है—

---

१. मिराशी, स्टडीज इन इण्डोलाजी, भाग १ पृ० ५७–५९।
२. तत्रैव पृ० ५९।

बभूव वल्मीकिभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ।।

—बालभारत

वाल्मीकि का प्रसिद्ध इतिहास-काव्य—रामायण है। भर्तृमेण्ठ अनुपलब्ध ग्रन्थ 'हयग्रीव-वध' के रचयिता हैं। भवभूति के महावीरचरित, मालतीमाधव तथा उत्तर-रामचरित प्रसिद्ध नाटचकृतियाँ हैं। इनके ग्रन्थों से यह प्रतीत होता होता है कि सभी ने विष्णु या विष्णु के अवतारों का प्राधान्येन वर्णन किया है, अतः ये सभी वैष्णव ही थे। बालरामायण तथा बालभारत के रचयिता राजशेखर भी इसी सम्प्रदाय के प्रतीत होते हैं। राजशेखर का पाण्डित्य भी भवभूति जैसा व्यापक तथा परिनिष्ठित प्रतीत होता है। विभिन्न विषयों के वर्णन तथा परिनिष्ठित सिद्धान्तों के उपन्यास के लिये राजशेखर का महत्त्व अक्षुण्ण है। यदि भवभूति वेद, उपनिषद्, मीमांसा आदि नाना विषयों के परिनिष्ठित आचार्य हैं तो राज-शेखर भी किसी माने में कम नहीं। उनकी काव्यमीमांसा कवियों के लिये मार्ग-दर्शिका है। नाटककार के रूप में यद्यपि उन्हें ह्रासकाल का रचयिता भले ही कहा जाय पर उनके नाटकों का भी विशेष महत्त्व है।

४. राजशेखर का महत्त्व—यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि राजशेखर का साहित्यमीमांसक के रूप में क्या स्थान है? यह निर्विवाद है कि राजशेखर ने कवि तथा नाटककार के रूप में पर्याप्त सफलता तथा ख्याति अर्जित की है। पर यह भी सुतरां सत्य है कि साहित्यमीमांसक के रूप में भी राजशेखर का स्थान नितान्त उन्नत स्पृहणीय है। महामहोपाध्याय डा० काणे के अनुसार काव्य-मीमांसा अनेकों विषयों का आकर है। प्राचीन काल से चली आ रही अविच्छिन्न साहित्यधारा को राजशेखर ने एक बार पुनः गति प्रदान की।

जैसा कि काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय से स्पष्ट है कि उपलब्ध प्रथम अधिकरण अष्टादश अधिकरणात्मिका काव्यमीमांसा का एक अंश मात्र है। राजशेखर द्वारा बतायी सूची के अनुसार काव्यमीमांसा साहित्य के सम्पूर्ण अङ्गों को व्यापृत किये थी। इस व्यापकता की दृष्टि से राजशेखर सभी आलङ्कारिकों में मूर्धन्य हैं और यदि काव्य-मीमांसा अपने पूर्ण रूप में उपलब्ध होती तो अलङ्कारशास्त्र का इतिहास और समृद्ध तथा व्यापक होता।

राजशेखर के महत्त्व का इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि परवर्ती आचार्यों ने उनको अनेकशः उद्धृत किया है। जिन आचार्यों ने काव्यमीमांसा का उपयोग किया है उनमें क्षेमेन्द्र, भोज, हेमचन्द्र तथा परवर्ती वाग्भट प्रमुख हैं। अलङ्कारशेखर एकादश मरीचि के अन्त में राजशेखर का एक श्लोक उद्धृत करता है जो वर्तमान काव्यमीमांसा में अनुपलब्ध है। वह श्लोक इस प्रकार है—

अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम् ।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥

हेमचन्द्र ने ८, ६, एवं १३–१८ अध्यायों की नकल प्रस्तुत की है। इन उल्लेखों के आधार पर राजशेखर का व्यापक प्रचार तथा महत्त्व दर्शित होता है।

काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष की कल्पना राजशेखर की एक अनोखी देन है। प्रतीत यह होता है कि राजशेखर ने यह भावना वेद-पुरुष के आधार पर ग्रहण की। इसके अनुसार "वाणी की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी हिमवान् पर्वत पर पुत्र-प्राप्ति की इच्छा के तपस्या कर रही थीं। उनकी तपस्या से सन्तुष्ट प्रजापति ब्रह्मा ने उन्हें एक पुत्र-रत्न दिया जो बाद में काव्य-पुरुष के नाम से विख्यात हुये। उन्हीं से सर्वप्रथम छन्दोमयी वाणी आविर्भूत हुई। इस काव्य-पुरुष के शरीर की निर्मिति शब्दार्थ से हुई है। विभिन्न भाषायें उनके अङ्ग हुईं। एक समय जब सरस्वती देवी ब्रह्मा द्वारा श्रुतिविषयक ऋषियों के विवाद में निर्णायिका बनायी गयीं तो उनके ब्रह्मलोक में जाते समय उन काव्यपुरुष ने भी उनका अनुधावन किया। सरस्वती ने उन काव्य-पुरुष को मना किया पर जब वे नहीं माने तो उन्हें रोकने के लिये साहित्यविद्यावधू का निर्माण किया। उस साहित्य-विद्यावधू ने काव्यपुरुष को आकर्षित करने के लिये नाना वस्त्राभरणों को धारण किया। यात्रान्त होते-होते काव्यपुरुष को मुग्ध कर लिया। फिर वत्सगुल्म में दोनों का गान्धर्वरीति के विवाह हो गया। जिन-जिन प्रदेशों में साहित्य—विद्यावधू ने जो आभरण तथा सज्जा सज्जित की वहां के लोग उसमें अभ्यस्त हुये।" इस आख्यान में राजशेखर ने एक नवीन घटना की सृष्टि की है। यद्यपि वस्तुतः यह देवशास्त्रात्मक (मिथिकल) ही है पर एक नवीव कल्पना की सृष्टि में यह एक अनोखी वस्तु है।

राजशेखर का महत्त्व अलङ्कार-शास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास-निर्माण करने की दृष्टि से भी है। उन्होंने अनेकों पूर्व आचार्यों का नामतः उल्लेख किया है, जिससे उन आचार्यों की पूर्वभाविता तथा प्रचार का पता लगता है।

प्राचीन भारतीय भूगोल की जानकारी के लिए भी काव्यमीमांसा सुतरां उपादेय है। विभिन्न देशों की स्थिति का उन्होंने निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत में किस देश के लोग किस भाषा में विदग्ध तथा किसमें असमर्थ होते थे इसका पता देना राजशेखर की अपनी विशेषता है। किस प्रकार लोग भाषा का उच्चारण करते हैं इसका भी हमें पता लगता है।

संक्षेप में राजशेखर का स्थान संस्कृत—साहित्यशास्त्र में ऊंचा है तथा एक सीमित क्षेत्र में उन्होंने परवर्ती साहित्यशास्त्र पर खास प्रभाव डाला है।

राजशेखर : एक कवि-नाटककार—महाकवि राजशेखर एक उद्भट साहित्य-शास्त्र के निर्माता के अतिरिक्त एक उच्चकोटि के कवि तथा नाटककार हैं। जैसा कि संकेत किया गया है इनकी चार नाट्य कृतियां उपलब्ध हैं—बाल-रामायण, बालभारत, विद्धशालभञ्जिका और कर्पूरमंजरी। इन नाटकों में राजशेखर का नाटककार की अपेक्षा कविरूप अधिक स्पष्ट हुआ है। बालरामायण १० अङ्कों का एक विशालकाय नाटक है और इसमें लगभग ७८० पद्य हैं। इन पद्यों में अधिकांश पद्य तो लम्वे छन्दों में हैं। दो सौ से अधिक पद्य शार्दूल-विक्रीडित छन्द हैं और सौ के लगभग इससे भी लम्बे छन्द स्रग्धरा में हैं। इसी से राजशेखर के कवित्व के प्रति आग्रह का पता लग सकता है। इस नाटक में इन्होंने रामायण के आदिम वृत्तान्त से लेकर वनगमन, रावण-वध, राम-राज्याभिषेक आदि घटनाओं का उपन्यास किया है। प्रसिद्ध रामायणीय आख्यान में यत्र-तत्र परिवर्तन भी किया है पर ऐसे परिवर्तन की प्रवृत्ति भास के प्रतिमा तथा भवभूति के महावीरचरित में भी दिखायी पड़ती है। सब मिलाकर घटना-चक्र में त्वरा की इस नाटक में सुतरां कमी है और वर्णनात्मक पद्धति का प्राचुर्य है।

राजशेखर की दूसरी नाट्यकृति बालभारत है जिसका दूसरा नाम प्रचण्ड-पाण्डव भी है। प्रतीत यह होता है कि बालरामायण की ही शैली पर इस नाटक में महाकवि ने सम्पूर्ण महाभारत को अपना उपजीव्य बनाया होगा। पर दैव-दुर्विपाक से सम्प्रति केवल दो ही अङ्क उपलब्ध हैं। एक में द्रौपदी-स्वयंवर का विस्तृत वर्णन है और दूसरे में द्यूत का प्रसङ्ग वर्णित है। शैली बालरामायण जैसी ही है और कुछ पद्य बड़े अच्छे हैं।

राजशेखर की तीसरी नाट्यकृति कर्पूरमञ्जरी है जो प्राकृतभाषा में निबद्ध है। शास्त्रीय दृष्टि से यह सट्टक कही जाती है। इसमें चार अङ्क हैं। चण्डपाल का चरित तथा प्रणय इसमें दर्शनीय है। रानी के स्वभाव का वर्णन भी अच्छी तरह हुआ है।

विद्धशालिभञ्जिका—यह चार अङ्कों की नाटिका है। सामान्यतः राजशेखर के सभी नाटकों में नाट्य-संविधान की सफलता की अपेक्षा काव्य–परिपाक का प्राधान्य है। इस दृष्टि से देखने पर उनपर भवभूति, हर्ष और मुरारि का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। राजशेखर ने अपनी उपाधि कविराज रखी है। उनके दो बड़े नाटकों की अपेक्षा छोटे नाटकों में वे अधिक सफल हुये हैं। राजशेखर को अपने वर्णन-विस्तार का पता था इसी लिये उन्होंने बालरामायण में अभि-व्यक्ति का महत्त्व बताया है (१. १२)। पर उनकी यह वर्णनात्मक पद्धति औचित्य तथा अनुपात का जरा भी ध्यान नहीं देती और इस कारण नाटकीय

दृष्टि से वैरस्य और अरुचि को उत्पन्न करती है। कथानक के संविधान में त्रुटि, चरित्राङ्कन में असफलता इत्यादि इनके नाटकों में दिखाई पड़ते हैं। परवर्ती साहित्यशास्त्रियों ने इनके ग्रन्थों से पर्याप्त उद्धरण दिये पर उनमें यह हृदय की तन्मयता तथा सरलता नहीं जो भवभूति या कालिदास में दिखाई पड़ती है।

तथापि राजशेखर को वाक्पटुता तथा अभिव्यक्ति की सफलता से इनकार नहीं किया जा सकता। संस्कृत के ह्रासमान युग में कवियों में अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति का प्राधान्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ग्रीष्म का यह वर्णन सुन्दर हुआ है—

रजनिविरमयामेष्वादिशन्ती रतेच्छां
किमपि कठिनयन्ती नारिकेलीफलाम्भः।
अपि परिणमयित्री राजरम्भाफलानां
दिनपरिणतिरम्या वर्तते ग्रीष्मलक्ष्मीः॥

[यह ग्रीष्म-काल की लक्ष्मी फैल रही है। इसमें दिन का अन्त भाग रम्य होता है, इसमें रात्रि के अन्तिम प्रहर में रति की इच्छा होती है, नारिकेल फलों के अन्दर का जल कड़ा हो जाता है और राजरम्भा-फल पक जाते हैं।]

—:०:—

राजशेखर की प्रशस्तियां

यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः ।
नृत्यत्युदारं भणितेर्गुणस्था नटीव यस्योढरसा पदश्रीः ॥ ७ ॥

—सोड्ढल, उदयसुन्दरी, उच्छ्वास ८

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः ।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः ॥ २ ॥

—धनपाल, तिलकमंजरी ३३

पातुं कर्णरसायनं रचयितुं वाचं सतां संमतां
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः ।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः ॥ ३ ॥

—शङ्करवर्मा

बभूव वल्मीकिभवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥ ४ ॥

—राजशेखरः बालभारत

सौन्दर्याङ्कुरकन्दसुन्दरकथासर्वस्वसीमन्तिनी–
चित्ताकर्षणमन्त्रसन्मथसरित्कल्लोलवाग्वल्लभ ।
सौभाग्यैकनिवेश पेशलगिरामाधार धैर्याम्बुधे
धर्मादिद्रुम राजशेखरसखे दृष्टोऽसि यामो वयम् ॥ ५ ॥

अभिनन्द

बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः ।
इत्येतस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः ॥ ५ ॥

—अपराजित (कर्पूरमंजरी १।६)

कर्णाटीदशनाङ्कितः शिवमहाराष्ट्रीकटाक्षाहतः
प्रौढान्ध्रीस्तनपीडितः प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः ।
लाटीबाहुविवेष्टितश्च मलयस्त्रीतर्जनीतर्जितः
सोऽयं सम्प्रति राजशेखरकविः वाराणसीं वाञ्छति ॥ ७ ॥

—राजशेखर

—:०:—

काव्य-मीमांसा : विषय-सार

प्रथम अध्याय

इस अध्याय में राजशेखर ने बताया है कि श्रीकण्ठ ने परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्यों को काव्य-शास्त्र का उपदेश दिया। परमेष्ठी ब्रह्मा ने अपने शिष्य अयोनिज ऋषियों को इसका उपदेश किया। इसमें काव्यपुरुष सर्वश्रेष्ठ थे। प्रजापति ने प्रजाओं की हितकामना से भविष्यदर्थ के ज्ञाता तथा त्रिकालज्ञ उन काव्यपुरुष को काव्यविद्या के प्रचार के लिये नियुक्त किया। काव्यपुरुष ने अष्टादश अधिकरणों वाली काव्यविद्या को विस्तार के साथ शिष्यों को उपदिष्ट किया। इन अठारह अधिकरणों में विद्या को प्राप्त कर अठारह शिष्यों ने विशेष विषयों पर अपने-अपने ग्रन्थ रचे। सहस्राक्ष ने कविरहस्य पर, उक्तिगर्भ ने उक्ति पर, सुवर्णनाभ ने रीति-निर्णय पर, यम ने यमक पर, प्रचेता ने अनुप्रास पर, चित्राङ्गद ने चित्रकाव्य पर, शेष ने शब्दश्लेष पर, पुलस्त्य ने स्वभावोक्ति पर, औपकायन ने उपमा पर, पराशर ने अतिशयोक्ति पर, उतथ्य ने अर्थश्लेष पर, कुबेर ने उभयालङ्कार पर, कामदेव ने हास्य पर, भरत ने रूपक पर, नन्दिकेश्वर ने रस पर, धिषण ने दोष पर, उपमन्यु ने गुण पर, और कुचमार ने औपनिषदिक विषयों पर ग्रंथ लिखा।

इस प्रकार विकीर्ण रूप से लिखी होने से यह विद्या किञ्चित्कालानन्तर उच्छिन्न हो गयी। इस ग्रंथ में इन्हीं विषयों का संकलन कर अठारह अधिकरणों में उनका विन्यास किया गया है। प्रथम अधिकरण में शास्त्रसंग्रह, दूसरे में शास्त्र-निर्देश, तीसरे में काव्यपुरुषोत्पत्ति, चौथे में पदवाक्यविवेक, पांचवें में पाठप्रतिष्ठा, छठे में अर्थानुशासन, सातवें में वाक्यविधि, आठवें में कविविशेष, नवें में कविचर्या, दसवें में राजचर्या, ग्यारहवें में काकु प्रकार, बारहवें में शब्दार्थहरण, तेरहवें में कविसमय, चौदहवें में देश-कालविभाग और पन्द्रहवें में भुवनकोश का वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्याय

इस अध्याय में शास्त्र का निर्देश किया गया है। वाङ्मय दो प्रकार का है—१. काव्य और २. शास्त्र। शास्त्र का अध्ययन कर ही काव्य में प्रवेश करना चाहिये। काव्यज्ञान के लिये शास्त्र की उपयोगिता दीपकवत् है। शास्त्र दो प्रकार का है—पौरुषेय और अपौरुषेय। अपौरुषेय में मंत्रब्राह्मणमयी श्रुति है। मन्त्र क्रिया-तन्त्र के प्रकाशक हैं। मंत्रों की स्तुति-निन्दा के विनियोगात्मक ब्राह्मण

हैं। ऋग्, यजुः, साम—इन्हें त्रयी कहा जाता है। अथर्वन् चौथा वेद है। अर्थानुसार छन्दोबद्ध भाग ऋचा कहे जाते हैं। वे ही गीति–युक्त होने पर साम होते हैं। अछन्दोमय तथा अगीतिमय यजुष् हैं। ऋक्, यजुः और साममय अथर्ववेद है—ये ही चार वेद हैं। इतिहास–वेद, धनुर्वेद, गांधर्व-वेद और आयुर्वेद—ये चार उपवेद हैं। शिचा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छह वेदाङ्ग हैं। उपकारक होने से सातवां अङ्ग अलङ्कार है।

शिक्षा में वर्णों की स्थान और प्रयत्नादि के द्वारा निष्पत्ति बतायी जाती है। नाना शाखाओं में पठित मंत्रों के विनियोजक सूत्र कल्प कहे जाते हैं। व्याकरण में शब्दों का अन्वाख्यान होता है। निर्वचन की संज्ञा निरुक्त है। छन्दों का विवेचन छन्दःशास्त्र में होता है। ज्योतिष में ग्रह और गणित आते हैं।

पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, और स्मृतितंत्र ये चार पौरुषेय शास्त्र हैं। पुराण अठारह हैं। इनमें सृष्टि, विनाश, कल्प, मन्वन्तर और वंश-विधि वर्णित हैं। पुराण का ही भेद इतिहास है। इतिहास के उदाहरण रामायण तथा महाभारत हैं। बहुत से न्यायों के द्वारा निगम वाक्यों की विवेचिका मीमांसा स्मृतियाँ भी अठारह प्रकार की बतायी गई हैं। चार वेद, छह वेदाङ्ग और चार शास्त्र ये चौदह विद्यास्थान हैं। राजशेखर के अनुसार काव्य पन्द्रहवाँ विद्यास्थान है। कुछ लोगों के अनुसार चौदह पहले की तथा वार्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीति—ये अठारह विद्यास्थान हैं। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति ये चार विद्यायें हैं। राजशेखर साहित्य को पाँचवी विद्या मानते हैं। सूत्र पर सम्पूर्ण सारविवरण को वृत्ति कहते हैं। सूत्र-वृत्ति का विवेचन पद्धति है। इसी प्रकार भाष्य, समीक्षा, टीका, पञ्जिका, कारिका और वार्तिक का भी लक्षण इस अध्याय में बताया गया है।

तृतीय अध्याय

एक बार शिष्यों ने बृहस्पति से पूछा—'प्रभो! यह सरस्वतीपुत्र काव्य-पुरुष है?' बृहस्पति ने शिष्यों को बताया कि एक बार पुत्र की इच्छा से सरस्वती ने हिमालय पर तपस्या की। प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने कहा कि मैं तुम्हारे लिये पुत्र की रचना करता हूँ। सरस्वती ने काव्यपुरुष को उत्पन्न किया जिसने जन्म लेते ही छन्दोमयी वाणी में सरस्वती की वन्दना की। सरस्वती ने प्रसन्न होकर कहा—'पुत्र! तू जो मुझसे भी बढ़ गया। तुमसे पूर्ववर्ती लोगों ने गद्य ही देखा था पद्य नहीं। सारी भाषायें तथा काव्याङ्ग तेरे शरीर तथा अवयव हैं। अब तू बच्चे जैसी चेष्टा कर।'

फिर सरस्वती पर्वतशिला पर नवजात शिशु को सुलाकर आकाश गङ्गा में स्नान करने चली गयीं। इसी समय नित्य-क्रियानिमित्त कुशादि-चयन के लिये

महर्षि उशना उधर से निकले। उस बालक को अकेला देख उसे उठा कर अपने आश्रम में ले गये। उशना के हृदय में भी छन्दोमयी वाणी का प्राकट्य हुआ। तभी से उनकी कवि संज्ञा हुई।

स्नान से लौटकर जब सरस्वती ने पुत्र को नहीं देखा तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे आक्रन्दन करने लगीं। इसी समय महर्षि वाल्मीकि वहाँ आ गये और सब समाचार बताकर भृगुपुत्र उशना (शुक्र) का आश्रम सरस्वती को दिखा दिया। कृतज्ञता-वश सरस्वती ने वाल्मीकि को भी छन्दोबद्ध रचना का वरदान दिया। मुनि वाल्मीकि को भी क्रौञ्च-द्वन्द्व में से एक के मारे जाने पर 'मा निषाद' आदि श्लोक प्रस्फुटित हुआ। उन महामुनि ने रामायण नामक इतिहास-ग्रन्थ की रचना की। महर्षि व्यास ने 'मा निषाद' श्लोक को पहले पढ़ा और उसी के प्रभाव से शतसाहस्री महाभारत संहिता का निर्माण किया।

एक बार ब्रह्म-सभा में ऋषियों और देवताओं के बीच विवाद होने पर स्वयम्भू ब्रह्मा ने सरस्वती को निर्णयकर्त्री बनाया। जब सरस्वती ब्रह्मलोक जाने लगीं तो काव्यपुरुष भी इनके पीछे-पीछे चलने लगा। मना करने पर भी जब वह नहीं माना तो पार्वती ने अपनी प्रिय सखी के पुत्र को प्रेम-बन्धन में डालने के लिये साहित्यविद्यावधू को उत्पन्न किया। मुनियों को भी इन्होंने इन दोनों की स्तुति करने को कहा।

सर्व प्रथम काव्य पुरुष पूर्व दिशा की ओर गया। साहित्यविद्यावधू ने उसे रिझाने का प्रयास किया, पर विशेष आकर्षण उत्पन्न न कर सकी। फिर काव्य-पुरुष पाञ्चाल देश में गया और इसके बाद अवन्ती में गया। इसके बाद वह दक्षिण दिशा की ओर गया। फिर उत्तर की ओर चक्रवर्ति-क्षेत्र में आया। अन्त में विदर्भ देश में भगवान् कामदेव के क्रीडा-स्थल वत्सगुल्म नगर में काव्यपुरुष ने गान्धर्व-रीति से साहित्यविद्यावधू के साथ विवाह किया। इस यात्रा-प्रसङ्ग में काव्यपुरुष जिस-जिस देश में गया वहाँ-वहाँ मुनिजन भी उसका अनुगमन करते हुये गये तथा उसकी उन्होंने स्तुति की।

चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय में पदवाक्य का विवेक वर्णित है। कवि दो प्रकार के होते हैं—बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धि। जिसकी बुद्धि स्वभावतः शास्त्र का अनुधावन करती है वह बुद्धिमान् है और जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्यास से संस्कृत होती है वह आहार्य-बुद्धि है : बुद्धि भी तीन प्रकार की है—स्मृति, मति और प्रज्ञा। वर्तमान विषयों का मनन करने वाली बुद्धि मति है। बीते हुये अर्थ का स्मरण करने वाली स्मृति है और भविष्यदर्थों को जानने वाली प्रज्ञा है। बुद्धिमान् व्यक्ति सुनने को

इच्छा करता है, सुनता है, ग्रहण करता है, धारण करता है, जानता है, कल्पना करता है और तत्त्व को प्राप्त करता है। आहार्यबुद्धि के भी वे ही गुण हैं, यद्यपि उसे पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है।

इन दोनों से अन्यथा बुद्धि वाला दुर्बुद्धि है। उसे सर्वत्र उलटा ही सूझता है। उसकी बुद्धि नीले रंग के रंगे वस्त्र के समान है जिस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता।

आचार्य श्यामदेव का विचार है कि काव्यकर्म में समाधि ही सर्वोत्कृष्ट है। मन की एकाग्रता समाधि है। आचार्य मंगल का अभिमत है कि अभ्यास ही सर्वोत्कृष्ट साधन है। लगातार अनुशीलन का नाम ही अभ्यास है। समाधि आन्तरिक प्रयत्न है और अभ्यास बाह्य। ये दोनों शक्ति को उद्भासित करते हैं। अतः राजशेखर की राय है कि वह 'शक्ति'तत्त्व ही काव्य का अकेले हेतु है।

शक्ति, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से भिन्न है। शक्तिशाली को ही प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति होती है। जो शब्दार्थालङ्कार आदि को हृदय में प्रतिभासित करावे वह प्रतिभा है। प्रतिभावान् के लिए सभी पदार्थ परोक्ष की नाईं होते हैं किन्तु प्रतिभाशाली के लिए परोक्षभूत पदार्थ भी प्रत्यक्ष होते हैं। मेघाविरुद्र, कुमारदास आदि कवि जन्मान्ध सुने जाते हैं।

प्रतिभावान् कविलोग देशान्तर, द्वीपान्तर आदि के भी व्यवहारों का वर्णन करते हैं।

प्रतिभा के दो भेद हैं, कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारिका होती है। उसके तीन प्रकार होते हैं; सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। जन्मान्तर संस्कारोत्पन्ना सहजा है। इसी जन्म के संस्कार से उत्पन्न आहार्या है। मंत्र-तंत्र तथा उपदेश से उत्पन्न औपदेशिकी कही जाती है। इस प्रकार की तीनों प्रतिभाओं से युक्त कवियों को क्रमशः सारस्वत, आभ्यासिक तथा औपदेशिक कहते हैं। प्रारम्भिक दो अर्थात् सारस्वत तथा आभ्यासिक को तंत्रानुष्ठान की उसी प्रकार आवश्यकता नहीं होती जैसे स्वभावमधुरा द्राक्षा को फाणित (इक्षुरस) के संस्कार की अपेक्षा नहीं होती। राजशेखर के अनुसार अधिक से अधिक जितना गुण प्राप्त कर लिया जाय उतना ही अच्छा है। कवियों की क्रमिक श्रेणी भी गुणानुसार होती है।

इस प्रकार कारयित्री प्रतिभा का विवेचन करने के अनन्तर आलोचक की उपकारिका भावयित्री प्रतिभा का विवेचन किया गया है। यही प्रतिभा कवि की कविता को सफल बनाती है। प्राचीनों का कथन है कि कवि तथा भावक में अभेद है क्योंकि दोनों ही कवि हैं। पर कालिदास की सम्मति में कवित्व तथा भावकत्व पृथक्-पृथक् हैं। इनमें स्वरूप-भेद तथा विषय-भेद दोनों होते हैं।

मङ्गल के अनुसार आलोचक दो प्रकार के होते हैं—अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। वामन के मतानुयायियों के अनुसार कवि भी इन दो कोटियों में आते हैं। राजशेखर के अनुसार मत्सरी तथा तत्त्वाभिनिवेश को मिलाकर ये चार प्रकार के होते हैं। अरोचकी आलोचक वे हैं जिन्हें अच्छी भी कविता अच्छी नहीं लगती। सतृणाभ्यवहारी को सभी कवितायें अच्छी लगती हैं। मत्सरी आलोचक ईर्ष्यावश किसी भी कविता को हेय ठहराते हैं। तत्त्वाभिनिवेशी निष्पक्ष आलोचक होते हैं। तत्त्वाभिनिवेशी सहस्रों में कोई एक होता है।

पञ्चम अध्याय

आचार्यों की धारणा है कि बहुज्ञता ही व्युत्पत्ति है, क्योंकि कवि की वाणी चतुर्दिक् प्रसृत होती है। राजशेखर की राय में उचित-अनुचित-विवेक ही व्युत्पत्ति है। आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतिभा और व्युत्पत्ति में प्रतिभा ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह कवि के अव्युत्पत्तिजन्य दोष को ढंक लेती है। पर अशक्तिजन्य दोष नही छिपता। शक्ति शब्द का लाक्षणिक अर्थ प्रतिभा है। पर आनन्दवर्धन के विरुद्ध मंगल आचार्य कहते हैं कि व्युत्पत्ति ही वरीयसी है, वह कवि के अशक्तिजन्य दोष को आच्छादित कर देती है। राजशेखर समन्वय करते हुये कहते हैं कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों एक साथ ही श्रेष्ठ हैं। जैसे लावण्य के बिना सौन्दर्य तथा सौन्दर्य के बिना लावण्य फीका है वैसे ही इन दोनों की स्थिति है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त कवि ही कहा जाता है।

कवि तीन प्रकार के होते हैं—१. शास्त्रकवि, २. काव्यकवि और ३. उभय-कवि। श्यामदेव नामक आचार्य के अनुसार इन तीनों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। पर राजशेखर कहते हैं कि नहीं। अपने-अपने विषय में सभी श्रेष्ठ हैं। शास्त्र और काव्य का परस्पर उपकारक-उपकार्य सम्बन्ध है। शास्त्रसंस्कार काव्य का उपकारक है, पर शास्त्रैकप्रवणता अनुपकारक।

शास्त्रकवि तीन प्रकार के होते हैं—१. जो शास्त्र का निर्माण करे, २. जो शास्त्र में काव्य का आधान करे और ३. जो काव्य में शास्त्रार्थ को निहित करे।

काव्यकवि आठ प्रकार के होते हैं—१. रचनाकवि, २. शब्दकवि। ३. अर्थकवि, ४. अलङ्कारकवि, ५. उक्तिकवि, ६. रसकवि, ७. मार्गकवि और ८. शास्त्रार्थकवि। शब्दकवि के भी नाम, आख्यात और अर्थ-भेद से तीन प्रकार होते हैं। इसी प्रकार शब्दालङ्कार तथा अर्थाङ्कार के भेद से अलङ्कार कवि के भी दो भेद होते हैं।

उपर्युक्त गुणों में से दो, तीन से युक्त कवि कनिष्ठ, तथा पाँच से युक्त मध्यम कोटि का तथा सभी गुणों से युक्त उत्तमकोटि का या महाकवि होता है।

कवियों की दश अवस्थायें होती हैं। बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि की सात तथा औपदेशिक की तीन अवस्थायें होती हैं। ये अवस्थायें हैं—१. काव्यविद्यास्नातक, २. हृदय-कवि, ३. अन्यापदेशी, ४. सेविता, ५. घटमान, ६. महाकवि, ७. कविराज, ८. आवेशिक, ९. अविच्छेदी, और १०. संक्रामयिता।

सतत अभ्यास से कवि के वाक्य में पाक आता है। मंगल के अनुसार परिणाम ही पाक है। अन्य आचार्यों के अनुसार पद-प्रयोग में निडरता ही पाक है। वामन के अनुसार एक बार लिखे गये पद का अपरिवर्तन ही पाक है। राजशेखर कहते हैं कि जहाँ शब्दों के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं वहाँ शब्दपाक है। जहाँ रस, गुण, अलङ्कार का सुन्दर क्रम है वहाँ वाक्यपाक है। यह पाक नव प्रकार का होता है—१. पिचुमन्दपाक, २. बदरपाक, ३. मृद्वीका-पाक, ४. वार्त्ताकपाक, ५. तिन्तिडीपाक, ६. सहकारपाक। ७. क्रमुकपाक, ८. त्रपुसपाक और ९. नारिकेल पाक। इन नवों के तीन-तीन के तीन वर्ग बनते हैं। इन वर्गों में से आद्य (पिचुमन्द, वार्त्ताक, और क्रमुक) त्याज्य है। मध्यम (वदर, तिन्तिडी और त्रपुस) संस्कार-योग्य है और अन्तिम ग्राह्य है। संस्कार से गुणों का उत्कर्ष होता है। कविता न करना ठीक है पर कुकवि होना ठीक नहीं। वह सजीव मरण है।

षष्ठ अध्याय

इस अध्याय में सर्वप्रथम पद की व्याख्या की गई है और उसकी सुप्, समास, तद्धित, कृत् और तिङ्, ये पाँच वृत्तियाँ बतायी गई हैं। पदजात अनन्त कहे गये हैं। तदनन्तर वाक्य की व्याख्या है। इसके तीन अभिधा-व्यापार कहे गये हैं—१. वैभक्त, २. शाक्त और ३. शाक्तवैभक्त। इन तीनों की उदाहरण-मुखेन व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस अध्याय में दश प्रकार के वाक्य बताये गये हैं : १. एकाख्यात, २. अनेकाख्यात (सान्तर और निरन्तर), ३. आवृत्ताख्यात, ४. एकाभिधेयाख्यात, ५. परिणताख्यात, ६. अनुवृत्ताख्यात, ७. समुचिताख्यात, ८. अध्याहृताख्यात, ९. कृदभिहिताख्यात और १०. अनपेक्षिताख्यात। काव्य की परिभाषा देते हुये कहा है कि 'गुण तथा अलङ्कार से युक्त वाक्य काव्य है।' इस अध्याय में काव्य पर किये जाने वाले विभिन्न आक्षेपों का खण्डन किया गया है। कुछ लोग कहते हैं कि काव्य में असत्य बातों का वर्णन रहता है अतः वह अनुपदेश्य है। इसी भांति कुछ लोग कहते हैं कि काव्य में अश्लील बातों का वर्णन रहता है अतः वह उपदेश योग्य नहीं। राजशेखर ने इन आक्षेपों का उत्तर देते हुये कहा है कि ऐसे वचन तो श्रुति तथा शास्त्र दोनों जगह मिलते हैं, अतः ऐसे वचनों को उपदेश के अयोग्य कैसे कहा जा सकता है ?

सप्तम अध्याय

पुराणादि के मतानुसार निर्मातृ-भेद से वाक्य तीन प्रकार के हैं—१. ब्राह्म, २. शैव तथा ३. वैष्णव। ब्राह्म वचन के पाँच भेद बताये गये हैं—१. स्वायम्भुव, २. ऐश्वर, ३. आर्ष, ४. आर्षीक और ५. आर्षिकपुत्रक। स्वयम्भू ब्रह्मा को कहते हैं और उनका वचन स्वायम्भुव हुआ। ब्रह्मा के भृग्वङ्गिरा आदि मानस पुत्र ईश्वर नाम से अभिहित किये जाते हैं अतः इनके वचन ऐश्वर हैं। भृग्वङ्गिरा आदि के पुत्र ऋषि कहे जाते हैं अतः उनके वचन आर्ष हुये। इन ऋषियों के पुत्रों की संज्ञा ऋषीक है और उनके वचन आर्षीक हुये। ऋषीक-पुत्रों के वचन आर्षिकपुत्रक हैं।

तदनन्तर विभिन्न वैबुध, विद्याधर, गान्धर्व, योगिनीगत—इन चार प्रकार के दैवी वचनों का उपन्यास है। इन वचनों का सोदाहरण निर्देश है। वैष्णव-वचन को मानुष भी कहते हैं। यह वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली इस रीतित्रिय के भेद से त्रिधा है।

इसके बाद राजशेखर ने काकु का विस्तृत विवेचन किया है। 'काकु वक्रोक्ति नामक शब्दालङ्कार है' इस रुद्रट के मत का निरास किया गया है। यहाँ बताया गया है कि काकु पाठ-धर्म है और उसके साकांक्ष तथा निराकांक्ष ये दो भेद हैं। साकांक्ष काकु के तीन प्रकार हैं : १. आक्षेपगर्भ, २. प्रश्नगर्भ एवं ३. वितर्कगर्भ। निराकांक्ष काकु के भी प्रकारत्रय का ही निर्देश है—१. विधिरूप, २. उत्तररूप एवं ३. निर्णयरूप। इन विभिन्न प्रकारों का उपन्यास उदाहरणमुखेन किया गया है। काकु तथा साधारण पाठ के विषय में नाना संग्रह श्लोक दिये गये हैं।

राजशेखर ने इस अध्याय में विभिन्न देशवासियों की पाठ-प्रणाली के विषय में बड़ी ही मनोरञ्जक तथा सटीक बातें बतायी हैं। उदाहरणार्थ बंगालियों के प्राकृत-पाठ में असमर्थता एवं काश्मीरियों की पाठ-प्रणाली की कर्ण-कटुता का बड़ा ही रञ्जक चित्रण किया है। आचार्य ने मध्यप्रदेश के निवासियों के पाठ की प्रशंसा की है।

अष्टम अध्याय

इस अध्याय में काव्ययोनि अर्थात् काव्य के स्रोत कौन हैं, इसका वर्णन किया किया गया है। काव्यार्थ की सोलह योनियाँ बतायी गयी हैं : श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोक, विरचना, प्रकीर्णक, उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग, और संयोगविकार। इनका नाना उदाहरणों से स्पष्टीकरण किया गया है। यहाँ मुख्यतः यह बताया गया है कि कवि को लोक तथा विभिन्न शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान होना अत्यावश्यक है। यदि ये ज्ञान न होंगे तो उसकी रचना-शक्ति कुण्ठित हो जायेगी।

नवम अध्याय

इस अध्याय में अर्थ के सात प्रकार बताये गये हैं : १. पातालीय, २. मर्त्य-पातालीय, ३. दिव्य-पातालीय, ४. दिव्यमर्त्य-पातालीय, ५. दिव्य, ६. दिव्यमानुष और ७. मानुष। इनमें दिव्यमानुष चार तरह के हैं :—१. दिव्यका मर्त्यागमन और मर्त्य का दिव्यागमन, २. दिव्य के मर्त्य होने और मर्त्य के दिव्य होने, ३. दिव्य इतिवृत्ति की परिकल्पना और ४. प्रभावाविर्भूतदिव्यता। इन वाक्यों की सोदाहरण व्याख्या है। तदनन्तर विषयों की असीमता तथा अर्थों की अनन्तता बताई गयी है। अर्थों को दो भागों में बांटा गया है—१. विचारित सुस्थ तथा २. अविचारित रमणीय। पहला शास्त्रों का विषय है, दूसरा काव्य का। यहाँ बताया गया है कि काव्य में सरसता अथवा वैरस्य विषय के कारण नहीं, अपितु कवि की शक्ति वा आसक्ति के कारण होता है। अति नीरस से नीरस विषय को समर्थ कवि सरस बना देता है और इसके विपरीत सरस विषय को भी असमर्थ कवि नीरस कर देता है। इसीलिए नदी, पहाड़ तथा समुद्र के वर्णन में सरसता उत्पन्न हो जाती और विप्रलम्भ शृङ्गार जैसे सरस विषय में भी वैरस्य आ जाता है। इन सबका उदाहरणों के साथ विशद विवेचन किया गया है।

इसके बाद वस्तु का विवेचन है तथा मुक्तक प्रबन्ध के भेद से दो प्रकार के काव्य बताये गये हैं। फिर इनमें प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद दर्शाये गये हैं : १. शुद्ध २. चित्र, ३. कथोत्थ, ४. संविधानकभू और ५. आख्यानकवान्। इनका भी विस्तृत सोदाहरण निर्देश है। पुनः बताया गया है कि यद्यपि यह विवेचन मुख्यतः संस्कृत काव्यों को ही दृष्टि में रखकर किया गया है तथापि प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश आदि के कवियों को भी समानरूपेण इन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

दशम अध्याय

काव्यमीमांसा के दशवें अध्यायका एक विशेष महत्त्व है। वस्तुतः यह कवियों का आचार-कोश है। प्रारम्भ में नाम, धातु, परायण आदि काव्यविद्याओं तथा काव्यमातृकाओं की गणना है। तदनन्तर कवि के घर, परिचारक, मित्र; लेखक तथा उसके घर की भाषा की व्यवस्था है. इसमें बताया गया है कि कवि का प्रसाधन कैसा हो। कवि के लिये सदा शौच तथा परदोषान्वेषण से विरत होना चाहिये। उसे यथार्थवादी भी होना आवश्यक है। उसका घर षड्ऋतुओं के उपयुक्त तथा नाना वाटी, क्रीडापर्वतादि से संयुक्त होना चाहिये। नौकरों को अपभ्रंशभाषा में प्रवीण होना चाहिये तथा परिचारिकायें मागधी भाषा में भी विदग्ध हों। कवि के मित्रों को सभी भाषाओं का जानकार होना चाहिये। कवि का लिपिक सभी भाषाओं में कुशल शीघ्रवादी, सुलेखक, संकेतज्ञ, नाना लिपियों का जानकार स्वयं कवि, तथा लाक्षणिक होना चाहिये। घर की भाषा

के विषय में गृहस्वामी यथेच्छ व्यवहार कर सकता है। इस विषय में शूरसेन आदि देशों के राजाओं के घर की भाषा का निर्देश है। कवि की लेख-सामग्री की भी व्यवस्था है।

कवि को कविता किस समाज में पढ़नी चाहिये इसका भी यहाँ निर्देश है। किस देश के कवि किस भाषा में दक्ष हैं इसका संक्षिप्त उपन्यास है। कवि के लिए समय-विभाग आवश्यक है और तदनुसार उसे कार्य करना चाहिये। कवि को प्रातः-सायं सन्ध्या करनी चाहिये। कवि चार प्रकार के होते हैं १. असूर्यम्पश्य, २. निषण्ण, ३. दत्तावसर तथा ४. प्रायोजनिक। कवि के लिये आलस्य हानिकर है तथा उसके लिये पाँच महती विपत्तियाँ हैं।

राजाओं को समय-समय पर कवि-गोष्ठियों का आयोजन करना चाहिये। इस गोष्ठी में प्रत्येक भाषा के कवि का स्थान नियत होना चाहिये। इसमें महान् काव्य की यथोचित पूजा होनी चाहिये तथा कवि को सम्मान मिलना चाहिये। गोष्ठी के बीच-बीच में शास्त्रार्थ की व्यवस्था अपेक्षित है। काव्य की परीक्षा के लिये बड़े नगरों में सम्मेलन कराना चाहिये। इस सम्मेलन में जो श्रेष्ठ हो उसे रथ, तथा पट्टबन्ध (तमगा) देना चाहिये। इस प्रकार की काव्य-परीक्षा प्राचीन काल में उज्जयिनी नगरी में होने की बात सुनी जाती है। यहाँ कालिदास, भर्तृमेण्ठ, भारवि आदि की परीक्षा हुई थी तथा पाणिनि आदि की परीक्षा पटना में हुई थी।

एकादश अध्याय

एकादश अध्याय में हरण का विषय प्रारम्भ किया गया है। शब्दार्थ-हरण में शब्द-हरण पाँच प्रकार का है। १. पद की दृष्टि से, २. पाद की दृष्टि से, ३. आधे पद्य की दृष्टि से, ४. वृत्त की दृष्टि से और ५. प्रबन्ध की दृष्टि से। इन पाँचों भेदों का सोदाहरण वर्णन किया गया। प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में एक दो पद का हरण वस्तुतः हरण नहीं है पर राजशेखर की राय में ऐसी बात नहीं। उनके अनुसार केवल श्लिष्ट पद का हरण ही अदोषकर है। तदुपरान्त राजशेखर ने बताया है कि उद्धरण के रूप में किसी प्राचीन कवि के पद या पाद का हरण नहीं अपितु स्वीकरण है।

इस अध्याय में शब्द-हरण के गुण दोष का भी विन्यास है। कविता को खरीदना भी गर्हित बताया गया है। यश की प्राप्ति न हो यह तो सह्य है पर दुर्नाम की प्राप्ति हेय है। दूसरे की उक्ति का अर्थान्तरित कर देने से पर्याप्त माधुर्य तथा रस का भी सञ्चार हो जाता है। ऐसा कौन कवि वणिक् है जो चोरी नहीं करता, पर चोरी कर उसे छिपा लेना एक महनीय गुण है।

अन्त में चार प्रकार के कवि बताये गये हैं : उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक तथा संवर्गक। इनकी सोदाहरण व्याख्या है। महाकवि वह है जो नवीन कल्पनाओं की सृष्टि करे और प्राचीन में नवीनता का रङ्ग देकर अधिक आह्लादक बना दे।

द्वादश अध्याय

इस अध्याय में अर्थ-हरण का विवेचन है। प्राचीन आचार्यों की सम्मति में प्राचीन कवियों की विपुल रचनाओं के कारण नवीन कल्पनाओं का अभाव हो गया है, अतः नवीन कवियों को उसी को मांजना चाहिये। पर वाक्पतिराज नामक आचार्य की राय उन से भिन्न हैं। वे कहते है कि 'वाणी के समुद्र से यद्यपि कल्प के आरम्भ से ही कविगण रत्न लेते रहे, पर आज भी वह सागर रिक्त नहीं है और उसमें पर्याप्त नये विषय हैं।' यही मत राजशेखर का भी है। सारस्वत दृष्टि दृष्टादृष्ट सभी क्षेत्रों में विचरण करती है।' जहाँ तक कवि देखते हैं वहाँ देवताओं का भी प्रवेश नहीं।

अर्थ-हरण के तीन भेद बताये गये हैं—१. अन्ययोनि, २. निह्नुतयोनि और ३. अयोनि। इनका सोदाहरण निर्देश है। निह्नुतयोनि के दो भेद हैं। १. तुल्य-देहितुल्य तथा २. परपुरप्रवेशसदृश। लौकिक कवि चार प्रकार के हैं—१. भ्रामक, २. चुम्बक, ३. कर्षक और ४. द्रावक। पाँचवे प्रकार के चिन्तामणि संज्ञक अलौकिक कवि का निर्देश है। यह अदृष्ट अर्थों को देखता है। प्रतिबिम्ब-कल्प आदि चार प्रकार के वाक्यों का आठ-आठ प्रकार से हरण होने से बत्तीस हरण-प्रकार हैं। प्रतिबिम्बकल्प के आठों प्रकारों का उदाहरण के साथ वर्णन है। ये आठ प्रकार हैं, व्यस्तक, खण्ड, तैलबिन्दु, नटनेपथ्य, छन्दोविनिमय, हेतुव्यत्यय, संक्रान्तक, और सम्पुट। ये आठों प्रकार के हरण निन्दित तथा कवित्व-शक्ति के नाशक हैं।

त्रयोदश अध्याय

इस अध्याय में आलेख्य-प्रख्य, तुल्यदेहितुल्य, तथा परपुर-प्रवेश सदृश—अर्थ के इन तीन प्रकारों में प्रत्येक के आठ–आठ भेद बताये गये हैं। आलेख्य-प्रख्य के आठ भेद हैं—१. समक्रम, २. विभूषणमोष, ३. व्युत्क्रम, ४. विशेषोक्ति ५. उत्तंस, ६. नटनेपथ्य, ७. एकपरिकार्य, और ८. प्रत्यापत्ति। ये लक्षण—उदाहरण सविस्तर उपन्यस्त हैं। तुल्य देहि-तुल्य के भी आठ भेद हैं–१. विषय-परिवर्त, २. द्वन्द्व–विच्छित्ति, ३. रत्नमाला, ४. संख्योल्लेख, ५. चूलिका, ६. निधानापहार, ७. माणिक्यपुंज और ८. कन्द। इनका भी स्पष्ट विवेचन किया गया है। परपुर-प्रवेश सदृश के आठ भेद हैं—१. हुडयुद्ध २. प्रतिकञ्चुक ३. वस्तुसञ्चार, ४. धातुवाद ५. सत्कार, ६. जीवञ्जीवक ७. भावमुद्रा और ८.

तद्विरोधी। इस प्रकार इन तीनों के भेदों को सम्मिलित कर अर्थहरण के ३२ भेद हैं। इन्हीं के स्वीकार-ग्रहण में कवित्व की परख है। पद-संघटना तो नैयायिक, मीमांसक, वैयाकरण आदि भी जानते हैं पर नवीन वस्तु और नवीन उक्ति के धनी कवियों के वचन तो सर्वतः वरेण्य हैं।

चतुर्दश अध्याय

इस अध्याय से कवि समय का विवेचन प्रारम्भ किया गया है। अशास्त्रीय, अलौकिक परम्पराप्राप्त अर्थ का अनुबन्धन ही कविसमय है। वैसे तो अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थ का निबन्धन दोष है पर राजशेखर का अभिमत है कि प्राचीन विद्वानों ने वेदों एवं शास्त्रों का अध्ययन कर और देशान्तरों का परिभ्रमणकर जिन अर्थों को उपनिबद्ध किया उनका देशकालादि भेद से परिवर्तन हो जाने पर भी उसी रूप में वर्णन करना चाहिये—यही कवि-समय है। कवि-समय इसका इसलिये नाम पड़ा कि लोग वस्तु के मूल को तो जानते नहीं कि किस समय इसका यथार्थ रूप में प्रयोग था अतः वे इसे रूढ़ार्थ में ग्रहण करने लगे। पर यहाँ यह भी स्मरणीय है कि यद्यपि कुछ कविसमय तो प्राचीन विद्वानों के अनुभव पर आधृत थे पर कुछेक का प्रचलन धूर्तों ने प्रतिस्पर्धा या स्वार्थवशात् भी कर दिया।

कवि-समय तीन प्रकार का होता है—१. स्वर्ग्य, २. भौम और ३. पातालीय। स्वर्ग्य-पातालीय की अपेक्षा भौम प्रधान है और उसका क्षेत्र इन दोनों की अपेक्षा विस्तृत है। भौम कविसमय चार प्रकार का होता है—१. जातिरूप, २. द्रव्यरूप, ३. गुणरूप और ४. क्रियारूप। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—१. असत् का निबन्धन, २. सत् का अनिबन्धन और ३. नियम। इसके अनन्तर इस अध्याय में जातिरूप और द्रव्यरूप कविसमय का उसके भेदों के साथ सविस्तर व्याख्यान किया गया है।

पञ्चदश अध्याय

इस अध्याय में गुणगत कविसमय की स्थापना की गई है। इस अध्याय में यह दर्शाया गया है कि कविसमय के अनुसार हास्य का रङ्ग शुक्ल, पाप का कृष्ण, क्रोध-अनुराग आदि का रक्त है। इनकी सोदाहरण व्याख्या की गई है। इस प्रकार वास्तविक गुणों को जिस रूप में वे लोक में है उस रूप में वर्णन न कर अन्याथात्वेन उनका उपन्यास गुणगत असत् का निबन्धन है, जैसे—कुन्दकलियों तथा कामियों के दाँतों का रक्तवर्ण, कमल-कलिकाओं का हरित-वर्ण इत्यादि। इनके भी उदाहरण उपन्यस्त किये गये हैं। कुछ रङ्गों को एक प्रकार से भी वर्णित किया जाता है अर्थात् उनमें पार्थक्य नहीं माना जाता। जैसे कृष्ण

तथा हरित का, पीत तथा रक्त का, शुक्ल और गौर का। इनके उदाहरण प्रदर्शित किये गये हैं।

षोडश अध्याय

इस अध्याय में स्वर्ग्य तथा पातालीय कवि-समय का विवेचन है। भौम कवि-समय के समान ही स्वर्ग्य कविसमय भी है, चन्द्रस्थ कलङ्क में शशक और हरिण का ऐक्य। इसी प्रकार कामदेव की ध्वजा में मकर और मत्स्य की एकता का भी वर्णन किया जाता है। चन्द्रोत्पत्ति का समुद्र या अत्रिनेत्र से वर्णन शिव के भालस्थ चन्द्र का सदैव बालत्व भी इसी कोटि में है। पातालीय कविसमय भी भौम तथा स्वर्ग्य के समान हैं। इसके उदाहरण हैं—भेद होते हुये भी नाग और सर्पों का ऐक्य-वर्णन, दैत्य, दानव तथा असुरों में एकत्व का प्रतिपादन आदि। इन सबका इस अध्याय में सोदाहरण वर्णन है।

सप्तदश अध्याय

यह भूगोल से सम्बद्ध अध्याय है। इसमें देश-विभाग का वर्णन है। कुछ लोगों की राय है कि जगत् एक ही है तो कुछ लोग कहते हैं कि द्यावापृथिवी-भेद से दो लोक हैं। कुछ लोगों के अनुसार स्वर्ग, भूमि और पाताल तीन लोक हैं। इन तीन लोकों का नाम कुछ लोग भूः, भुवः और स्वः भी देते हैं—अन्य लोग इन तीनों लोकों में महः, जनः, तपस् और सत्य इन चार लोकों को मिला कर सात लोक मानते हैं। ये ही सात लोक सात वायु-स्कन्धों के साथ मिलकर चौदह हो जाते हैं। इनमें सात पातालों को जोड़ कर इनकी संख्या इक्कीस होती है—ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं। इन लोकोंमें भूलोक तो पृथ्वी है जिससे जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शक और पुष्कर ये सात द्वीप हैं। ये सातों द्वीप क्रमशः लवण, रस, सुरा, घृत, दधि, दूध और मधुर जल से घिरे हैं। इसके विपरीत कुछ लोग तीन तथा कुछ लोग चार समुद्रों की स्थिति मानते हैं।

जम्बू द्वीप के मध्य में पर्वतों का राजा मेरु है। पर्वत के चतुर्दिक् इलावृत पर्वत है। उससे उत्तर नील, श्वेत तथा शृङ्गवान्—ये तीन पर्वत तथा रम्यक हिरण्मय और उत्तर कुरु ये तीन देश हैं। दक्षिण की तरफ निषध, हेमकूट और हिमालय तीन पर्वत तथा हरिवर्ष, किंपुरुष और भारत वर्ष तीन देश हैं। भारत-वर्ष के इन्द्रद्वीपक, कसेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण और कुमारोद्वीप—ये नव प्रदेश हैं।

सभी द्वीपों का विजेता सम्राट् कहा जाता है। कुमारी क्षेत्र से बिन्दुसार तक के प्रदेश को चक्रवर्ति-क्षेत्र कहते हैं। कुमारीद्वीप में विन्ध्य, पारियात्र,

शुक्तिमान्, ऋक्ष, महेन्द्र, सह्य और मलय ये सात पर्वत हैं। इस देश में चन्दन इलायची, कालीमिर्च जायफलआदि की उपज होती है।

पूर्व तथा पश्चिम समुद्र अथ च हिमालय–विन्ध्य के मध्यवर्ती प्रदेश की संज्ञा आर्यावर्त्त है। इसी प्रदेश में चतुराश्रम तथा चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था है। सदाचार यहाँ प्रचलित है। कविजन प्रायेण यहीं के निवासियों के आचरण को आदर्श मानते हैं। आर्यावर्त में वाराणसी से पूर्ववर्ती प्रदेश को पूर्व-देश कहते हैं, जिसमें अङ्ग, कलिङ्ग, कोसल, तोसल, उत्कल आदि जनपद हैं। शोण तथा लौहित्य यहाँ नद हैं तथा गङ्गा, करतोया आदि नदियाँ है।

माहिष्मती से परे दक्षिणापथ है, जिसमें महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ पाण्ड्य, पल्लव आदि देश हैं। विन्ध्य, महेन्द्र, मलयादिक यहां पर्वत तथा नर्मदा, तापी, पयोष्णी गोदावरी आदि नदियां हैं। देवास से परे पश्चिम देश है जिसमें सुराष्ट्र, दशेरक, त्रवण, भृगुकच्छ आदि देश; गोवर्धन, गिरिनगर, माल्यशिखर आदि पर्वत तथा सरस्वती, श्वभ्रवती, वार्तघ्नी आदि नदियां हैं। यहाँ की उपज करीर, पीलु, गुग्गुलु आदि है।

पृथूदक से आगे उत्तरापथ है जिसमें, शक, केकय, वोक्काण, हूण आदि जनपद; हिमालय, कलिन्द, इन्द्रलोक आदि पर्वत तथा गंगा, सिन्धु, सरस्वती आदि नदियाँ हैं। इस प्रदेश में सरल, देवदारु, द्राक्षा, कुंकुम आदि पैदा होते हैं।

इन्हीं प्रदेशों के बीच मध्य देश हैं—ऐसा कवियों तथा शास्त्र की मान्यता है। राजशेखर का कथन है कि मध्यदेशीय महोदय (कान्यकुब्ज) को आधार मानकर दिशाओं का विभाग करना चाहिये। दिशाओं की संख्या कोई चार, कोई आठ, और कोई दश मानते हैं। इसके अतिरिक्त किसी विशिष्ट सीमा के अन्तर्गत भी दिशाओं का विभाग हो सकता है। देश के अनुकूल ही वर्ण (रंग) का भी वर्णन करना चाहिये। जैसे–पौरस्त्यों का श्याम, दाक्षिणात्यों का कृष्ण, उदीच्यों का गौर आदि। राजपुत्रियों का वर्ण सर्वत्र गौर ही होता है।

अष्टादश अध्याय

इस अध्याय में काल का स्वरूप दर्शाया गया है। पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तों का एक रात-दिन (अहोरात्र) होता है। चैत्र के बाद तीन महीने प्रतिदिन दिन की वृद्धि और रात्रि की हानि होती है इसके बाद रात्रि बढ़ती है और आश्विन में दोनों समान होते हैं। इसके बाद तीन मास तक रात्रि बढ़ती है और दिन घटता है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में संक्रमण मास कहा जाता है। एक वर्ष में दो अयन होते हैं—वर्षादि तीन ऋतुएँ दक्षिणायन की हैं और शिशि-

रादि तीन उत्तरायण की। पन्द्रह दिनों का एक पक्ष होता है। जिसमें चन्द्रमा बढ़े वह शुक्लपक्ष तथा जिसमें क्षीण हो वह कृष्ण पक्ष है। यह पित्र्य मासमान है। इसके उलटा चान्द्र मास होता है अर्थात् पहले कृष्ण फिर शुक्ल पक्ष इसमें होता है। दो महीने की एक ऋतु होती है। ज्योतिषियों के अनुसार चैत्र से वर्ष प्रारम्भ होता है और गृहस्थों के लिये श्रावण से। वर्षा ऋतु में पूर्वीय वायु, शरद में अनिश्चित वायु, हेमन्त में पश्चिमीय वायु, शिशिर में उत्तरीय या पश्चिमी और ग्रीष्म में अनिश्चित वायु बहती हैं। इसके अनन्तर किस ऋतु में कवि को किन-किन पदार्थों का उपन्यास करना चाहिये यह दर्शाया गया है।

राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट कवि-जीवनचर्या

काव्यमीमांसा केवल सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन करने वाला सिद्धान्त-ग्रंथ ही नहीं अपितु इसमें व्यावहारिक विषयों का भी विवेचन है। काव्य-निर्माण से सम्बद्ध जितने भी व्यवहारिक प्रश्न हैं उन सबका यहाँ यथोचित विवेचन किया गया गया है तथा उपयोगी निर्देश किया गया है। इसी व्यावहारिक निर्देशों में कविचर्या तथा राजचर्या का निर्देश भी है। दसवें अध्याय में राजशेखर ने इसका विवेचन किया है।

राजशेखर के अनुसार कवि को विद्याओं तथा उपविद्याओं का अध्ययन कर काव्य-क्रिया में प्रवृत्त होना चाहिये। व्याकरण, कोश, पिंगल, अलङ्कार ये विद्यायें हैं तथा चौंसठ कलाएँ उपविद्यायें हैं। कवि को तीनों प्रकार के शौचों—वाक्शौच, मनःशौच एवं कायशौच—से युक्त होना चाहिये। इन तीनों शौचों का विवेचन किया गया है। उसका भाषण स्मितपूर्व होना चाहिये, उसे उक्तिपूर्ण अभिधान करना चाहिये, उसे रहस्यान्वेषी होना चाहिये। बिना कहे किसी के काव्य का दूषण नहीं देखना चाहिये एवं कहने पर बिना किसी पक्षपात के यथार्थ बात कहनी चाहिये।

कवि का घर लिपा-पुता होना चाहिये एवं चारों ऋतुओं के उपयुक्त होना चाहिये। उसमें नाना प्रकार के वृक्षों से युक्त उद्यान होना चाहिये, पुष्करिणी होनी चाहिये। उसे सभी भाषाओं में कुशल, शीघ्रवादी, सुन्दर लिखने वाला, संकेत का ज्ञाता, नाना लिपियों का विज्ञ होना चाहिये। घर में जिस प्रकार की भाषा उसे अभीष्ट हो वैसा व्यवहार प्रचारित करे। उसे आत्म-विवेचक होना चाहिये तथा अपने संस्कारों और शक्ति का विवेक कर काव्य करना चाहिये। लोक की प्रवृत्ति को जानकर तब काव्य करना चाहिये। जो सम्मत हो उसे करे और जो लोकसम्मत न हो उसका प्रयत्नपूर्वक त्याग करे। किंतु जनापवादमात्र से आत्मनिन्दा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि वर्तमान

कवि का काव्य, कुलस्त्री का रूप एवं गृहवैद्य की विद्या कदाचित् ही किसी के पसन्द आती है[1]।

कवि को अपना काव्य आधा पढ़ कर नहीं सुनाना चाहिये, क्योंकि इससे काव्य समाप्त नहीं होता। नवीन काव्य को अकेले किसी के सामने नहीं सुनाना चाहिये, क्योंकि यदि श्रोता स्वयं उस काव्य को अपना बताने लगे तो किसे साक्षी बताकर कवि उसे अपना सिद्ध करेगा? अपनी कृति को स्वयं उसे बड़ी नहीं समझना चाहिये, क्योंकि पक्षपातवश दोष भी उसे गुण ही दिखाई पड़ते हैं। उसे दर्प नहीं करना चाहिये और दूसरों से परीक्षण कराना चाहिये।

दिन-रात का सम्यक् विभाग कर तब उसे काव्य-कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये, क्योंकि बिना समय की प्रवृत्तियां नष्ट हो जाती हैं। प्रातःकाल उठ सन्ध्यावन्दन कर सरस्वती-स्तोत्र का उसे पाठ करना चाहिये। तदनन्तर एक प्रहर तक काव्य की विद्याओं तथा उपविद्याओं का अनुशीलन करना चाहिये। दूसरे प्रहर में कविता बनानी चाहिये। मध्याह्न से कुछ पूर्व स्नान तथा भोजन करना चाहिये। भोजन के बाद काव्यगोष्ठी करनी चाहिये। चौथे प्रहर में अकेले या थोड़े आदमियों के साथ पूर्वाह्न में किये काव्य की परीक्षा करनी चाहिये तथा उसमें यथोचित परिष्कार करना चाहिये। सायंकाल सन्ध्या करे और फिर दिन में लिखे, परीक्षित काव्य का शोधन करे। रात्रि के दूसरे तथा तीसरे प्रहरों में सम्यक् सोवे, क्योंकि सम्यक् निद्रा शरीर के आरोग्य के लिये आवश्यक है। चौथे प्रहर में प्रयत्नपूर्वक जग जाय, क्योंकि ब्राह्म मुहुर्त में मन निर्मल एवं प्रसन्न रहता है, अतः नवीन अर्थ का स्फुरण होता है। यह दिन-रात्रि की अवस्था है।

कालप्रियानाथ का निर्देश

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के सत्रहवें अध्याय में लिखा है—'अनियतत्वाद्दिशामनिश्चितो दिग्विभाग' इत्येके। यथा हि यो वामनस्वामिनः पूर्वः स ब्रह्मशिलायाः पश्चिमः, यो गाधिपुरस्य दक्षिणः स कालप्रियस्योत्तर इति।

इसमें निर्दिष्ट कालप्रिय शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा बहुचर्चित है। संस्कृत साहित्य के अमर नाटककार महाकवि भवभूति अपने नाटकों की प्रस्तावनाओं में उन नाटकों को भगवान् कालप्रियानाथ के उत्सव में अभिनीत होने का निर्देश करते हैं; यथा उत्तररामचरित में—'अथ खलु भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान् विज्ञापयामि'।

---

१. प्रत्यक्षकविकाव्यं च रूपं च कुलयोषितः।
गृहवैद्यस्य विद्या च कस्मैचिद्यदि रोचते॥

इस कालप्रियानाथ के स्थान के विषय में विद्वानों में बहुत बड़ा मतभेद है। काव्यमीमांसा बड़ौदा संस्करण के सम्पादक की राय में यह कालप्रियानाथ का मन्दिर कन्नौज का कोई शिव-मन्दिर है। इसके विषय में उनका कहना है कि भवभूति कन्नौज के अधीश्वर यशोवर्मा के समकालीन तथा उनके आश्रित थे। काव्यमीमांसा के अनुसार कालप्रिय गाधिपुर के दक्षिण में है, अतः कन्नौज के दक्षिण का कोई हिस्सा है (गाधिपुर कन्नौज है)। अतः भवभूति का कालप्रियानाथ कन्नौज के ही नागरदेवता का उल्लेख है। डा० डी० सी० सरकार इसे कन्नौज का दक्षिणी हिस्सा न मानकर उत्तर प्रदेश के जालौन जिले का कालपी नामक स्थान मानते हैं। गोविन्द षष्ठ के काम्बे प्लेट पर निम्नलिखित श्लोक मिलता है।

यन्माद्यद्द्विपदन्तघातविषमं कालप्रियाप्राङ्गणं
तीर्णा यत्तुरगैरगाधयमुना सिन्धुप्रतिस्पर्धिनी।
येनेदं हि महोदयारिनगरं निर्मूलमुन्मीलितं
नाम्नाद्यापि कुशस्थलमिति ख्यातिं परां नीयते॥

दकन का राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय कन्नौज पर आक्रमण कर रहा था। उसकी सेना कालपी में रुकी और वहीं अगाध यमुना को पार किया। उसने कन्नौज को ध्वंस कर दिया। कन्नौज कुशस्थल के नाम से प्रसिद्ध हो गया। कुशस्थल शब्द श्लिष्ट है। इसका एक अर्थ तो कन्नौज है और दूसरा कुश से व्याप्त प्रदेश अर्थात् इन्द्र ने इसको इस प्रकार ध्वस्त कर दिया कि सर्वत्र मात्र कुश तृण ही रह गये। डा० सरकार का कहना है कि कालपी में आज भी एक कालप्रिय का मन्दिर है[१]।

महोमहोपाध्याय डा० वासुदेव विष्णु मिराशी ने इस प्रश्न पर विस्तृत विमर्श किया है तथा पौराणिक, साहित्यिक एवं पुरातत्त्व के साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि कालप्रियाङ्गण कालपी के प्रसिद्ध सूर्यमन्दिर का प्राङ्गण है और भवभूति द्वारा निर्दिष्ट कालप्रियानाथ कालपी के सूर्यदेव हैं। डा० मिराशी के तर्क बड़े ही सुविचारितहैं।[२] किंतु महामहोपाध्यय डा० पी० वी० काणे इन तर्कों से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि सूर्यदेव का कहीं भी कालप्रियानाथ या कालप्रियनाथ विशेषण वा अभिधान उपलब्ध नहीं होता। इसके विपरीत शिव के काल से सम्बद्ध कई नाम उपलब्ध होते हैं। अतः उनके विचार से यही

---

१. At Kalpi, there still exists a temple of Kalapriya. —Geography of Ancient and Medieval, India P. 244.

२. द्र० 'स्टडीज इन इण्डोलाजी' भाग १ में एतद्विषयक लेख।

मानना अधिक युक्तिसंगत है कि कालप्रियनाथ या तो उज्जैनी के प्रसिद्ध महाकाल हैं या भवभूति के जन्म-स्थान का कोई अन्य शिवलिङ्ग जो इस समय ज्ञात नहीं है।[1]

निष्कर्षरूप में हम यही कही सकते हैं कि यह तो निश्चित है कि काव्यमीमांसा में उल्लिखित कालप्रिय कालपी ही है। रही भवभूति के नाटकों के प्रदर्शन स्थान कालप्रियाङ्गण की बात सो उसकी भी संभावना कालपी में ही होने की अधिक है, यद्यपि अद्यावधि यह प्रश्न विसंवादी है।[2]

—गंगासागर राय
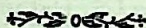
१. द्र० उत्तररामचरित की काणे कृत प्रस्तावना।
२. मेरा ग्रंथ 'महाकवि भवभूति' चौखम्बा प्रकाशन।

॥ श्रीः ॥

काव्यमीमांसा

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता

अथ कविरहस्यम्

प्रथमोऽध्यायः

१ शास्त्रसंग्रहः

अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे, यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान् स्वयंभूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। तं च सर्वसमयविदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवःस्वस्त्रितयवर्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्त्तनायै प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच। तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीद्, औक्तिक-

अब हम काव्य-विवेचन करेंगे जैसाकि श्रीकण्ठ ने परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौसठ शिष्यों को उपदेश किया था। उन भगवान् स्वयम्भू-ब्रह्मा (परमेष्ठी) ने भी इच्छा से उत्पन्न (मानस-पुत्र = अयोनिज) शिष्यों को इसका उपदेश किया। इन सबों में सरस्वती-पुत्र (सारस्वतेय) काव्य-पुरुष भी एक था जो पूज्यतरों (अथवा देवताओं) में भी वन्द्य था। प्रजापति ब्रह्मा ने सभी समयों के ज्ञाता तथा दिव्य-दृष्टि से भविष्य की बातों को जानने-वाले उस काव्य-पुरुष को भूः, भुवः, तथा स्वः तीनों लोकों में रहनेवाली प्रजा को उनकी भलाई के लिये इस काव्य-विद्या का उपदेश करने को कहा। उन काव्य-पुरुष ने अठारह अधिकरणों वाली इस (काव्य-विद्या) का उपदेश विस्तार के साथ दिव्य स्नातकों को किया। (काव्य-पुरुष से १८ अधिकरणा-त्मिका काव्यमीमांसा का अध्ययन करनेवाले उन दैवी शिष्यों में) सहस्राक्ष ने कविरहस्य की रचना की, उक्तिगर्भ ने उक्तिविषयक (औक्तिक)

मुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेता[1], यमकं यमः, चित्रं[2] चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः, इति।

ततस्ते पृथक् पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः। इत्थङ्कारञ्च प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिदुच्चिच्छिदे। इतीयं प्रयोजकाङ्गवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशप्रकरणी प्रणीता। तस्या अयं प्रकरणाधिकरणसमुद्देशः।

की रचना की; सुवर्णनाभ ने रीति का निर्णय करनेवाले ग्रन्थ की रचना की; प्रचेता (अथवा प्राचेतायन) ने अनुप्रास के विवेचक अंश की रचना की; यम ने यमक पर ग्रंथ रचा; चित्राङ्गद नामक आचार्य ने चित्रकाव्यों का विवेचन किया; आचार्य शेष ने शब्द-श्लेष से सम्बद्ध ग्रंथ की रचना की; पुलस्त्य ने वास्तविकता अर्थात् स्वभावोक्ति-विषयक ग्रंथ की रचना की; औपकायन नामक आचार्य ने उपमालङ्कार का विवेचन किया; अतिशयोक्ति अलङ्कार पर पराशर ने ग्रंथ-निर्मिति की; उतथ्य ने अर्थ-श्लेष पर ग्रंथ लिखा; कुबेर ने उभयालङ्कारों (अर्थात् शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों) पर ग्रंथ लिखा; कामदेव ने विनोद (हास्य) पर ग्रंथ लिखा; रूपक (नाटक)–निरूपणात्मक ग्रंथ भरत ने लिखा; रस-विषयक ग्रंथ की रचना नन्दिकेश्वर ने की; धिषण (बृहस्पति) ने दोषविषयक ग्रंथ रचा; उपमन्यु ने गुणों पर ग्रंथ लिखा एवं कुचमार ने औपनिषदिक ग्रंथ लिखा।

(इस प्रकार) उन्होंने अलग-अलग अपने-अपने शास्त्रों की रचना की। इस प्रकार बिखरी होने से काव्य-विद्या कुछ उच्छिन्न-सी हो गयी। इसी उद्देश्य से सभी विषयों का छोटे ग्रंथ में समावेश कर अठारह अधिकरणों वाली इस काव्य-मीमांसा की रचना की गयी। उस काव्य-मीमांसा के (प्रथम) अधिकरण के प्रकरणों (विषयों) का वर्णन किया जाता है। (वे इस प्रकार हैं—)

---

१. प्राचेतायनः-पाठान्तर।

२. 'यमकं यमः, चित्रं' के स्थान पर यमकानि चित्रं पाठान्तर।

१ शास्त्रसंग्रहः, २ शास्त्रनिर्देशः, ३ काव्यपुरुषोत्पत्तिः, ४ शिष्यप्रतिभे, ५ व्युत्पत्ति-विपाकाः, ६ पदवाक्यविवेकः, ७ वाक्यविधयः, ८ काकुप्रकाराः, ९ पाठप्रतिष्ठा, १० काव्यार्थ-योनयः, ११ अर्थानुशासनं, १२ कविचर्या, १३ राजचर्या, १४ शब्दार्थहरणोपायाः, १५ कविविशेषः, १६ कविसमयः, १७ देशकालविभागः, १८ भुवनकोशः, इति कविरहस्यं प्रथम-मधिकरणमित्यादि ।

इति सूत्राण्यथैतेषां व्याख्याभाष्यं भविष्यति ।
समासव्यासविन्यासः सैष शिष्यहिताय नः ॥
चित्रोदाहरणैर्गुर्वी ग्रन्थेन तु लघीयसी ।
इयं नः काव्यमीमांसा काव्यव्युत्पत्तिकारणम् ॥

---

१. शास्त्रसंग्रह; २. शास्त्र-निर्देश; ३. काव्य-पुरुष-उत्पत्ति; ४. शिष्य-प्रतिभा; ५. व्युत्पत्ति-विपाक; ६. पद-वाक्य-विवेक; ७. वाक्य-विधि; ८. काकु-प्रकार; ९. पाठ-प्रतिष्ठा; १०. काव्यार्थ-योनियाँ; ११. अर्थानुशासन; १२. कवि चर्या; १३. राज-चर्या; १४. शब्दार्थ-हरणोपाय; १५. कविविशेष; १६. कवि-समय; १७. देश-काल-विभाग और १८. भुवनकोश । इन प्रकरणों से कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण की रचना हुई है ।[1]

ऊपर सूत्र (संक्षिप्त) रूप से इनका निर्देश किया गया है। अब (आगे के अध्यायों में) इनकी व्याख्या तथा भाष्य होगा। हमने शिष्यों के लाभ की दृष्टि से इसका (आवश्यकतानुसार) समास (संक्षिप्त) तथा व्यास (विस्तृत) रूप से विवेचन किया है।

यह मेरी-काव्यमीमांसा ग्रंथरूप में अर्थात् आकार में छोटी होने पर भी विचित्र उदाहरणों से युक्त होने से भारी (महत्त्वपूर्ण) है। यह काव्यमीमांसा काव्यविद्या में प्रौढता का कारण है।

---

१. इनमें से तीन (शिष्यप्रतिभा, व्युत्पत्तिविपाक, तथा काव्यार्थयोनि) बड़ौदा तथा बिहारराष्ट्रभाषा परिषद् पटना की प्रतियों में नहीं मिलते।

इयं सा काव्यमीमांसा मीमांसा यत्र वाग्लवैः[1] ।
वाग्लवं न स जानाति न विजानाति यस्त्विमाम् ।।
यायावरीयः संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम् ।
व्याकरोत्काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः ।।

।। इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः शास्त्रसङ्ग्रहः ।।

—:*:—

यह काव्य-मीमांसा है। यहाँ वाग्लव—वाणी के अंश अर्थात् शब्दार्थ की विवेचना की जाती है। जो इसे नहीं जानता वह वाग्लव (शब्दार्थ की विवेचना) को नहीं जानता।

यायावर-कुलोत्पन्न राजशेखर ने मुनियों के विस्तृत मतों को संक्षिप्त कर कवियों के लिये काव्य-मीमांसा की रचना की।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में

'शास्त्रसंग्रह' नामक प्रथम अध्याय समाप्त

—:*:—

---

१. 'मीमांसा यत्र वाग्लवः' का पाठान्तर कुछ लोग 'मीमांस्यो यत्र वाग्लवः' के रूप में करते हैं। चौखम्बा संस्करण में 'मीमांसा यत्र वाग्लवे' पाठ है।

द्वितीयोऽध्यायः

२ शास्त्रनिर्देशः

इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत। नह्यप्रवर्त्तितप्रदीपास्तमसि[1] तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति। तच्च द्विधा अपौरुषेयं पौरुषेयं च। अपौरुषेयं श्रुतिः। सा च मन्त्रब्राह्मणे। विवृतक्रियातन्त्रा मन्त्राः। मन्त्राणां स्तुतिनिन्दाव्याख्यानविनियोगादिग्रन्थो ब्राह्मणम्। ऋग्यजुःसामवेदास्त्रयी। अथर्व तुरीयम्। तत्रार्थव्यवस्थितपादा ऋचः। ताः सगीतयः सामानि। अच्छन्दांस्यगीतानि यजूंषि। ऋचो यजूंषि सामानि चाथर्वाणि त इमे चत्वारो वेदाः। इतिहासवेदधनुर्वेदौ गान्धर्वायुर्वेदावपि चोपवेदाः। 'वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पञ्चमो नाट्यवेदः'[2] इति द्रौहिणिः। 'शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचितिः, ज्यौतिषं

वाङ्मय दो प्रकार का है—शास्त्र एवं काव्य। काव्य के लिये शास्त्र आवश्यक है अतः काव्य-रचना से पूर्व शास्त्रों में प्रवेश करना चाहिये। बिना प्रदीप के आश्रय के अंधकार में पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। (उसी भांति शास्त्र-ज्ञान के बिना काव्य-ज्ञान असंभव है।) शास्त्र दो प्रकार का है—अपौरुषेय तथा पौरुषेय। अपौरुषेय श्रुति (वेद) है। श्रुति मंत्र तथा ब्राह्मणों से बनी है। मंत्रों में क्रिया-प्रयोग निर्दिष्ट हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों में मंत्रों की स्तुति, निन्दा, व्याख्यान तथा विनियोग का वर्णन है। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद—वेदों की यह त्रयी है। अथर्ववेद चौथा है। जहाँ अर्थानुसार पदों की व्यवस्था हो, वे ऋचायें हैं। वे ही गीतियुक्त होने पर साम हैं। छन्द-हीन तथा गीति-हीन मंत्र यजुष् हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद ये चारों वेद हैं। इतिहासवेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद तथा आयुर्वेद—ये चार उपवेद हैं। आचार्य द्रौहिणि का कथन है कि 'पाँचवा नाट्यवेद (अथवा गेयवेद) है जो समस्त वेदों एवं उपवेदों की आत्मा तथा सभी वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के लिये है।' आचार्यों का कथन है कि (वेद के) शिक्षा,

---

१. 'प्रदीपास्ते' इति पाठान्तरम्।

२. बड़ौदा तथा राष्ट्रभाषा परिषद् की प्रतियों में 'गेयवेदः' पाठान्तर है।

च षडङ्गानि' इत्याचार्याः। उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः'। यथा—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'

सेयं शास्त्रोक्तिः। प्रत्यधिकरणं च ऋचं यजुः सामाथर्वणं ब्राह्मणं चोदाहृत्य भाषामुदाहरिष्यामः। तत्र वर्णानां स्थान-

---

कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दो-विरचना, और ज्यौतिष ये छः अङ्ग हैं। यायावर कुल में उत्पन्न आचार्य राजशेखर का कथन है कि उपयोगी होने से अलङ्कार सातवाँ अङ्ग है। यदि इसके स्वरूप का ज्ञान न हो तो वेदार्थ की अवगति (ज्ञान) नहीं होता। जैसे—

सुन्दर पांखोंवाले, एक साथ रहनेवाले, परस्पर मित्रभाव रखनेवाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक स्वादवाले फल को खाता है तथा दूसरा न खाते हुये केवल देखता है।

टिप्पणी – यह मंत्र श्वेताश्वतर, मुण्डक, आदि उपनिषदों में मिलता है। इसका शाङ्करभाष्य इस प्रकार है—

द्वा द्वौ विज्ञानपरमात्मानौ सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ शोभनगमनौ सुपर्णौ पक्षि-सामान्याद्वा सुपर्णौ। सयुजा सयुजौ सर्वदा संयुक्तौ। सखाया सखायौ समानाख्यानौ सामानाभिव्यक्तिकारिणौ एवं भूतौ सन्तौ समानं वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदसामान्याद्वृक्षं शरीरं परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ। तयोरन्य अविद्याकामवासनाश्रयलिङ्गोपाधिः विज्ञानात्मा पिप्पलं कर्मफलं स्वादु अनेकाचित्रवेदनास्वरूपम्। अत्त्युपभुङ्क्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति। नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमेश्वरः सर्वमपि पश्यन्नास्ते इति। (श्वेता०)

इस मंत्र में रूपक अलङ्कार के आश्रय से एक ही शरीर में अवस्थित आत्मा (जीव) तथा परमात्मा का वर्णन किया गया है। इस अवस्थिति को वृक्ष तथा पक्षी आदि वस्तुओं के द्वारा समझाया गया है। यहाँ राजशेखर का आशय है कि अन्य वेदाङ्गों की भांति अलङ्कार भी वेदार्थावगम के साधक हैं अतः वह सातवां अंग है। पूर्वार्ध में रूपक तथा उत्तरार्द्ध में व्यतिरेक अलङ्कार है।

यह शास्त्रोक्ति है। आगे प्रत्येक अधिकरण में ऋक्, यजुः, साम, आथर्वण तथा ब्राह्मणों से उदाहरण देकर भाषा (संस्कृत) का वर्णन करेंगे। स्थान, करण तथा प्रयत्न आदि के द्वारा वर्णों की निष्पत्ति बताने-

---

१. वेदार्थानवगतेः पाठान्तर।

करणप्रयत्नादिभिः निष्पत्तिनिर्णयिनी शिक्षा आपिशलीयादिका। नानाशाखाधीतानां मन्त्राणां विनियोजकं सूत्रं कल्पः। सा च यजुर्विद्या। शब्दानामन्वाख्यानं व्याकरणम्। निर्वचनं निरुक्तम्। छन्दसां प्रतिपादयित्री छन्दोविचितिः। ग्रहगणितं ज्यौतिषम्। अलङ्कारव्याख्यानं तु पुरस्तात्। पौरुषेयं तु पुराणम्, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृतितन्त्रमिति चत्वारि शास्त्राणि। तत्र वेदाख्यानोपनिबन्धनप्रायं पुराणमष्टादशधा। यदाहुः—

वाला शास्त्र शिक्षा है।[1] जैसे, आपिशलीय शिक्षा आदि। विभिन्न शाखाओं में पठित मंत्र के विनियोग बतानेवाले ग्रंथों को कल्प कहते हैं।[2] और यह मुख्यतः यजुर्वेद की विद्या है। शब्दों का अन्वाख्यान अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययादि के माध्यम से सुवन्त, तिङन्तादि पदों की सिद्धि को व्याकरण कहते हैं।[3] वैदिक शब्दों का निर्वचन करनेवाला शास्त्र निरुक्त है। छन्दोविचिति में छन्दों का विवेचन है। ग्रहों की गति-विधि तथा गणना से सम्बद्ध शास्त्र ज्यौतिष है। अलङ्कार का व्याख्यान आगे होगा। (ऊपर वेद तथा उसके छः अङ्गों का वर्णन हुआ। अब आगे लौकिक साहित्य के विषय में चर्चा करते हुये कहते हैं—) चार शास्त्र पौरुषेय हैं—१. पुराण, २. आन्वीक्षिकी, ३. मीमांसा और ४. स्मृतियाँ। इनमें, पुराणों में प्रायेण वैदिक आख्यानों का वर्णन है। ये पुराण अठारह हैं जैसा कि कहा गया है—

---

१. सायणाचार्य ने शिक्षा की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।'

—सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका।

२. कल्प का अर्थ है वेद-विहित कर्मों का क्रम-पूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र—

'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना-शास्त्रम्'

—ऋक्प्रातिशाख्यः विष्णुमित्रकृत 'वर्गद्वयवृत्ति'

३. व्याकरण का अर्थ है पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र—

'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।'

तुलना कीजिये—

प्रकृतिप्रत्ययोपाधिनिपातादिविभागशः।
पदान्वाख्यानकरणं शास्त्रं व्याकरणं विदुः॥

—अभिधानचिन्तामणिटीका

'सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः ।
जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति[1] ॥

'पुराणप्रविभेद एवेतिहासः' इत्येके । स च द्विधा परक्रियापुराकल्पाभ्याम् । यदाहुः—

'परक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा ।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका ॥'

तत्र रामायणं भारतं चोदाहरणे । आन्वीक्षिकीं तु विद्यावसरे वक्ष्यामः । निगमवाक्यानां न्यायैः सहस्रेण विवेक्त्री मीमांसा । सा च द्विविधा विधिविवेचनी ब्रह्मनिदर्शनी च । अष्टादशैव श्रुत्यर्थस्मरणात् स्मृतयः । 'तानीमानि चतुर्दश विद्यास्थानानि, यदुत वेदाश्चत्वारः, षडङ्गानि, चत्वारि शास्त्राणि' इत्याचार्याः ।

"जिसमें जगत् की सृष्टि, संहार, कल्प, मन्वन्तर तथा वंश-विधि वर्णित हों उसे पुराण जानना चाहिये ।"

कुछ लोगों का कथन है कि पुराण का ही भेद इतिहास है । इतिहास दो प्रकार का है—१. परक्रिया तथा २. पुराकल्प । इस विषय में कहा है—

इतिहास की गति (भेद) दो प्रकार की है—परक्रिया और पुराकल्प । इनमें परक्रिया एक नायकवाली होती है ओर पुराकल्प में अनेकों नायकों का वर्णन होता है—

इस विषय में परक्रिया का उदाहरण रामायण है तथा पुराकल्प का उदाहरण महाभारत है । आन्वीक्षिकी का वर्णन विद्याओं के सन्दर्भ में करेंगे । वेद-वाक्यों का सहस्रों (अनेकों) तर्कों से विवेचन करने वाली मीमांसा है । वह मीमांसा दो प्रकार की है—१. विधि अर्थात् कर्म की विवेचिका और २. ब्रह्मनिदर्शनी । अर्थात् वेदान्त । स्मृतियाँ वेदार्थों का स्मरण कराती हैं । वे भी अठारह हैं । इस प्रकार आचार्यों के मत में ये चौदह विद्यास्थान हैं—चार वेद,

---

१. इस श्लोक के स्थान पर निम्नलिखित श्लोक अधिक प्रचलित है जो अधिकांश पुराणों में मिलता है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ —वायुपुराण ३. १०

तान्येतानि कृत्स्नामपि भूर्भुवःस्वस्त्रयीं व्यासज्य वर्त्तन्ते। तदाहुः—

'विद्यास्थानानां गन्तुमन्तं न शक्तो
जीवेद्वर्षाणां योऽपि साग्रं सहस्रम्।
तस्मात्सङ्क्षेपादर्थसन्दोह उक्तो
व्यासः संत्यक्तो ग्रन्थभीरुप्रियार्थम्॥'

'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्' इति यायावरीयः। गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च। तद्धि शास्त्राण्यनुधावति। 'वार्त्ता कामसूत्रं शिल्पशास्त्रं दण्डनीतिरिति पूर्वैः सहाष्टादश विद्यास्थानानि' इत्यपरे। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। 'दण्डनीतिरेवैका विद्या' इत्यौशनसाः। दण्डभयाद्धि कृत्स्नो लोकः स्वेषु

षड् अङ्ग और चार शास्त्र।[1] ये चतुर्दश विद्यायें भूः, भुवः, स्वः इन तीनों लोकों (में प्राप्य सम्पूर्ण वस्तुओं) को व्याप्त कर स्थित हैं। इस विषय में कहा है—

'जो सहस्र वर्ष पर्यन्त जीवे वह भी इन विद्यास्थानों का अन्त नहीं पा सकता अर्थात् सहस्र वर्षों में भी इनका पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं। अतः संक्षेप में ही इसका सार कह दिया गया है। इसका विस्तार ग्रंथ-विस्तार से डरने वाले लोगों की प्रसन्नता के लिये ही नहीं किया गया है।'

यायावरीय राजशेखर का कथन है कि काव्य पन्द्रहवाँ विद्यास्थान है और यह सम्पूर्ण विद्यास्थानों की एकत्र निवासभूमि है। क्योंकि यह गद्य-पद्य-मय होता है, कवि-कर्म होता है तथा हितोपदेशक होता है। यह शास्त्रों का अनुगमन करता है। दूसरे आचार्यों का कथन है कि 'पूर्वोक्त चतुर्दश विद्यास्थानों में वार्ता, दण्डनीति, कामसूत्र तथा शिल्पशास्त्र इनको जोड़कर अठारह विद्यास्थान हैं। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति ये चार विद्यायें हैं। उशना (आचार्य शुक्र) के अनुयायियों का विचार है कि केवल दण्डनीति ही विद्या है। दण्ड-भय से ही सम्पूर्ण लोक अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होता

---

१. याज्ञवल्क्य-स्मृति (१. ३) के अनुसार ये चौदह विद्यायें इस प्रकार हैं :—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

स्वेषु कर्मस्ववतिष्ठते। 'वार्त्ता दण्डनीतिर्द्वे विद्ये' इति बार्हस्पत्याः। वृत्तिर्विनयग्रहणं च स्थितिहेतुर्लोकयात्रायाः। 'त्रयीवार्त्तादण्डनीतयस्तिस्रो विद्याः' इति मानवाः। त्रयी हि वार्त्तादण्डनीत्योरुपदेष्ट्री। 'आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तादण्डनीतयश्चतस्रो विद्याः' इति कौटल्यः। आन्वीक्षिक्या हि विवेचिता त्रयी वार्त्तादण्डनीत्योः प्रभवति। 'पञ्चमी साहित्यविद्या' इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निस्यन्दः। आभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्। तत्र त्रयी व्याख्याता। द्विधा चान्वीक्षिकी पूर्वोत्तरपक्षाभ्याम्। अर्हद्भदन्तदर्शने लोकायतं च पूर्वः पक्षः। साङ्ख्यं न्यायवैशेषिकौ

है। बृहस्पति के अनुसरणकर्त्ताओं की राय है कि वार्ता तथा दण्डनीति ये दो विद्यायें हैं। क्योंकि वृत्ति (जीविका, जो वार्ता का विषय है) और विनयग्रहण (अनुशासन = दण्डनीति) ये ही दो लोक-यात्रा की स्थिति के कारण हैं। मनु के मतानुयायियों की सम्मति में त्रयी, वार्त्ता तथा दण्डनीति ये तीन विद्यायें हैं। क्योंकि त्रयी (अर्थात् धर्मशास्त्र) ही वार्ता तथा दण्ड नीति की उपदेशिका है। कौटल्य की राय में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता तथा दण्डनीति ये चार विद्यायें हैं[1]। क्योंकि आन्वीक्षिकी (विज्ञान) से विवेचित ही त्रयी वार्ता एवं दण्डनीति का नियंत्रण करती है। यायावरीय राजशेखर के अनुसार इन चार विद्याओं के अतिरिक्त पाँचवीं साहित्य विद्या है। वह उपर्युक्त चारों विद्यायों का सार-तत्त्व है। विद्याओं की सार्थकता (विद्यात्व) इसी में है कि ये धर्म और अर्थ की साधिका हों। अतः इनसे धर्म और अर्थ का ज्ञान होता है। इन विद्याओं में त्रयी का व्याख्यान पहले हो चुका है। आन्वीक्षिकी दो प्रकार की है—एक, पूर्वपक्ष और दूसरा उत्तरपक्ष। पूर्वपक्ष में तीन दर्शन हैं—१. अर्हत् (जैन), २. भदन्त (बौद्ध) और ३. लोकयात (चार्वाक)। उत्तरपक्ष में भी तीन दर्शन हैं—१. सांख्य, २. न्याय और

---

१. तुलना कीजिये—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
विद्याश्चैताश्चतस्रः स्युर्लोकसंस्थितिहेतवः॥

और—आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्त्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ॥

—कामन्दकनीतिशास्त्र

चोत्तरः। त इमे षट् तर्काः। तत्र च तिस्रः कथा भवन्ति वादो, जल्पो, वितण्डा च। मध्यस्थयोस्तत्त्वावबोधाय वस्तु-तत्त्वपरामर्शो वादः। विजिगीषोः स्वपक्षसिद्धये छलजातिनिग्र-हादिपरिग्रहो जल्पः। स्वपक्षस्यापरिग्रहोत्री परपक्षस्य दूषयित्री वितण्डा। कृषिपाशुपाल्ये वणिज्या च वार्त्ता। आन्वीक्षिकी-त्रयीवार्त्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डस्तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। तस्यामायत्ता लोकयात्रेति शास्त्राणि सामान्यलक्षणं चैषाम्—

'सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः॥'

सूत्रादिभिश्चैषां प्रणयनम्। तत्र सूत्रणात् सूत्रम्। यदाहुः—

---

३. वैशेषिक। इस प्रकार ये षड्दर्शन हुये। इन तर्कों में तीन प्रकार की कथायें होती हैं—१. वाद, २. जल्प और ३. तिण्डा। इनमें वाद तो वह है जो दोनों पक्षों के मध्यस्थों का तत्त्व-ज्ञान कराने के लिये वस्तु तत्त्व (याथार्थ्य) का कथन हो। प्रतिपक्षी पर विजय की इच्छा वाले के द्वारा अपने मत की सिद्धि में छल, जाति एवं निग्रह आदि का आश्रयण जल्प कहा जाता है। अपने पक्ष का ग्रहण (प्रदर्शन) न करते हुए परपक्ष-दूषण को वितण्डा कहते हैं। कृषि, पशु-पालन एवं व्यवसाय का नाम वार्त्ता है। आन्वीक्षिकी, त्रयी एवं वार्त्ता का योग-क्षेम (प्राप्ति एवं संरक्षण) का साधन दण्ड से होता है और उसकी नीति का नाम दण्डनीति है। उसी दण्डनीति के आश्रयण से लोक-व्यवहार प्रचलित होता है। ये ही शास्त्र हैं। अब इन शास्त्रों का सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया जाता है—

"जैसे नदियों का प्रवाह आरम्भ में छोटा होता है तथा बाद में विस्तृत होता है उसी भांति शास्त्रों का आरम्भ लघु होता है पर बाद में वे विस्तृत हो जाते हैं। ऐसे शास्त्र लोक-वन्द्य होते हैं।"

टिप्पणी—यहाँ राजशेखर शास्त्रों के विस्तार-क्रम को निदर्शित करते हैं शास्त्रों का प्रारम्भ तो सूत्र-शैली में होता है पर बाद में वे व्याख्याओं, भाष्यों और निबन्धादि के द्वारा विपुल विस्तार को प्रा त करते हैं।

इन शास्त्रों का निर्माण सूत्र, आदि के द्वारा होती है। (अब उनके लक्षग कहे जाते हैं—) विस्तृत अर्थ छोटे वाक्य में पिरोना सूत्र है। इस विषय में कहा गया है—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः ॥'

सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः । सूत्रवृत्तिविवेचनं पद्धतिः । आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम् । अन्तर्भाष्यं समीक्षा । अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा । यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका । विषमपदभञ्जिका पञ्जिका । अर्थप्रदर्शनकारिका कारिका । उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्त्तिकमिति शास्त्रभेदाः ।

'भवति प्रथयन्नर्थं लीनं समभिप्लुतं स्फुटीकुर्वन् ।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पं च शास्त्रकविः ॥'

शास्त्रैकदेशस्य प्रक्रिया प्रकरणम् । अध्यायादयस्त्ववान्तर-

'सूत्रकार लोग सूत्र उसे मानते हैं जो अल्प-अक्षर-युक्त, असन्दिग्ध, चारों ओर से सारवान्, व्यर्थ शब्द-हीन तथा अनिन्द्य हो ।[1]'

सूत्रों के समस्त रूप में सार विवरण देनेवाली व्याख्या वृत्ति है । सूत्र पर की गई वृत्ति पर किये गये विवेचन को पद्धति कहते हैं । स्वयं शङ्काओं की उद्भावना कर उनका खण्डन करते हुये विस्तृत व्याख्या करना भाष्य कहा जाता है । भाष्य में निहित गम्भीर अर्थों की व्याख्या भी समीक्षा है । भाष्य के अन्तर्गत वर्तमान अवान्तर अर्थों का अलग-अलग विभाग भी समीक्षा है । यथासम्भव सरल अर्थों को घोषित करना टीका है । पञ्जिका वह है जो विषम पदों को तोड़कर अलग-अलग कर दे । सूत्रार्थ का (सरल) अर्थों में प्रदर्शन कारिका है । उक्त, अनुक्त अथच दुरुक्त शब्दों का विवेचन वार्त्तिक कहा जाता है । ये शास्त्र के भेद हैं ।

"शास्त्रकवि गूढ़ अर्थ को प्रकट करता है तथा सन्दिग्ध अर्थ को स्पष्ट करता है । वह अल्प अर्थ को विस्तृत करता है तथा विस्तृत अर्थ को छोटा करता है ।"

शास्त्र के एकदेश (भाग) की प्रक्रिया का नाम प्रकरण है । अध्याय

---

१. तुलना कीजिये—

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च ।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥ वायुपुराण, ५९. १४२

विच्छेदाः। कृतिभिः स्वतन्त्रतया प्रणीता इत्यपरिसङ्ख्येया अनाख्येयाश्च। शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। उपविद्यास्तु चतुःषष्टिः। ताश्च कला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य। तमौपनिषदिके वक्ष्यामः।

इत्यनन्तोऽभियुक्तानामत्र संरम्भविस्तरः।
त्यक्तो निपुणधीगम्यो ग्रन्थगौरवकारणात्।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः शास्त्रनिर्देशः ॥

—:०:—

आदि अवान्तर विभाग हैं। इनकी रचना कृतिकारों (विद्वानों) ने स्वतंत्र-रूपेण की है अतः ये असंख्य तथा अवर्ण्य हैं। वह विद्या जिसमें शब्द तथा अर्थ का उचित सहभाव हो साहित्य कही जाती है। उपविद्यायें संख्या में चौसठ हैं। विदग्धजन उन्हें कला कहते हैं। वे काव्य का जीवन हैं। इनका विवरण हम औपनिषदिक प्रकरण में देंगे।

विद्वानों की कृतियों का विस्तार अनन्त है और वह चतुर बुद्धिवालों के लिए गम्य है। ग्रंथ-विस्तार के कारण मैंने उन्हें छोड़ दिया है।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में। 'शास्त्रनिर्देश' नामक द्वितीय अध्याय समाप्त

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः

३ काव्यपुरुषोत्पत्तिः

एवं गुरुभ्यो गिरः पुण्याः पुराणीः श्रृणुमः स्म, यत्किल धिषणं शिष्याः कथाप्रसङ्गे पप्रच्छुः, कीदृशः पुनरसा सारस्वतेयः काव्यपुरुषो वो गुरुः ? इति । स तान् बृहताम्पतिरूचे ।

पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरौ तपस्यामास । प्रीतेन मनसा तां विरिञ्चिः प्रोवाच—'पुत्रं ते सृजामि ।' अथैषा काव्यपुरुषं सुषुवे । सोऽभ्युत्थाय सपादोपग्रहं छन्दस्वतीं वाचमुदचीचरत्—

हम गुरुओं से ऐसी पवित्र एवं प्राचीन वाणी सुनते हैं कि एक बार शिष्यों ने बृहस्पति से कथा-प्रसङ्ग में पूछा कि आपके गुरु सरस्वती-पुत्र काव्य-पुरुष कैसे हैं ।[१] बृहतांपति (बृहस्पति) ने उनसे कहा—प्राचीन काल में सरस्वती ने पुत्र की इच्छा से हिमालय पर तपस्या की । प्रसन्नमना ब्रह्मा ने उनसे कहा—'तेरे लिये मैं पुत्र की रचना करता हूं ।' तदनन्तर देवी सरस्वती ने काव्य-पुरुष को उत्पन्न किया । उन्होंने उत्पन्न होते ही सरस्वती की चरण-वन्दना कर छन्दोमयी भाषा में कहा—"हे मातः ! यह सम्पूर्ण वाङ्मय-जगत्

---

१. इस अध्याय में राजशेखर ने काव्य की उत्पत्ति बतायी है और इसे भारत के विभिन्न भागों में प्रसिद्ध स्थानों के अनुरूप बनाने का प्रयास किया है। इस प्रयत्न में वे शुद्ध इतिहास के क्षेत्र से देवशास्त्र (माइथॉलाजी) के क्षेत्र में चले जाते हैं और काव्य की उत्पत्ति काल्पनिक काव्यपुरुष से बताते हैं। राजशेखर का यह वर्णन पुराणों की शैली पर है। राजशेखर द्वारा वर्णित कथा वापुराण, महाभारत तथा हर्षचरित से कुछ भिन्न है। हर्षचरित में बाण ने सविस्तर बताया है कि क्यों सरस्वती पृथ्वी पर आयीं, च्यवन-पुत्र दधीच से विवाह किया तथा सारस्वतेय पुत्र को उत्पन्न किया। वायु पुराण अध्याय ६५ में भी यह कथा दी हुई है। प्रतीत यह होता है कि बाण ने वायु पुराण से ही यह विषय ग्रहण किया। शान्ति पर्व अध्याय ३५९ तथा शल्यपर्व अध्याय ५२ में भी यह आख्यान पर्याप्त भिन्नता लिये है। अश्वघोष ने बुद्धचरित (१.४७) में इसी से मिलती-जुलती कहानी दी है।

'यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्त्तते ।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ ॥'

तामाम्नायदृष्टचरीमुपलभ्य भाषाविषये छन्दोमुद्रां देवी ससम्मदमङ्कपर्यङ्केनादाय तमुदलापयत्—'वत्स ! सच्छन्दस्काया गिरः प्रणेतः ! वाङ्मयमातरमपि मातरं मां विजयसे । प्रशस्यतमं चेदमुदाहरन्ति यदुत 'पुत्रात्पराजयो द्वितीयं पुत्रजन्म' इति । त्वत्तः पूर्वे हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न पद्यम् । त्वदुपज्ञमथातः छन्दस्वद्वचः प्रवर्त्स्यति । अहो श्लाघनीयोऽसि ।

जिसके द्वारा अर्थरूप में परिणत हो जाता है वही मैं काव्य-पुरुष हूं । मैं तेरे चरणों की वन्दना करता हूं[1] ।"

केवल वेद में ही दृष्ट इस प्रकार की छन्दोमयी वाणी को भाषा (संस्कृत) में देखकर सरस्वती अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उस काव्य-पुरुष बालक को गोद में उठा कर प्रेम से कहा—'वत्स ! सम्पूर्ण वाङ्मय की माता मुझे तूने छन्दोमयी वाणी की रचना कर परास्त कर दिया । वह अत्यन्त प्रशंसनीय बात मानी जाती है कि 'पुत्र से पराजित होना द्वितीय पुत्र-जन्म के समान (आनन्ददायक) होता है ।' तुमसे पूर्व के विद्वानों ने गद्यमयी वाणी को देखा (रचा) था, पद्यमयी वाणी को नहीं ।[2] तूने विना किसी आश्रय के सर्वप्रथम छन्दोमयी वाणी की रचना की है । इसके अनन्तर छन्दोवती वाणी चलेगी । तुम सचमुच प्रशंसनीय

---

१. तुलना कीजिये—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥
यो वाऽर्थौ बुद्धिविषयोऽबाह्यवस्तुनिबन्धनः ।
स बाह्यं वस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः सम्यगिष्यते ॥
शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि । —वाक्यपदीय ।

२. राजशेखर का यह कथन संस्कृत की उस विश्रुत परम्परा के विरुद्ध है जिसके अनुसार लौकिक भाषा में आद्य-पद्य-रचना करने वाले वाल्मीकि माने जाते हैं । परम्परानुसार निम्नलिखित पद्य संस्कृत का आद्य श्लोक है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम् । समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि । उक्तिचणं ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति । भविष्यतोऽर्थस्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभिस्तौति—

'चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेश ॥'

हो । शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं, संस्कृत तेरा मुख है, प्राकृत भुजा है, अपभ्रंश भाषा जघन प्रदेश है, पैशाची भाषा दोनों पैर हैं और मिश्र भाषायें उरःस्थल (वक्ष) हैं । तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार एवं ओजस्वी है । तेरी वाणी उक्तिवती है, रस तेरी आत्मा है,[1] छन्द तेरे रोम हैं, प्रश्न-उत्तर एवं प्रहेलिकादि तेरे वाग्विनोद हैं अथ च अनुप्रास, उपमादि अलङ्कार तुझे सुशोभित करते हैं । भावी अर्थ का अभिधान करने वाली श्रुति भी आपकी स्तुति करती है—

'इसके चार सींगे हैं, तीन पैर हैं, दो शिर है, सात हाथ हैं और यह तीन प्रकार से बँधा है इस प्रकार का वर्षणकारी यह महादेव मर्त्यलोक में प्रविष्ट हुआ ।''[2]

---

१. संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में रसवादियों का अपना विशिष्ट स्थान है । सर्वप्रथम रस को काव्यात्मा स्वीकार किया भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में । पर नाट्येतर साहित्य में इसके इस महत्त्व को भामह, दण्डी तथा वामन ने नहीं माना । परवर्ती आचार्यों ने काव्य में अलङ्कार, गुण, ध्वनि वक्रोक्ति, रीति, अनुमिति तथा औचित्यको आवश्यक ठहराया । इस बीच रस-सम्बन्धी विचार में काफी परिष्कार-परिवर्तन होता रहा । ९ वीं सदी में आनन्दवर्धन ने फिर रस-सम्प्रदाय का कायाकल्प किया और बताया कि रस-ध्वनि काव्य के सभी अङ्गों की उन्नायक है । राजशेखर ने भी इसी मत का अनुमोदन किया और रस को काव्य का आत्मा ठहराया । बाद में रस-ध्वनि की सम्यक् प्रतिष्ठा आचार्य अभिनव गुप्त ने की ।

२. यह मंत्र ऋग्वेद ४.५८.३ का है । इसकी विभिन्न व्याख्याओं के लिए द्रष्टव्य-उपर्युक्त मंत्र पर सायण-भाष्य, निरुक्त १३.१८ और पतञ्जलि का महाभाष्य । भरत-नाट्यशास्त्र का निम्नलिखित वचन भी तुलनीय है—

सप्त स्वराः, त्रीणि स्थानानि, चत्वारो वर्णाः, द्विविधा काकुः, षडलङ्काराः, षडङ्गानि इति ।—नाट्यशास्त्र, अध्याय १७ ।

'तथापि संवृणु प्रगल्भस्य पुंसः कर्म, बालोचितं चेष्टस्व' इति निगद्य निवेश्य चैनमनोकहाश्रयिणि गण्डशैलतलतल्पे स्नातुमभ्रगङ्गां जगाम। तावच्च कुशान् समिधश्च समाहर्तुं निःसृतो महामुनिरुशनाः परिवृत्ते पूषण्यूष्मोपप्लुतं तमद्राक्षीत्। कस्यायमनाथो बाल इति चिन्तयन् स्वमाश्रमपदमनैषीत्। क्षणादाश्वस्तश्च स सारस्वतेयस्तस्मै छन्दस्वतीं वाचं समचारयत्। अकस्माद्विस्मापयन्स चाभ्युवाच—

'या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती ॥' इति

तत्पूर्वकमध्येतृणां च सुमेधस्त्वमादिदेश। ततः प्रभृति तमुशनसं सन्तः कविरित्याचक्षते। तदुपचाराच्च कवयः कवय इति लोकयात्रा। कविशब्दश्च 'कवृवर्णने' इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो

'तथापि प्रौढ़ पुरुष के तुल्य अपने इस कर्म को समेटो। बालक की भाँति चेष्टा करो।' इस प्रकार कहकर बालक को सघन वृक्ष के नीचे अवस्थित शिला-तल पर लिटाकर आकाश-गंगा में स्नान करने चली गयीं। इसी बीच कुश तथा यज्ञीय लकड़ियों (समिधा) को लेने महामुनि उशना (शुक्र) निकले और सूर्य के ऊपर आने से समीप के पत्थर पर गर्मी से व्याकुल उस बालक को देखा। उनके मन में यह चिन्ता हुई कि यह अनाथ बालक किसका है और ऐसा सोचते हुये उन्होंने उस बालक को अपने आश्रम-स्थान पर लाया। लाये जाने पर वह सरस्वती का बालक एक क्षण में ही स्वस्थ हो गया। उसने उन उशना मुनि के लिये छन्दोमयी वाणी को प्रेरित किया। अकस्मात् दूसरों को विस्मित करते हुये उशना मुनि बोल उठे—

"सूक्तियों की कामधेनु सरस्वती देवी मेरे हृदय में निवास करें जो कविरूपी दूध दुहनेवालों के द्वारा नित्य दुही जाने पर भी न दुही गयी के समान हैं अर्थात् जो कभी परिक्षीण नहीं होतीं।"

तभी से अध्येताओं का नाम सुमेधस् पड़ा। तभी से उन उशना को सज्जन लोग कवि कहने लगे। इसी से अन्य कविता करने वाले भी संसार में कवि कहे जाने लगे। कवि शब्द 'कवृ वर्णने' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है काव्यकर्म अर्थात् काव्य-रचना। काव्य के साथ

रूपम् । काव्यैकरूपत्वाच्च सारस्वतेयेऽपि काव्यपुरुष इति भक्त्या प्रयुञ्जते । ततश्च विनिवृत्ता वाग्देवी तत्र पुत्रमपश्यन्ती मथ्येहृदयं चक्रन्द । प्रसङ्गागतश्च वाल्मीकिर्मुनिवृषा सप्रश्रयं तमुदन्तमुदाहृत्य भगवत्यै भृगुसूतेराश्रमपदमदर्शयत् । सापि प्रस्नुतपयोधरा पुत्रायाङ्कपालीं ददाना शिरसि च चुम्बन्ती स्वस्तिमता चेतसा प्राचेतसायापि महर्षये निभृतं सच्छन्दांसि वचांसि प्रायच्छत् । अनुप्रेषितश्च स तया निषादनिहतसहचरीकं क्रौञ्चयुवानं करुणक्रेङ्कारया गिरा क्रन्दन्तमुदीक्ष्य शोकवान् श्लोकमुज्जगाद—

'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥'

एक रूप होने से ही सरस्वतीपुत्र-सारस्वतेय भी लक्षणा से काव्य-पुरुष कहे जाते हैं । (स्नान करने के बाद) लौटी सरस्वती देवी पुत्र को वहाँ न देखकर हृदय में क्रन्दन करने लगीं । मुनि-श्रेष्ठ वाल्मीकि प्रसङ्गवश वहाँ आये और उन्होंने विनम्रता के साथ सारा वृत्तान्त भगवती सरस्वती को बताया तथा उन्हें भृगु-पुत्र शुक्र का आश्रम दिखा दिया । स्तनों से दूध चुवाती हुई पुत्र को गोदी में लेकर उसका शिर-चुम्बन करती हुई प्रसन्नमना होकर भगवती सरस्वती ने प्रचेता-पुत्र महर्षि वाल्मीकि को भी स्वच्छन्द छन्दोमयी पर्याप्त वाणी प्रदान की । सरस्वती द्वारा विदा किये जाने पर उन महर्षि वाल्मीकि ने ऐसे क्रौञ्चयुवा को देखा जिसकी सहचरी को निषाद ने मार डाला था और जो करुणा-पूर्ण वाणी से क्रन्दन कर रहा था । उसे देखकर शोक-सन्तप्त महर्षि के मुख से यह श्लोक निकल पड़ा—

'तू शाश्वत प्रतिष्ठा को न प्राप्त कर क्योंकि काममोहित क्रौंच-जोड़े में से एक को मार डाला है ।'[२]

१. भृगुभूतेः पाठान्तर ।
२. राजशेखर का उपर्युक्त वर्णन वाल्मीकि के वर्णन के विपरीत है । तुलना कीजिये—

तस्याभ्याशे तु मिथुनं चरन्तमनपायिनम् ।
ददर्श भगवांस्तत्र क्रौञ्चयोश्चारुनिस्स्वनम् ॥
तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः ।
जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यतः ॥

ततो दिव्यदृष्टिर्देवी तस्मा अपि श्लोकाय वरमदात्, यदुतान्यदनधीयानो यः प्रथममेनमध्येष्यते स सारस्वतः कविः संपत्स्यत इति। स तु महामुनिः प्रवृत्तवचनो रामायणमितिहासं समदृभत्; द्वैपायनस्तु श्लोकप्रथमाध्यायी तत्प्रभावेण शतसाहस्रीं संहितां भारतम्।

एकदा तु ब्रह्मर्षिवृन्दारकयोः श्रुतिविवादे दाक्षिण्यवान् देवः स्वयंभूस्तामिमां निर्णेत्रीमुद्दिदेश। उपश्रुतवृत्तान्तश्च मातरं व्रजन्तीं सोऽनुवव्राज। 'वत्स! परमेष्ठिनाऽननुमतस्य ते न ब्रह्मलोकयात्रा निःश्रेयसाये'त्यभिदधाना हठान्न्यवर्तयदेनमात्मना तु प्रवव्रते। ततः स काव्यपुरुषो रुषा निश्चक्राम। प्रियं मित्र-

---

तदनन्तर दिव्यदृष्टि वाली देवी सरस्वती ने उस श्लोक को भी वरदान दिया कि 'जो व्यक्ति अन्य वस्तु न पढ़कर (भी) इस श्लोक को पहले पढ़ेगा वह सारस्वत कवि अर्थात् सिद्ध वाणी वाला कवि होगा।' उन महामुनि वाल्मीकि ने भी (इस प्रकार वर पाकर) पद्य-निर्माण में संलग्न होकर रामायण-नामक इतिहास-ग्रन्थ की रचना की। कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास ने भी इस श्लोक का प्रथम अध्ययन करने के प्रभाव से एक लाख श्लोकों वाली महाभारत-संहिता की रचना की।

एक बार ब्रह्मर्षियों तथा देवताओं में वेद-विषयक विवाद होने पर विदग्ध भगवान् ब्रह्मा ने देवी सरस्वती को इस विवाद की निर्णायिका बनाया (इस आज्ञा से सरस्वती देवी ब्रह्मलोक को चलीं)। जब सारस्वतेय काव्यपुरुष को मां सरस्वती के ब्रह्मलोक जाने का यह उदन्त ज्ञात हुआ तो वे भी उनके पीछे-पीछे चल दिये, (काव्यपुरुष को पीछे आता देख सरस्वती ने कहा—) 'पुत्र! ब्रह्मा जी ने तुझे ब्रह्मलोक जाने की आज्ञा नहीं दी है अतः वहाँ जाने में तेरी भलाई नहीं।' इस प्रकार कहकर जबर्दस्ती उन्होंने लौटा दिया और स्वयं ब्रह्मलोक चली गयीं। उनके जाने पर वे काव्यपुरुष

तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले।
भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुराव करुणां गिरम्॥—रामायण १.२.९–११

१. तुलना कीजिये—
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती।
रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम॥ —रामायण १.२.३१

मस्य च कुमारः साक्रन्दं रुदन्नभ्यधीयत गौर्या 'तात ! तूष्णी-मास्स्व साऽहमेषा निषेधामीति' निगदन्ती समचिन्तयत् । प्रायः प्राणभृतां प्रेमाणमन्तरेण नान्यद्बन्धनमस्ति, तदेतस्य वशीकरणं कामपि स्त्रियं सृजामीति विचिन्तयन्ती साहित्यविद्यावधूमुदपाद-यदादिशच्चैनामेष ते रुषा धर्मपतिः पुरः प्रतिष्ठते तदनुवर्त्तस्वैनं निवर्त्तय च । भवन्तोऽपि हन्त ! मुनयः ! काव्यविद्यास्नात-काश्चरितमेतयोः स्तुध्वमेतद्धि वः काव्यसर्वस्वं भविष्यतीत्यभि-धाय भगवती भवानी जोषमासिष्ट । तेऽपि तथा कर्त्तुमवतस्थिरे ।

अथ सर्वे प्रथमं प्राचीं दिशं शिश्रियुर्यत्राङ्गवङ्गसुह्मब्रह्म-पुण्ड्राद्या जनपदाः, तत्राभियुञ्जाना तमौमेयी यं वेषं यथेष्टम-

---

रुष्ट होकर चिल्ला उठे । काव्यपुरुष के इस प्रकार रोने पर उनका प्रिय मित्र कुमार कार्तिकेय भी जोर-जोर से रोने लगा । तब कुमार की माता गौरी ने कहा—'पुत्र ! तू चुप हो जा । उसे मैं मनाती हूँ ।' ऐसा कह कर वे सोचने लगीं—'प्रायेण प्राणियों का प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई बन्धन नहीं ।[1] अतः इसको भी वश में करने के लिए किसी स्त्री की रचना करूँ, ऐसा सोचकर साहित्य-विद्यावधू को उत्पन्न किया और उसे आज्ञा दी कि 'तेरा यह धर्म-पति क्रुद्ध होकर आगे जा रहा है अतः इसका अनुगमन करो और इसे लौटाओ' । फिर मुनियो से कहा—हे मुनिगणो ! तुम भी काव्य विद्या के स्नातक हो, अतः तुम लोग भी इन दोनों के चरित्र की स्तुति करो । यही तुम लोगों का काव्य-सर्वस्व होगा ।' ऐसा कह कर भगवती पार्वती चुप हो गयीं । उन लोगों ने भी उनके आदेशानुसार किया ।

तदनन्तर वे सभी पहले पूर्वीय देशों में गये जहाँ अङ्ग, बङ्ग, सुह्म, ब्रह्म तथा

---

१. तुलना कीजिये—

दृष्ट्वाऽन्येभं छेदमुत्पाद्य रज्ज्वा यन्तुर्वाचं मन्यमानस्तृणाय ।
गच्छन्दभ्रे नागराजः करिण्या प्रेम्णा तुल्यं बन्धनं नास्ति जन्तोः ॥

—इसी ग्रन्थ के अध्याय १२ में उद्धृत

तथा—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत् ।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे ॥

सेविष्ट, स तत्रत्याभिः स्त्रीभिरन्वक्रियत । सा प्रवृत्तिरौड्रमागधी[1] । तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः—

'आर्द्रार्द्रचन्दनकुचार्पितसूत्रहारः
सीमन्तचुम्बिसिचयः स्फुटबाहुमूलः ।
दूर्वाप्रकाण्डरुचिरास्वगुरूपभोगाद्
गौडाङ्गनासु चिरमेष चकास्तु वेषः ॥'

यदृच्छयाऽपि यादृङ्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीत् तद्वेषाश्च पुरुषा बभूवुः । साऽपि सैव प्रवृत्तिः । यदपरं नृत्तवाद्यादिक-

---

पुण्ड्र आदिक जनपद हैं।[2] उस काव्यपुरुष को अनुरक्त करने के लिये उमा-पुत्री ने जिस वेष का इच्छानुसार सेवन (धारण) किया उस-उस देश की स्त्रियों ने भी उस रूप का अनुकरण किया। इस अनुकरण-वृत्ति का नाम औड्रमागधी है। स्त्रियों की इस अनुकरण-प्रवृत्ति की मुनियों ने प्रशंसा की—

'गौडीय (वंग) ललनाओं के ये वेश जो अगर के उपयोग से दूबके अङ्कुर के समान हो गये हैं, जिनमें गीले चन्दन से सिक्त स्तनों पर सूत्र-हार सुशोभित हैं, जिनमें वस्त्र सीमन्त का स्पर्श कर रहा है, और बाहु-मूल (कांख) स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं, चिरकाल तक सुशोभित हो।'

जिस वेश का धारण सारस्वतेय काव्य पुरुष ने स्वभावतः किया उस वेश का धारण वहाँ के पुरुषों में भी कर लिया। इस प्रवृत्ति का नाम भी वही (औण्ड्र या रौद्र मागधी) पड़ा। तदनन्तर उमा-पुत्री (औमेयी) ने जिस नृत्त, वाद्य आदि को किया उसी का नाम भारती पड़ा।[3]

---

१. रौद्रमागधी इति पाठान्तरम् ।

२. कुछ लोगों की राय में ये अंश भरत नाट्यशास्त्र के १३ वें अध्याय के अनुकरण पर लिखे गये हैं—

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोक्तृभिः ।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी ॥ इत्यादि ।

अन्यत्र भी—

अङ्गवङ्गकलिङ्गाश्च वत्साश्चैवौड्रमागधाः ।
अन्येऽपि देशाः प्राच्यां ये पुराणे संप्रकीर्तिताः
तेषु प्रयुज्यते त्वेषा प्रवृत्तिश्चौड्रमागधी ॥

३. भरत-निर्दिष्ट भारती वृत्ति का लक्षण निम्नलिखित है :

या वाक्यप्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

मेषा चक्रे सा भारती वृत्तिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण। तथाविधाकल्पयापि तया यदवशंवदीकृतः समासवदनुप्रासवद्योगवृत्तिपरम्परागर्भं (वाक्यं) जगाद सा गौडीया रीतिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण। वृत्तिरीतिस्वरूपं यथावसरं वक्ष्यामः।

ततश्च स पञ्चालान्प्रत्युच्चचाल। यत्र पाञ्चालशूरसेनहस्तिनापुरकाश्मीरवाहीकबाह्लीकबाह्लवेयादयो जनपदाः। तत्राऽभियुञ्जाना तमौमेयीति समानं पूर्वेण। सा पाञ्चालमध्यमा प्रवृत्तिः। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः—

ताटङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेखमानाभिलम्बिदरदोलिततारहारम्।
आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितोत्तरीयं वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम्॥'

उस वृत्ति की भी मुनियों ने स्तुति की। इस प्रकार की वेश-भूषादि की कल्पना करने पर भी वह काव्यपुरुष औमेयी के वश में नहीं आया। वहाँ औमेयी ने समासवहुल, सानुप्रासिक, योगवृत्ति, तथा परम्परागर्भ वाक्य कहे। यह गौडी रीति है। इसकी भी मुनियों ने स्तुति की। वृत्ति तथा रीति के स्वरूप का वर्णन हम यथा अवसर करेंगे।

तदनन्तर वह काव्यपुरुष पाञ्चाल देश के प्रति चला। पञ्चाल देश में पञ्चाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक, बह्लीक, बाह्लवेय आदि देश हैं।[1] वहाँ भी काव्यपुरुष का अनुगमन करती हुई औमेयी ने जिस-जिस रूप का वरण किया वहाँ की स्त्रियों ने उस रूप का अनुगमन किया। यह प्रवृत्ति पाञ्चालमध्यमा के नाम से ख्यात हुई। इस रूप की मुनियों ने प्रशंसा की—

'कर्णभूषण के हिलने से जिसमें गण्डलेखा हिल उठी है, जिसमें चञ्चल श्वेत हार नाभि तक लटका हुआ है और जिसमें अधोवस्त्र (उत्तरीय) जघन से लेकर घुटने तक लटक रहा है ऐसा महोदय-सुन्दरियों का वेश नमस्करणीय है।'

---

१. भरत के एतद्विषयक निम्नलिखित कथन से तुलना कीजिए—

पाञ्चालाः शौरसेनाश्च काश्मीरा हास्तिनापुराः।
हिमवत्संश्रिता ये तु गङ्गायाश्चोत्तरां दिशम्॥
ये श्रिता वै जनपदास्तेषु पाञ्चालमध्यमाः॥

किञ्चिदार्द्रमना यन्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीदिति समानं पूर्वेण। साऽपि सैवेति समानं पूर्वेण। यदीषन्नृत्तगीतवाद्यविलासादिकमेषा दर्शयांबभूव सा सात्वती वृत्तिः आविद्धगतिमत्त्वात्सा चारभटी। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण। तथाविधाकल्पयापि तया यदीषद्वशंवदीकृत ईषदसमासमीषदनुप्रासमुपचारगर्भञ्च (वाक्यं) जगाद सा पाञ्चाली रीतिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण।

ततः सोऽवन्तीन्प्रत्युच्चचाल। यत्रावन्तीवैदिशसुराष्ट्रमालवार्बुदभृगुकच्छादयो जनपदाः। तत्राभियुञ्जाना तमौमेयीति समानं पूर्वेण। सा प्रवृत्तिरावन्ती। पाञ्चालमध्यमादाक्षिणात्ययोरन्तरचारिणी हि सा। अत एव सात्वतीकैशिक्यौ तत्र

कुछ सिक्त मन होकर सारस्वतेय ने जिस रूप का वरण किया वहाँ के पुरुषों ने भी उसे स्वीकार किया। इस प्रवृत्ति का नाम भी पञ्चालमध्यमा पड़ा। औमेयी ने जिस किञ्चित् नृत्त, गीतादि का प्रदर्शन किया उसका नाम सात्वती वृत्ति पड़ा।[1] कुछ इसी में कुटिलगति का संयोग होने पर इसे आरभटी वृत्ति कहते हैं।[2] इनकी मुनियों ने स्तुति की। इस प्रकार के व्यवहार से उसने काव्यपुरुष को जो कुछ-कुछ वश में किया उसमें उसने किञ्चित् सामाजिक, किञ्चित् आनुप्रासिक तथा उपचारपूर्ण बातें कहीं। इसी को पाञ्चाली रीति कहते हैं। इसकी मुनियों ने स्तुति की।

इसके बाद सारस्वतेय अवन्ति देश की ओर चले। अवन्ती देश में अवन्ती, वैदिश, सुराष्ट्र, मालव, अर्बुद, भृगुकच्छ आदि जनपद हैं। उनका अनुगमन करती हुई औमेयी ने जिस वेश को धारण किया वहाँ की नारियों ने भी उसका अनुसरण किया। इस प्रवृत्ति को आवन्ती कहते हैं। यह वृत्ति पाञ्चालमध्यमा तथा दक्षिणात्या के बीच की है। इसी लिये सात्वती तथा

---

१. या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्वितं च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥
—भरत : नाट्यशास्त्र

२. प्रभावयातप्लुतलंघितानि चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं वदन्ति। —तत्रैव

वृत्ती । तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः—

'पाञ्चालनेपथ्यविधिर्नराणां स्त्रीणां पुनर्नन्दतु दाक्षिणात्यः ।
यज्जल्पितं यच्चरितादिकं तदन्योन्यसंभिन्नमवन्तिदेशे ॥'

ततश्च स दक्षिणां दिशमाससाद । यत्र मलयमेकलपालमंजराः पर्वताः । कुन्तलकेरलमहाराष्ट्रगाङ्गकलिङ्गादयो जनपदाः । तत्राभियुञ्जाना तमौमेयीति, समानं पूर्वेण । सा दाक्षिणात्या प्रवृत्तिः । तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः ।

'आमूलतोवलितकुन्तलचारुचूडश्चूर्णालकप्रचयलाञ्छितभालभागः ।
कक्षानिवेशनिबिडीकृतनीविरेष वेषश्चिरं जयति केरलकामिनीनाम् ॥'

तामनुरक्तमनाः स यन्नेपथ्यः सारस्वतेय आसीदिति समानं पूर्वेण । साऽपि सैवेति समानं पूर्वेण । यद्विचित्रनृत्तगीतवाद्यविलासादिकमेषाविर्भावयामास सा कैशिकी वृत्तिः ।

कौशिकी वृत्तियाँ वहां पायी जाती हैं । मुनियों ने इसकी स्तुति की ।

'पाञ्चाल देश के पुरुषों तथा दक्षिण देश की स्त्रियों की वेश-भूषा एवं व्यवहार प्रशंसनीय है । इन दोनों के भाषण और व्यवहार का संमिश्रण अवन्ति देश में हैं ।'

फिर वे दक्षिण दिशा में गये जहाँ मलय, मेकल, कुन्तल, केरल, पाल, मञ्जर आदि पर्वत हैं तथा महाराष्ट्र, गाङ्ग, कलिङ्ग आदि जनपद हैं । वहाँ काव्यपुरुष का अनुगमन करती हुई औमेयी के वेश का स्त्रियों ने अनुसरण किया । यह दाक्षिणात्या प्रवृत्ति है । इसकी मुनियों ने स्तुति की ।

'मूलभाग से ही केशों के वक्र हो जाने से जिनका चूड (जूड़ा) सुन्दर है, सुगन्धित केशराशि से जिसका भाल प्रदेश सुन्दर है तथा जिसमें कक्षा के निवेश स्थान में नीवी (वसन-ग्रंथि) छिपा ली गयी है केरल-नारियों ऐसे के रूप की जय हो ।'

उस पर अनुरक्त होकर सारस्वतेय ने जिस वस्त्र को धारण किया वहां के पुरुषों ने भी उसका अनुगमन किया । औमेयी ने जिस विचित्र नृत्य, गीत, वाद्य, हाव-भावादि का उत्पादन किया उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं[1] । इसकी

---

१. या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ॥ —भरत

तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण यदत्यर्थं च स तया वशंवदीकृतः स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भं च (वाक्यं) जगाद सा वैदर्भी रीतिः । तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण ।

तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः । 'चतुष्टयो गतिर्वृत्तीनां प्रवृत्तीनां च देशानां पुनरानन्त्यं तत्कथमिव कात्स्न्र्येन परिग्रहः, इत्याचार्याः । अनन्तानपि हि देशांश्चतुर्धैवाकल्प्य कल्पयन्ति 'चक्रवर्तिक्षेत्रं सामान्येन तदवान्तरविशेषैः पुनरनन्ता एव' इति यायावरीयः । दक्षिणात्समुद्रादुदीचीं दिशं प्रति योजनसहस्रं चक्रवर्तिक्षेत्रं, तत्रैष नेपथ्यविधिः । ततः परं दिव्याद्या अपि यं देशमधिवसेयुस्तद्देश्यं वेषमाश्रयन्तो निबन्धनीयाः । स्वभूमौ तु कामचारः । द्वीपान्तरभवानां तदनुसारेण वृत्तिप्रवृत्ती । रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात् ।

मुनियों ने स्तुति की । उनके अत्यन्त वशीकरण में उसने युक्तानुप्रासिक, समासरहित और व्यञ्जक वाक्यों का प्रयोग किया इसी को वैदर्भी रीति कहते हैं । उसकी मुनियों से स्तुति की ।

इनमें वेश-विन्यास-क्रम को प्रवृत्ति कहते हैं[1] । विलास-हाव-भाव के विन्यासक्रम को वृत्ति कहते हैं । वचन-विन्यास की पद्धति की रीति संज्ञा है । यहाँ आचार्यों की शंका है कि (आप के मतानुसार यदि) "वृत्तियाँ तथा रीतियाँ चार ही हैं तो फिर अनन्त देशों का उनमें पूर्णतः समाहार कैसे होगा ?" यहाँ यायावरीय राजशेखर का उत्तर है कि अनन्त देशों को भी कवि-गण चार भागों में विभक्त कर अपना कार्य-सम्पादन करते हैं । (उदाहरणार्थ) यह समग्र देश चक्रवर्तिक्षेत्र है किन्तु उसके अवान्तर विभाग अनन्त हैं । (अब चक्रवर्ति-क्षेत्र की विशेषता बताते हुये कह रहे हैं—) दक्षिण समुद्र से आरम्भ कर उत्तर की ओर एक सहस्र योजन (४ हजार कोश) तक चक्रवर्तिक्षेत्र फैला है । वहाँ पर वेशधारण की यही पद्धति है । इससे भी आगे दिव्य आदि जिस देश में बसे हैं उनके वर्णन में उस देश के वेशादि का वर्णन करना चाहिये । अपनी भूमि का यथेच्छ वर्णन करे । यदि दूसरे द्वीपों का

---

१. तुलना कीजिये—वेशभाषानुकरणात्तथाचारप्रवर्तनात् ।
संक्षेपेणैव व्याख्याता वृत्तिरीतिप्रवृत्तयः ॥

तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम् । तत्र सारस्वतेयस्तामौमेयीं गन्धर्ववत्परिणिनाय । ततस्तद्वधूवरं विनिवृत्त्य तेषु प्रदेशेषु विहरमाणं तुषारगिरिमेवाजगाम, यत्र गौरी सरस्वती च मिथः सम्बन्धिन्यौ तस्थतुः । तौ च कृतवन्दनौ दम्पती दत्त्वाशिषं प्रभावमयेन वपुषा कविमानसनिवासिनौ चक्रतुः । तयोश्च तं सर्गं कविभ्यः स्वर्गलोकमकल्पतां, यत्र काव्यमयेन शरीरेण मर्त्यमधिवसन्तो दिव्येन देहेन कवय आकल्पं मोदन्ते ।

इत्येष काव्यपुरुषः पुरा सृष्टः स्वयम्भुवा ।
एवं विभज्य जानानः प्रेत्य चेह च नन्दति ।।

।। इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः काव्यपुरुषोत्पत्तिः ।।

—: ० :—

वर्णन करना है तो उनके अनुसार वहाँ की वृत्ति तथा प्रवृत्ति का वर्णन करें । रीतियाँ तीन हैं । उनका वर्णन आगे (यथावसर) होगा ।

विदर्भ देश में मनोजन्मा भगवान् कामदेव का क्रीड़ा-स्थल वत्सगुल्म नामक नगर है । वहाँ पर सारस्वतेय काव्यपुरुष ने उस औमेयी साहित्यवधू के साथ गान्धर्व पद्धति से विवाह किया । तदनन्तर वे वधू-वर उन प्रदेशों में विहार करते हुये तुषारगिरि (हिमालय) पर ही आये । वहाँ गौरी तथा सरस्वती साथ-साथ रहती थीं । प्रणाम किये उस दम्पति को उमा और सरस्वती ने आशीर्वाद दिया तथा उन्हें प्रभाव-मय शरीर से कवि-मानस का निवासी बना दिया । इस प्रकार उन दोनों के लिये कविलोकरूपी नवीन स्वर्ग की सृष्टि हुई । इस स्वर्ग लोग में कविजन, मर्त्य लोक में काव्य-शरीर से और मरकर दिव्य शरीर से निवास करते हैं ।[1]

इस काव्यपुरुष को स्वयम्भू ब्रह्माजी ने प्राचीन काल में उत्पन्न किया था । जिसको इसका (साहित्य शास्त्र वा काव्यपुरुष का) विभागपूर्वक ज्ञान है वह लोक तथा परलोक में आनन्द प्राप्त करता है ।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कवि रहस्य नामक प्रथम अधिकरण में
काव्यपुरुषोत्पत्ति नामक तृतीय अध्याय समाप्त

—: • :—

---

१. द्रष्टव्य—आसेदुषामपि दिवं कविपुङ्गवानां तिष्ठत्यखण्डमिह काव्यमयं शरीरम् ।

चतुर्थोऽध्यायः

४ शिष्यप्रतिभे

द्विविधं शिष्यमाचक्षते यदुत बुद्धिमानाहार्यबुद्धिश्च। यस्य निसर्गतः शास्त्रमनुधावति बुद्धिः स बुद्धिमान्। यस्य च शास्त्राभ्यासः संस्कुरुते बुद्धिमसावाहार्यबुद्धिः। त्रिधा च सा, स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः। वर्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्री। तयोर्बुद्धिमान् शुश्रूषते शृणोति गृह्णीते धारयति विजानात्यूहतेऽपोहति तत्त्वं चाभिनिविशते। आहार्यबुद्धेरप्येत एव गुणाः किन्तु प्रशास्तारमपेक्षन्ते। अहरहः सुगुरूपासना तयोः प्रकृष्टो गुणः। सा हि बुद्धिविकासकामधेनुः। तदाहुः—

शिष्य दो प्रकार के होते है: १. बुद्धिमान् और २. अहार्यबुद्धि। जिसकी बुद्धि स्वभावतः शास्त्र का अनुगमन करती है वह बुद्धिमान् शिष्य कहा जाता है और जिसकी बुद्धि शास्त्रों के अभ्यास से संस्कृत अर्थात् परिष्कृत होती है उसे आहार्यबुद्धि की संज्ञा देते हैं। बुद्धि तीन प्रकार की होती हैं—१. स्मृति, २. मति और ३. प्रज्ञा। विगत अर्थ का स्मरण करने वाली बुद्धि स्मृति कही जाती है। वर्तमान का मनन कराने वाली बुद्धि मति है एवं भविष्यदर्थ का प्रज्ञान कराने वाली बुद्धि प्रज्ञा नाम से अभिहित होती है। ये तीनों बुद्धियाँ कवियों की उपकारिणी हैं। (बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि में से) बुद्धिमान् तो सेवा करता है, सुनता है, ग्रहण करता है, धारण करता है, जानता है, तर्क करता है, समाधान करता है तथा वस्तुस्थिति (तत्त्व) का ज्ञान करता है। आहार्यबुद्धि के भी ये ही गुण हैं। परन्तु उन्हें उपदेष्टाओं की जरूरत होती है। इन दोनों अर्थात् बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि के लिये सद्गुरु की प्रतिदिन सेवा प्रकृष्ट गुण है क्योंकि गुरु-उपासना बुद्धि-विकास के लिये कामधेनु है। इस विषय में कहा है:

---

१. ये बुद्धि के आठ गुण कहे गये हैं—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

'प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थपरिग्रहे
तदनु जनयत्यूहापोहक्रियाविशदं मनः।
अभिनिविशते तस्मात्तत्त्वं तदेकमुखोदयं
सह परिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते ॥'

ताभ्यामन्यथाबुद्धिर्दुर्बुद्धिः। तत्र बुद्धिमतः प्रतिपत्तिः। स खलु सकृदभिधानप्रतिपन्नार्थः कविमार्गं मृगयितुं गुरुकुलमुपासीत। आहार्यबुद्धेस्तु द्वयमप्रतिपत्तिः सन्देहश्च। स खल्वप्रतिपन्नमर्थं प्रतिपत्तुं सन्देहं च निराकर्तुमाचार्यानुपतिष्ठेत। दुर्बुद्धेस्तु सर्वत्र मतिविपर्यास एव। स हि नीलीमेचकितसिचयकल्पोऽनाधेयगुणान्तरत्वात् तं यदि सारस्वतोऽनुभावः प्रसादयति तमौपनिषदिके वक्ष्यामः। 'काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते' इति श्यामदेवः। मनस एकाग्रता समाधिः[1]। समा-

"विद्या-वृद्धों का साहचर्य क्रमशः अमृत का कार्य करता है क्योंकि वह पहले तो यथार्थ वस्तु (अर्थात् तत्त्व) के ग्रहण के लिये प्रज्ञा-ज्योति को विस्तृत करता है। तदनन्तर मन को ऊहापोह की क्रिया के लिये समर्थ बनाता है और इसलिये मन अन्ततोगत्वा एक निश्चित तत्त्व को प्राप्त करता है।

इन दोनों से विपरीत बुद्धिवाले शिष्य को दुर्बुद्धि कहते हैं। इनमें बुद्धिमान् सहज ज्ञानवान् होता है। उसे एक बार कहने से ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है। उसको कवि-मार्ग (शैली) को जानने के लिये गुरुकुल में जाना चाहिये। आहार्यबुद्धि वाले शिष्य को (एक बार अभिधान करने पर) एक तो अर्थावबोध नहीं होता दूसरे (यदि अर्थावगम हो भी जाय तो) सन्देह बना रहता है। उसे अप्रतिपन्न अर्थ को जानने तथा सन्देह का निराकरण करने के लिये गुरुओं के पास जाना चाहिये। दुर्बुद्धि को सर्वत्र मति-विपर्यास (उलटी बुद्धि) ही रहता है। वह नीले रंग से रँगे वस्त्र (सिचय) के समान होता है और उसमें दूसरे गुण का आधान नहीं हो सकता। यदि उसमें काव्य-गुण आ सकता है तो सरस्वती की कृपा से। इसका औपनिषदिक अधिकरण में वर्णन करेंगे। श्यामदेव नामक आचार्य का कथन है कि 'काव्य-कर्म में कवि की समाधि की परम आवश्यकता पड़ती है।'

१. तुलना कीजिये—"चित्तैकाग्र्यमवधानम्। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति।"
—वामनीयालङ्कार १. ३. १७

हितं चित्तमर्थान् पश्यति, उक्तश्च—
'सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं यद्गोचरं च विदुषां निपुणैकसेव्यम् ।
तत्सिद्धये परमयंपरमोऽभ्युपायो यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः ॥'

'अभ्यासः' इति मङ्गलः । 'अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः' । स हि सर्वंगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते । समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः । तावुभावपि शक्तिमुद्भासयन्तः । 'सा केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः । विप्रसृतिश्च

समाधि का अर्थ है मन की एकाग्रता । समाहित (एकाग्र) मन (विविध) अर्थों को देखता है । कहा भी है :

"सरस्वती का तत्त्व महान् रहस्य है, केवल विद्वानों को ही गोचर (दृष्ट) है और वह केवल कुशल व्यक्तियों द्वारा ही सेव्य है। उस सारस्वत तत्त्व की सिद्धि के लिये एक मात्र यही परम उपाय है कि ज्ञेय की विधि को जानने वाले चित्त (मन) की परम समाधि हो।"

मङ्गल नाम के आचार्य का मत है कि '(काव्य-तत्त्व की सिद्धि का चरम उपाय) अभ्यास है।' निरन्तर अनुशीलन का ही नाम अभ्यास है। वह अभ्यास सर्वगामी है तथा सर्वत्र निरतिशय (अत्यन्त) कौशल का आधान करता है। समाधि आभ्यन्तर प्रयत्न हैं तथा बाह्य प्रयत्न का नाम अभ्यास है। ये दोनों शक्ति की उद्भावना करते हैं। किन्तु यायावरीय राजशेखर का मत है कि वह (अर्थात् शक्ति) ही केवल काव्य का हेतु है[1] वह शक्ति, प्रतिभा तथा

---

१. काव्य के हेतुविषयक विचारणा में भारतीय साहित्य शास्त्र के आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। शक्ति, अभ्यास और व्युत्पत्ति—सामान्यतया ये तीन काव्य-हेतु स्वीकार किये गये हैं। इस विषय में मम्मट की राय है कि ये तीनों सम्मिलित रूप से काव्य के हेतु हैं :

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ —काव्यप्रकाश १. ३

किन्तु ऐसे भी आचार्य हो गये हैं जो इन तीनों में से एकाध के द्वारा ही काव्य-निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। यद्यपि भामह ने अन्य तत्त्वों का भी निर्देश किया है पर उनका विशेष जोर प्रतिभा पर है—काव्यं तु जायते जातु कस्य चित्प्रतिभावतः (काव्यालङ्कार)। दण्डी ने तीनों को काव्यहेतु स्वीकार किया है—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥—काव्यादर्श १.१०३

आचार्य आनन्दवर्धन का भी मत शक्ति को काव्य का हेतु स्वीकार करता है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥

सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्ति-कर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राम-मर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रति-भासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते। किञ्च महाकव-योऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रत्यां व्यवहृतिं निबध्नन्तिस्म। तत्र देशान्तरव्यवहारः—

'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।

व्युत्पत्ति से भिन्न है। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति शक्ति के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। शक्ति वाले को ही प्रतिभा आती है तथा शक्ति-सम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है। जो शब्द-समूह, अर्थ-समूह, अलङ्कार-शास्त्र, उक्ति-मार्ग तथा अन्य भी एतादृश काव्य-पदार्थों को हृदय में प्रतिभासित करे उसे प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा-हीन व्यक्ति को पदार्थ-समूह अप्रकट रहते हैं किन्तु प्रतिभावाले को न देखने पर भी प्रत्यक्ष-जैसे रहते हैं। क्योंकि मेधाविरुद्र[1], कुमारदास,[2] आदि कवि जन्मान्ध सुने जाते हैं। अथ च महाकवि दूसरे देशों तथा द्वीपों की कथा तथा पुरुषों के दर्शन से वहाँ के व्यवहार का वर्णन करते हैं। इनमें देशान्तर-व्यवहार के वर्णन का यह उदाहरण है:

कल्पवृक्ष वाले वन में वायु के सहारे प्राणों की उचित वृत्ति (अर्थात् जिस स्थान पर इच्छापूरक कल्पवृक्ष है वहाँ वायु पीकर रहना) स्वर्ण-कमलों की धूलि से पीतिमा-प्राप्त जल में पुण्य स्नान-कर्म; रत्नों की शिलाओं से

आचार्य अभिनव गुप्त भी इसी मत के पोषक हैं। शक्ति की व्याख्या रुद्रट के निम्नलिखित वचन से भली भांति हो जाती है—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥—काव्यालङ्कार १.१५

१. मेधाविरुद्र—ये अलङ्कार शास्त्र के आचार्य हैं पर इनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इनका उल्लेख नमिसाधु ने अपनी रुद्रटालं० की टीका में किया है।

२. कुमारदास की जन्मान्धता दन्तकथा पर आश्रित है—द्रष्टव्य संस्कृत साहित्य का इतिहास ले० पं० बलदेव उपा० पृ० २२४ (स० षष्ठ) कुमारदास के विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है:—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ॥—सूक्तिमुक्तावली।

ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥'

द्वीपान्तरव्यवहारः—

'अनेन सार्द्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु ताडीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥'

कथापुरुषव्यवहारः—

'हरोऽपि तावत्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥'

आदिग्रहणात्—

'तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे ।
बाले व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥'

निर्मित घर में ध्यान, देवाङ्गनाओं के पास रहकर संयम (यह आश्चर्य की बात है) अन्य मुनिजन तप के द्वारा जिस की कांक्षा करते हैं ये इन्हीं के पास रहकर तप करते हैं। (अभिज्ञानशाकुन्तल ७.१२ में मारीचाश्रम का वर्णन है। इसमें कवि न देखे हुये स्वर्गीय पदार्थों का वर्णन कर रहा है)।

द्वीपान्तर-व्यवहार के वर्णन का निम्नलिखित उदाहरण है :—

(इन्दुमती को दक्षिण देश के राजा का परिचय कराती हुई सुनन्दा कह रही है—) "हे इन्दुमती! ताल-वन के मर्मररव से गुञ्जित समुद्र के किनारे इस राजा के साथ विहार कर। वहां द्वीपान्तरों से लवङ्ग पुष्पों को लाने वाले पवनों से (सुरत-श्रम जन्य) स्वेदकण जाता रहेगा।" (रघुवंश ६.५७)

(इस उदाहरण में कवि द्वीपान्तर से आने वाले लवङ्ग-पुष्पों का वर्णन कर रहा है। पर उस द्वीप का कवि ने वस्तुतः दर्शन नहीं किया है।)

कथा-पुरुष-व्यवहार का उदाहरण निम्नलिखित है :—

जिस प्रकार चन्द्रोदय होने पर अम्बुराशि (समुद्र) धैर्य को छोड़ देता है उसी भांति भगवान् शङ्कर ने भी धैर्य छोड़कर बिम्बफल के समान अरुण ओष्ठ वाले पार्वती के मुख पर नेत्रों को फेरा। (कुमारसंभव ३. ६७)

(यहाँ कवि ने भगवान् की चेष्टाओं का यद्यपि दर्शन नहीं किया है तथापि कथाओं के आश्रय पर ऐसा वर्णन किया है।)

(कथापुरुष के अनन्तर जो 'आदि' पद है उसका उदाहरण यह है :

(यह इन्दुमती के स्वयम्बर का वर्णन है—) इन्दुमती के उस प्रकार होने पर (अर्थात् राजा के प्रति आकृष्ट होकर खड़ी होने पर) सखी सुनन्दा

सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। इह जन्मसंस्कारयोनिराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी। ऐहिकेन क्रियतापि संस्कारेण प्रथमां तां सहजेति व्यपदिशन्ति। महता पुनराहार्या। औपदेशिक्याः पुनरैहिक एव उपदेशकालः, ऐहिक एव संस्कारकालः। त इमे त्रयोऽपि कवयः सारस्वतः, आभ्यासिकः, औपदेशिकश्च। जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान्सारस्वतः। इह जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्यबुद्धिराभ्यासिकः। उपदेशितदर्शितवाग्विभवा दुर्बुद्धिरौपदेशिकः।

ने कहा—'हे बाले ! चलो यहाँ से दूसरी ओर चलें' इस प्रकार कहने पर वधू इन्दुमती ने ईर्ष्या से उसकी ओर देखा।' (—रघुवंश ६.८२)

(किसी नारी का अपने प्रेमी के प्रति उत्पन्न हुए भाव को पुरुष कवि के लिये जानना सम्भव नहीं। पर प्रतिभा के बल से कवि ने उसे यहाँ निवन्धित किया है।)

और वह प्रतिभा दो प्रकार की है। एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है। वह कारयित्री प्रतिभा भी तीन प्रकार की होती है : १ सहजा, २. आहार्या और ३. औपदेशिकी। सहजा प्रतिभा जन्मान्तर-संस्कार से उत्पन्न होती है। आहार्या प्रतिभा इस जन्म के संस्कारों से उत्पन्न होती है। औपदेशिकी प्रतिभा मंत्र, तन्त्र आदि के उपदेश से प्रोद्भूत होती हैं। कहते हैं, इस लोक के किञ्चित् संस्कार से ही सहजा प्रस्फुटित हीती है। किन्तु, आहार्या के लिये महान् प्रयत्न करने पड़ते हैं। औपदेशिकी के लिये यही जन्म उपदेश-काल तथा संस्कार-काल है। इस प्रकार से तीन प्रकार के कवि सारस्वत, आभ्यासिक तथा औपदेशिक हैं। बुद्धिमान् सारस्वत कवि वह है जिसकी सरस्वती जन्मान्तर-संस्कार से काव्य-कर्म में प्रवृत्त होती है। आहार्या बुद्धि वाला आभ्यासिक कवि वह है जिसकी भारती इस जन्म के अभ्यास से उद्भासित होती है। दुर्बुद्धि औपदेशिक कवि वह है जिसका वाणी-विलास उपदेश से

तस्मान्नेतरौ तन्त्रशेषमनुतिष्ठताम् । 'नहि प्रकृतिमधुरा द्राक्षा फाणितसंस्कारमपेक्षते' इत्याचार्याः । 'न' इति यायावरीयः । एकार्थं हि क्रियाद्वयं द्वैगुण्याय सम्पद्यते । 'तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्' इति श्यामदेवः ।

'सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद्भवेदाभ्यासिको मितः ।
औपदेशकविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति ॥'

'उत्कर्षः श्रेयान्' इति यायावरीयः । स चानेकगुणसन्निपाते भवति । किञ्च—

'बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च ।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम् ॥
काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः ।

होता है । अतः सारस्वत तथा आहार्य बुद्धिवाले को तन्त्रादि-सेवन की आवश्यकता नहीं । आचार्यों का (इस विषय में) कथन है कि 'स्वभाव से मीठे अंगूर को इक्षु-रस की चासनी में संस्कृत करने (पकाने) की आवश्यकता नहीं होती ।' किन्तु यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'ऐसी बात नहीं ।' यदि एक विषय में दुहरी क्रिया प्रयुक्त की जाय तो उससे (अर्थ) दुगुना हो जाता है । श्यामदेव नामक आचार्य का कथन है कि इन तीन प्रकार के कवियों में क्रमशः पहले श्रेष्ठ हैं । क्योंकि—

"सारस्वत कवि स्वतंत्र होता है, आभ्यासिक सीमित होता है किन्तु औपदेशिक सुन्दर तथा सारहीन कहता (रचना करता) है ।"

यायावरीय राजशेखर का मत है कि जितना ही अधिक उत्कर्ष प्राप्त किया जाय उतना ही अच्छा है । उत्कर्ष अनेक गुणों के समूह से होता है । कहा भी है—

'बुद्धिमत्ता, काव्य एवं उसके अङ्गभूत विद्याओं का अभ्यास तथा कवियों का उपनिषत् (रहस्य अर्थात् शक्ति)—ये तीनों एक स्थान पर अत्यन्त दुर्लभ हैं ।'

काव्य तथा काव्याङ्गभूत विद्याओं का जिस विद्वान् ने अभ्यास किया है ।

---

१. भावप्रकाश में फाणित का लक्षण निम्न है—

इक्षो रसस्तु यः पक्वः किञ्चिद्गाढो बहुद्रवः ।
स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितसंज्ञया ॥

मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता ॥'

कवीनां तारतम्यतश्चैष प्रायोवादः । यथा[1]—

'एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य-
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत् ।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वत्
कस्याऽपि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव ॥'

सेयं कारयित्री । भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री । सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति । तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुः । अन्यथा सोऽवकेशी स्यात् 'कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः' इत्याचार्याः । तदाहुः—

'प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा ।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम् ॥'

तथा जो मंत्रों के अनुष्ठान में संलग्न है उसके लिये कविराजत्व (कविराज पद) दूर नहीं अर्थात् वह सद्यः कविराजत्व को प्राप्त हो जाता है ।

कवियों की तारतम्यता (श्रेणी-विभाग) के बारे में यह प्रसिद्ध भी है—

एक कवि के तो घर में ही काव्य रह जाता है तथा दूसरे का काव्य मित्रों के घर तक पहुँचता है । किन्तु एक दूसरे प्रकार के कवियों का काव्य विदग्धों के मुख तक पैर रखकर मानो संसार को देखने के कुतूहल से चलता है अर्थात् सर्वत्र फैल जाता है ।

यह तो कवि से सम्बद्ध कारयित्री (रचनात्मक) प्रतिभा का विवेचन रहा । अब भावक (आलोचक) की उपकारिका भावयित्री प्रतिभा का वर्णन किया जाता है । वह अर्थात् भावयित्री प्रतिभा कवि के परिश्रम तथा अभिप्राय का मूल्याङ्कन करती है । उसी के आश्रय से कवि का काव्य-व्यापार-रूपी वृक्ष फलता है । इसके बिना काव्य-वृक्ष वन्ध्य हो जाता है । इस विषय में आचार्यों का कथन है कि 'यदि कवि भावक होता है तथा भावक कवि होता है तो फिर इन दोनों में क्या भेद ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।' कहा भी है—

पृथ्वी पर प्रतिभा के आधार पर विभिन्न प्रकार की प्रतिष्ठा होती है । भावक कवि प्रायः अधम दशा को प्राप्त नहीं होते ।'

---

१. किसी-किसी प्रति में 'यथा' शब्द का अभाव है ।

'न' इति कालिदासः । पृथगेव हि कवित्वाद्भावकत्वं, भावकत्वाच्च कवित्वम् । स्वरूपभेदाद्विषयभेदाच्च । यदाहुः—

'कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवाऽपरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति ।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः ॥'

'ते च द्विधाऽरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च' इति मङ्गलः । 'कवयोपि भवन्ति' इति वामनीयाः । 'चतुर्धा' इति यायावरीयः 'मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च' । 'तत्र विवेकिनः पूर्वे तद्विपरीतास्तु ततोऽनन्तराः' इति वामनीयाः । 'अरोचकिता हि तेषां नैसर्गिकी, ज्ञानयोनिर्वा । नैसर्गिकीं हि संस्कारशतेनाऽपि वङ्गमिव कालिकां ते न जहति । ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्ट-

---

कालिदास नामक आचार्य की राय है कि ऐसी बात नहीं । 'कवित्व से भावकत्व तथा भावकत्व से कवित्व पृथक्-पृथक् हैं । यह पार्थक्य स्वरूपभेद तथा विषयभेद दोनों से है ।' कहा भी है—

"कोई तो वाणी की रचना करने (काव्यकर्म) में समर्थ होते हैं और कोई उसे सुनने में । पर तेरी कल्याणी बुद्धि दोनों में हैं यह हमें आश्चर्य में डालता है । एक वस्तु में अनेक गुणों का सन्निपात नहीं होता ! एक पत्थर (पारस) तो स्वर्ण को उत्पन्न करता है और दूसरा (निकष) उसकी परीक्षा करता है ।"

मङ्गल नामक आचार्य का कथन है कि वे आलोचक दो प्रकार के होते हैं: (१) अरोचकी तथा (२) सतृणाभ्यवहारी । वामन के अनुयायियों का कथन है कि कवि भी अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी दो प्रकार के होते हैं । यायावरीय राजशेखर का कथन है कि पूर्वोक्त दो में मत्सरी तथा तत्त्वाभिनिवेशी ये दो मिलकर आलोचकों की कोटि चार प्रकार की है । वामन के अनुयायियों की राय है कि इन दो (अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी) में पहले अर्थात् अरोचकी तो विवेकी हैं और बादवाले अर्थात् सतृणाभ्यवहारी अविवेकी हैं ।

अरोचकी आलोचकों की अरोचकिता दो प्रकार की होती है—१. नैसर्गिक वा स्वाभाविक तथा २. ज्ञानयोनि । इनमें जो नैसर्गिकी अरोचकिता है वह

ज्ञेयवति वचसि रोचकितावृत्तिरेव' इति यायावरीयः। किञ्च सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी। तथाहि—व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्वत्र प्रथमं सा। प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति। विवेकानुसारेण हि बुद्धयो मधु निष्यन्दन्ते। परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्। विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते। मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचंयमत्वात्।

स पुनरमत्सरी ज्ञाता च विरलः। तदुक्तम्—

'कस्त्वं भोः कविरस्मि काप्यभिनवा सूक्तिः सखे पठ्यतां
त्यक्ता काव्यकथैव सम्प्रति मया कस्मादिदं श्रूयताम्।

सैकड़ों संस्कारों से भी परिवर्तित नहीं होती जैसे कि वज्र (धातुविशेष) सैकड़ों परिशोधनादि संस्कारों के करने पर भी अपनी सहज कालिमा को नहीं छोड़ता। ज्ञान-जन्य अरोचकिता विशिष्ट अर्थवान् वचन (काव्य) पर रीझती है।' ऐसा यायावरीय राजशेखर का मत है। सतृणाभ्यवहारी नाम की जो आलोचक-बुद्धि है वह सर्वसाधारण है (अर्थात् सामान्य वस्तु है) क्योंकि व्युत्पत्ति की इच्छा वाले सभी कौतुकी लोगों की सर्वत्र ही पहले वह होती है; क्योंकि प्रतिभा तथा विवेक की शून्यता गुण तथा अवगुण में विवेक नहीं करती। इसके होने से आलोचक बहुत सी (अनपेक्षित) बातों को ग्रहण कर लेते हैं तथा बहुत सी (अपेक्षित) बातों को छोड़ देते हैं। विवेक के अनुसार चलने पर ही बुद्धि मधु की वृष्टि करती है। आलोचक को परिणाम में यथार्थ द्रष्टा होना चाहिए। भ्रम का विनाश निःश्रेयस् (चरम लाभ) को सम्पन्न करता है। मत्सरी आलोचक दृष्ट पदार्थ को भी नहीं देखते; क्योंकि पर-गुणों के वर्णन में वे वाणी का नियमन करते हैं।

मत्सर (ईर्ष्या) हीन तथा गुणग्राही आलोचक विरले ही होते हैं।[1] कहा भी है :

'तुम कौन हो?' 'मैं कवि हूं।' 'तो मित्र कोई नई सूक्ति पढ़ो।' 'मैंने तो कविता की बात ही इस समय छोड़ दी है।' 'क्यों?' 'सुनो, जो, स्वयं दोष-

---

१. द्र० हर्षचरित षष्ठ उच्छ्वास—

कविरचपलः कविरमत्सरः वणिगतस्करः··· ···राजसूनुरविदुर्विनीतश्च जगति दुर्लभः।

यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं, स्वयं सत्कविः
सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद् दैवान्न निर्मत्सरः ॥'

तत्त्वाभिनिवेशी तु मध्येसहस्रं यद्येकस्तदुक्तम्—

'शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः सङ्घटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥
स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कवेर्भवति ही चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः॥
काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश॥
सन्ति पुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धा गृहे गृहे।
द्वित्रास्तु भावकमनःशिलापट्टनिकुट्टिताः॥

गुण का विवेचन करे तथा सत्कवि भी हो ऐसा भावक (आलोचक) नहीं हैं और यदि दैव-योग से कोई हो भी तो वह निर्मत्सर (द्वेषरहित) नहीं है।'

तत्त्वाभिनिवेशी भावक तो सहस्रों में एक होता है। जैसा कि कहा है :

"विवेचक के अभाव में अन्दर ही दुःखी होने वाले किन्हीं बुद्धिमान् व्यक्तियों के ही पुण्यों के संघटित होने पर उसके काव्य-श्रम को जानने वाला (आलोचक) व्यक्ति मिलता है जो शब्दों की गुंफनविधि का विवेक रखता है, उसकी सूक्तियों से आह्लादित होता है, सघन रसामृत का पान करता है तथा उसके गूढ़ तात्पर्य का चिन्तन करता है।"

भावक (आलोचक) कवि का स्वामी, मित्र, मंत्री, शिष्य तथा आचार्य होता है। आश्चर्य है वह उसका सब कुछ होता है।

कवि का वह काव्य क्या है जो उसके मन तक ही रह जाता है (अर्थात् व्यर्थ है)। उसकी यदि रचनायें दशों दिशाओं में भावकों के द्वारा नहीं पहुँचा दी जातीं तो वे व्यर्थ हैं।[1]

'पुस्तकरूप में बंधे काव्य-ग्रंथ तो घर-घर में हैं। किंतु भावकों के मनरूपी

---

१. तुलना कीजिये—किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृत्तान्तगामिनी।
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम्॥ हर्षचरित १. १०

सत्काव्ये विक्रियाः कश्चिद्भावकस्योल्लसन्ति ताः ।
सर्वाभिनयनिर्णीतौ दृष्टा नाट्यसृजा न, याः ॥
वाग्भावको भवेत्कश्चित्कश्चिद्धृदयभावकः ।
सात्त्विकैराङ्गिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः ॥
गुणादानपरः कश्चिद्दोषादानपरोऽपरः ।
गुणदोषाहृतित्यागपरः कश्चन भावकः ॥
अभियोगे समानेऽपि विचित्रो यदयं क्रमः ।
तेन विद्मः, प्रसादेऽत्र नृणां हेतुरमानुषः ॥
न निसर्गकविः शास्त्रे न क्षुण्णः कवते च यः ।
विडम्बयति सात्मानमाग्रहग्रहिलः किल ॥

शिला-पट्ट पर खुदे तो दो-तीन ही होते हैं ।[1]

सत्काव्य के मन्थन से भावक के मन में जो विकार उठते हैं उन्हें नाटच-निर्माता ब्रह्मा अथवा नाटचशास्त्र के रचयिता भरतमुनि ने सभी अभिनयों के निर्णय में भी नहीं देखा ।

कोई आलोचक तो कवि की वाणी (शब्दों) का आलोचक होता है और कोई हृदय का । और कोई भावक सात्त्विक भावों-आङ्गिक तथा अनुभावों की अलोचना करता है ।

(अथवा कोई तो आलोचना शब्दों से प्रकट करता है और कोई हृदय से तथा कोई-कोई आलोचक सात्त्विक तथा आङ्गिक भावों तथा अनुभावों से उसको प्रकट करता है ।)

कोई आलोचक निर्मितियों के केवल गुणों का ग्रहण करते हैं तो कोई केवल दोषों का । कुछ आलोचक गुणों का ग्रहण कर दोषों का त्याग करते हैं ।

एक प्रकार के ही काव्य में यह जो आलोचना की भिन्नता दिखाई पड़ती है इससे प्रतीत यही होता कि व्यक्तियों की प्रसन्नता का हेतु अलौकिक है ।

जो न तो प्राकृतिक कवि है और न शास्त्र में ही व्युत्पन्न है पर कविता करता है वह अपनी विडम्बना-मात्र प्रस्तुत करता है और हठी है ।

---

१. द्रष्टव्य—

सत्यं सन्ति गृहे-गृहे सुकवयो (शृङ्गारतिलक १.१७)

तथा—

सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे-गृहे ।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव ॥—हर्षचरित १. ६ ।

कवित्वं न स्थितं यस्य काव्ये च कृतकौतुकः ।
तस्य सिद्धिः सरस्वत्यास्तन्त्रमन्त्रप्रयोगतः ॥
यदान्तरं[1] वेत्ति सुधीः स्ववाक्यपरवाक्ययोः ।
तदा स सिद्धो मन्तव्यः, कुकविः कविरेव वा ॥
कारयित्रीभावयित्र्याविती मे प्रतिभाभिदे ।
अथातः कथयिष्यामो व्युत्पत्तिं काव्यमातरम् ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे शिष्यप्रतिभाव्याख्यानः चतुर्थोऽध्यायः ॥

—: ० :—

जिसमें कवित्व नहीं है पर कविता करने का कुतूहल है उसकी सिद्धि सरस्वती के मन्त्र-तन्त्र के प्रयोग से ही हो सकती है।

जब बुद्धिमान् अपने तथा पराये वाक्य के भेद को जानने लगे तो चाहे वह कवि हो या कुकवि उसे सिद्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार कारयित्री तथा भावयित्री प्रतिभाओं का भेद बतलाया गया। अब (अगले अध्याय में) काव्य-जननी व्युत्पत्ति का वर्णन करेंगे।'

राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक व्याख्यान
प्रथम अधिकरण में शिष्यप्रतिभा नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त।

—: ० :—

१. 'पदान्तरं' इति पाठान्तरः।

पञ्चमोऽध्यायः

३. व्युत्पत्तिकविपाकाः

'वहुज्ञता व्युत्पत्तिः' इत्याचार्याः। सर्वतोदिक्का हि कविवाचः। तदुक्तम्—

'प्रसरति किमपि कथञ्चन नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिक्का॥'

'उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः' इति यायावरीयः। 'प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी' इत्यानन्दः। सा हि कवेर-व्युत्पत्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तदाह—

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥'

आचार्यों का कथन है कि 'वहुज्ञता व्युत्पत्ति है';[१] क्योंकि कवियों की वाणी सभी दिशाओं में प्रसृत होती है। कहा भी है—

'अभ्यस्त विषय (गोचर) में किसकी वाणी कुछ वोलने को नहीं उद्यत हो जाती अर्थात् सभी की हो जाती है। कवित्व तो यही है कि कवि की वाणी सभी दिशाओं (विषयों—चाहे वे अभ्यस्त हों वा अनभ्यस्त) में जावे।'

यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'उचित और अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है।' आचार्य आनन्दवर्धन की सम्मति है कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति में प्रतिभा श्रेष्ठ है।' वह कवि के अव्युत्पत्तिजन्य समस्त दोष को आवृत कर लेती है। जैसा कि कहा है—

अव्युत्पत्तिजन्य दोष कवि की शक्ति (प्रतिभा) से ढँक जाता है पर जो अशक्ति (अप्रतिभा)—जन्य दोष है वह सद्यः दिखाई पड़ जाता है।'

---

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने व्युत्पत्ति की परिभाषा देते हुये कहा—'समस्तवस्तु-पौर्वापर्यपरामर्शकौशलं व्युत्पत्तिः। आचार्य मम्मट ने व्युत्पत्ति को निपुणता कहा है। रुद्रट की व्युत्पत्ति की परिभाषा निम्नलिखित है :

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन॥—रुद्रट १.१८।

शक्तिशब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्त्तते । प्रतिभा यथा—

'एतत्किं शिरसि स्थितं मम पितुः, खण्डं सुधाजन्मनो
लालाटं किमिदं त्रिलोचनमिदं, हस्तेऽस्य किं पन्नगाः ।
इत्थं क्रौञ्चरिपोः क्रमादुपगते दिग्वाससः शूलिनः
प्रश्ने वामकरोपरोधसुभगं देव्याः स्मितं पातु वः ॥'

'व्युत्पत्तिः श्रेयसी' इति मङ्गलः । सा हि कवेरशक्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति । तथा हि—

'कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि ।
वैदग्धीचित्तवित्तानां हेया शब्दस्य गुम्फना ॥'

व्युत्पत्तिर्यथा—

'कुतः कण्ठे निष्को नहि किमुत तन्वी मणिलता

यह शक्ति शब्दलक्षणा से (उपचारतः) प्रतिभा के अर्थ में है। प्रतिभा का उदाहरण निम्नलिखित है—

(यह पार्वती–कार्तिकेय का सवाद है। दिगम्बर रूप में खड़े शिव जी को देखकर कार्त्तिकेय जिज्ञासावश पार्वती से प्रश्न कर रहे हैं और पार्वती उनका उत्तर दे रही हैं—)

मेरे पिता के शिर पर यह क्या ?' 'चन्द्रमा का खण्ड ।' यह ललाट पर क्या है ?' 'नेत्र ।' 'इनके हाथ में क्या है ? 'सर्प ।' इस प्रकार कार्त्तिकेय के क्रमशः दिगम्बर शंकर के (शरीरावयवों के) बारे में प्रश्न करते जाने पर पार्वती ने बायें हाथ से उनका मुख बन्द कर दिया और मुस्कराने लगीं। देवी पार्वती का ऐसा स्मित आप लोगों की रक्षा करे।'

(यहाँ कवि की व्युत्पत्ति दर्शनीय है कि उसने पाठकों का ध्यान अनुचित प्रश्न से हटा दिया है।)

मङ्गल नामक आचार्य का कथन है कि (प्रतिभा और व्युत्पत्ति में) व्युत्पत्ति श्रेष्ठ है। वह कवि के अशक्ति अर्थात् प्रतिभाहीनताजन्य दोष को पूर्णतः ढँक लेती है। क्योंकि—

'काव्य-मार्ग में कवि की अशक्ति व्युत्पत्ति द्वारा छिपा दी जाती है। श्रोता उसकी विदग्धता से आकृष्ट हो जाते हैं और शब्दार्थ-गुंफन को भुला देते हैं।' अथवा विदग्धतापूर्ण वचनवाले कवियों की शब्द रचना पर ध्यान देना व्यर्थ है।

'सुरत के लिए उद्यत रमणी ने कण्ठ में निष्क नहीं पहना फिर पतली मणिलता की क्या बात ? कुण्डल को हटा कर पतले लीलापत्र को कान में

कृशं लीलापत्रं श्रवसि निहितं कुण्डलमुचि।
न कौशेयं चित्रं वसनमवदातं तु वसितं
समासन्नीभूते निधुवनविलासे वनितया॥

'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ' इति यायावरीयः। न खलु लावण्यलाभादृते रूपसम्पदृते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय। उभययोगो यथा—

'जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।

पहन लिया। विचित्र रेशमी साड़ी को नहीं पहना अपि तु सफेद धोती पहन ली।

(यहाँ यद्यपि कवि को शृङ्गारोपभोग योग्य कोमल वर्णों का विन्यास करना चाहिये पर इस अशक्ति को उसने अपनी व्युत्पत्ति अर्थात् इस ज्ञान से कि स्वतः रमणोद्यता भारी गहनों कों हटाकर हल्के वस्त्र को धारण करती है, के द्वारा हटा दिया है[1]।)

यायावरीय राजशेखर का मत है कि प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों मिल कर श्रेयस्कर होते हैं। जैसे लावण्य के विना रूप-सम्पत्ति तथा रूप-सम्पत्ति के विना लावण्य शोभाकारी नहीं होते। दोनों के योग का उदाहरण यह है[2]—

"स्वामी महादेव के ताण्डव-नृत्य के अनुकरण पर ताण्डव-नृत्य करती हुई भवानी पार्वती के शरीर रूपी स्वच्छ लावण्यवापी से उत्पन्न हुए रक्तकमल की शोभा प्राप्त करने वाला पार्वती का नूतन दण्डपाद (रक्त चरण) अत्यन्त शोभित हो रहा है। उनका जंघाकाण्ड ही बड़े-बड़े नाल हैं, नखों की स्वच्छ

---

१. कवि की यह कामशास्त्र की व्युत्पत्ति को द्योतित करता रहा है। वात्स्यायन के कामसूत्र (४.१) में निम्नलिखित वचन मिलता है—

बहुभूषणं विविधकुसुमानुलेपनं विविधाङ्गरागसमुज्ज्वलं वास इत्याभिगामिको वेषः। २४
प्रतनुश्लक्ष्णाल्पदुकूलता परिमितमाभरणं सुगंधिता नात्युल्वणमनुलेपन तथा शुक्लान्यन्यानि पुष्पाणीति वैहारिको वेषः॥ २५॥

२. यह पद्य काव्यप्रकाश (सप्तम उल्लास) में 'अवाचकत्व' दोष के प्रसङ्ग में उद्धृत है। इस पद्य में संभृताब्जशोभां विदधत् में जो 'विदधत्' पद है वह 'दधत्' के अर्थ में अवाचक है क्योंकि 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'धा' धातु का प्रयोग विधान (सम्पादन) अर्थ का ही वाचक है 'धारण' का नहीं।

भर्त्तुर्नृत्यानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥'

प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते। स च त्रिधा।

शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविश्च। 'तेषामुत्तरोत्तरीयो गरीयान्' इति श्यामदेवः। 'न' इति यायावरीयः। यथा स्वविषये सर्वो गरीयान्। नहि राजहंसश्चन्द्रिकापानाय प्रभवति, नापि चकोरोऽद्भ्यः क्षीरोद्धरणाय। यच्छास्त्रकविः काव्ये रससम्पदं विच्छिनत्ति। यत्काव्यकविः शास्त्रे तर्ककर्कशमप्यर्थमुक्तिवैचित्र्येण श्लथयति। उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान्यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात्। तस्मात्तुल्यप्रभावावेव शास्त्रकाव्यकवी। उपकार्योपकारकभावं तु मिथः शास्त्रकाव्यकव्योरनुमन्यामहे। यच्छास्त्रसंस्कारः काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकप्रवणता तु निगृ-

---

किरणें सुन्दर कमलकेसर हैं; पैरों में नूतन लगी हुई महावर मानो कमल का किसलय है और गुञ्जायमान मञ्जीर ही भ्रमर है।'

प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से युक्त कवि ही कवि कहा जाता है। वह अर्थात् कवि तीन प्रकार के होते हैं: १. शास्त्रकवि, २. काव्यकवि, और ३. उभयकवि। इनके सापेक्ष महत्त्व के विषय में श्यामदेव नाम के आचार्य का कथन है कि इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। पर यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'नहीं'। अपने-अपने विषय में सभी श्रेष्ठ हैं। न तो राजहंस चंद्रिका का पान कर सकता है और न चकोर पानी से दूध को अलग कर सकता है (अर्थात् दोनों के कार्य अलग-अलग हैं और वे एक दूसरे का काम नहीं कर सकते)। जो शास्त्रकवि होता है वह काव्य में रस-सम्पत्ति का विच्छेद कर देता है। जो काव्यकवि होता है वह शास्त्रीय तर्क-कर्कशता को भी (मनोरम) उक्ति-वैचित्र्य से शिथिल कर देता है। उभयकवि दोनों में श्रेष्ठ है, क्योंकि वह दोनों विषयों में प्रवीण होता है। इस लिये शास्त्रकवि और काव्यकवि दोनों समान प्रभाव वाले हैं। हम शास्त्रकवि तथा काव्यकवि में परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव मानते हैं; क्योंकि शास्त्र-संस्कार काव्य का अनुग्राहक (लाभदायक) होता है। (अर्थात् शास्त्र से परिष्कृत कवि अधिक महत्त्वशाली होता है) पर केवल शास्त्र में ही संलग्नता काव्य के

ह्वाति। काव्यसंस्कारोऽपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरुणद्धि काव्यैक-प्रवणता तु विरुणद्धि।

तत्र त्रिधा शास्त्रकविः। यः शास्त्रं विधत्ते, यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं निधत्ते। काव्यकविः पुनरष्टधा। तद्यथा—रचनाकविः, शब्द-कविः, अर्थ-कविः, अलङ्कारकविः, उक्तिकविः, रसकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थ-कविरिति।

तत्र रचनाकविः—

'लोलल्लाङ्गूलवल्लीवलयितबकुलानोकहस्कन्धगोलै-
र्गोलाङ्गूलैर्नदद्भिः प्रतिरसितजरत्कन्दरामन्दिरेषु।
पण्डेषूद्दण्डपिण्डीतगरतरलनाः प्रापिरे येन वेला-
मालङ्घ्योत्तालतल्लस्फुटितपुटकिनीबन्धवो गन्धवाहाः॥'

लिये हानिकारक होती है। इसी प्रकार काव्य-प्रवणता भी शास्त्रीय वाक्य के परिपाक में सहायक होती है और केवल काव्य-प्रवणता अर्थात् काव्यप्रवणता का प्राधान्य शास्त्रवाक्यपाक में अहितकर होता है।

इनमें शास्त्र-कवि तीन प्रकार के होते हैं: १. जो शास्त्र का निर्माण करता है, २. जो शास्त्र में काव्य को निविष्ट करता है, और ३. जो काव्य में शास्त्र का सन्निवेश करता है। पुनः काव्य-कवि भी आठ प्रकार के हैं—१. रचना-कवि, २. शब्दकवि, ३. अर्थकवि, ४. अलङ्कारकवि, ५. उक्तिकवि, ६. रसकवि, ७. मार्गकवि और ८. शास्त्रार्थकवि।

रचना-कवि का उदाहरण—उस राजा ने समुद्र की वेला को पार कर कमलसमूहों में जलाशय में प्रस्फुटित कमलिनियों की सुगन्ध से सुगन्धित वायु का सेवन किया जो ऊँचे-ऊँचे खजूर के पेड़ों को कँपा रहा है और जिस तट पर कन्दरारूपी मन्दिरों को, बकुलवृक्षों के शाखामण्डल को अपनी चञ्चल लाङ्गूल-रूपी लताओं से वेष्टित कर कृष्णवानर (लङ्गूर) अपनी प्रतिध्वनि से मुखरित कर रहे है।[1]"

---

१. भोजदेव ने अपने सरस्वती-कण्ठाभरण में इसे पद-रचना के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। भोजदेव कहते हैं कि जानबूझकर यहाँ 'रचना' शैली का अनुवर्तन किया गया है—'अधिकानामपुष्टार्थानामपि पदानामनुप्रासाय छन्दःपूरणाय वार्थानुगुण्येन रचितत्वादियं पदरचना।' (२.६९)

त्रिधा च शब्दकविर्नामाख्यातोभयभेदेन। तत्र नामकविः—

'विद्येव पुंसो महिमेव राज्ञः प्रज्ञेव वैद्यस्य दयेव साधोः।
लज्जेव शूरस्य मृजेव यूनो विभूषणं तस्य नृपस्य सैव ॥'

आख्यातकविर्यथा—

उच्चैस्तरां जहसुराजहृषुर्जगर्जुराज-
घ्निरे भुजतटीनिकरैः स्फुरद्भिः।
सन्तुष्टुवुर्मुमुदिरे बहु मेनिरे च
वाचं गुरोरमृतसम्भवलाभगर्भाम् ॥'

नामाख्यातकविः—

'हतत्विषोऽन्धाः शिथिलांसबाहवः
स्त्रियो विषादेन विचेतना इव।

(इसमें शब्दों की छटा तो दर्शनीय है पर अर्थों में वह गाम्भीर्य नहीं। अतः यह रचनाकवि के उदाहरण के रूप में उदाहृत किया गया है।)

शब्दकवि तीन प्रकार के हैं; जो नाम (अर्थात् १. जो सुबन्त संज्ञावाचक पदों का अधिक) का प्रयोग करते हैं, २. जो आख्यात (क्रियापदों) का प्रयोग करते हैं और ३. जो दोनों का प्रयोग करते हैं। नाम कवि का उदाहरण निम्न है—

जिस प्रकार पुरुष का भूषण विद्या, राजा का भूषण महिमा, वैद्य का भूषण प्रज्ञा, साधु का भूषण दया, वीर का भूषण लज्जा, युवक का भूषण शुद्धि है उसी प्रकार उस राजा का भूषण वह (नायिका) है।

(इस उदाहरण में केवल नामपदों का प्रयोग है क्रिया पद एक भी नहीं है)

आख्यात कवि का उदाहरण—

(समुद्रमन्थन के समय) गुरु बृहस्पति की यह बात सुनकर कि तुमलोगों को अमृत प्राप्त होगा देवतागण जोर-जोर से हँसने लगे, प्रसन्न हो गये, गरजने लगे, फड़कती हुई भुजाओं से आघात करने लगे, स्तुति करने लगे, प्रमुदित हो गये और अत्यन्त प्रसन्न हुये।

(इस उदाहरण में संज्ञा पद कम ही हैं और अधिकतर क्रियापद हैं।)

नामाख्यात (अर्थात् नाम और आख्यात दोनों का प्रयोग करने वाले) का उदाहरण—

स्त्रियाँ (पतियों के मरने पर) निष्प्रभ, अन्धी, शिथिल कन्धे तथा

न चुक्रुशुर्नो रुरुदुर्न सस्वनु
र्नचेलुरालिखिता इव क्षणम् ।।'

अर्थकविः—

'देवी पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्युद्भुजे
हर्षाद् भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डयाऽऽलिङ्गिते ।
पायाद् वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानप्रवृत्तिस्तयो-
रन्योन्याङ्कनिपातजर्जरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः ।।'

द्विधाऽलङ्कारकविः शब्दार्थभेदेन । तयोः शब्दालङ्कारः—
'न प्राप्तं विषमरणं प्राप्तं पापेन कर्मणा विषमरणं च ।

वाहुओं वाली तथा विषाद के कारण अचेतन सी हो गयीं । वे न तो क्रन्दन कर पाईं, न रोयीं, न शब्द कर सकीं, न चलीं और क्षण भर तक चित्रलिखित सी (स्तब्ध) रहीं ।

(इस पद्य के पूर्वार्ध में नाम पदों का ही अस्तित्व है और उत्तर पद में वहुत आख्यात ही हैं अतः यह दोनों का उदाहरण है ।)

अर्थकवि का उदाहरण निम्नलिखित है :

'देवी ने पुत्र को उत्पन्न किया है, अतः हे गणो ! नाचो, खड़े क्यों हो ?' इस प्रकार भृङ्गिरिटि के जोर-जोर से कहने पर चामुण्डा ने उनका आलिङ्गन कर लिया । उनके अङ्गों की रगड़ से, (पहनी हुई) जीर्ण हो रही पुरानी वड़ी-वड़ी हड्डियों से ऐसा शब्द निकलने लगा कि वह देवताओं के गम्भीर दुन्दुभि-रव से भी वढ़ गया । ऐसा शब्द आप लोगों की रक्षा करे ।

(यहां कवि की अर्थरचना दर्शनीय है अतः यह अर्थकवि का उदाहरण है । सदुक्तिकर्णामृत में इसे योगेश्वर कृत कहा गया है । सरस्वतीकण्ठाभरण में भी यह श्लोक त्रिविक्रमभट्ट के नाम से उद्धृत है ।

शब्द तथा अर्थ के भेद से अलङ्कार कवि दो प्रकार के होते हैं । इसमें शब्दालङ्कार का उदाहरण निम्नलिखित है :

हाय ! वड़ा दुःख है कि मुझे विषम रण नहीं मिला पर पापकर्म से विष (जहर) द्वारा मरण मिला । मैं भागीरथी गङ्गा के तट पर न मरा । अपितु मन्दभागी मैं गली में जाकर मरा ।

इस उदाहरण में विषम–रण तथा विष-मरण एवं भागीरथ्यां तथा

न मृतो भागीरथ्यां मृतोऽहमुपगुह्य मन्दभागी रथ्याम् ॥'

अर्थाऽलङ्कारः—

'भ्रान्तजिह्वापताकस्य फणच्छत्रस्य वासुकेः ।
दंष्ट्राशलाकादारिद्य कर्तु योग्योऽस्ति मे भुजः ॥'

उक्तिकविः—

'उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाव्यं
स्तनतटपरिणाहो दोर्लतालेह्यसीमा ।

मन्दभागी–रथ्याम् में मध्यपद यमक–(शब्दालङ्कार) है अतः यह शब्दालङ्कार का उदाहरण है ।)

अर्थालङ्कार का उदाहरण—

'जिसकी चञ्चल जिह्वा ही पताका है तथा फणाटोप ही छत्र है ऐसे वासुकि की दाँत रूपी शलाकाओं को भङ्ग करने में मेरी यह भुजा समर्थ है ।'

(यहाँ 'भ्रान्तजिह्वापताका' 'फणछत्र' तथा 'दंष्ट्राशलाका' में रूपक अलङ्कार है । अतः यह अर्थालङ्कार का उदाहरण है ।)

उक्तिकवि का उदाहरण[1]—

'इस सुनयना रमणी में यौवन की रमणीय (मादक) केलियाँ दिखाई पड़ रही हैं । इसका सुन्दर उदर (कटि-प्रदेश) मानिनी के श्वासाघात से त्रुटित होने योग्य है, स्तनतटों की वृद्धि बाहुलताओं को स्पर्श कर रही है, आँखों से पीने योग्य इसका मुखचन्द्र शोभित हो रहा है ।'

(इस पद्य में सुन्दरी का वर्णन करते हुये कवि उसकी कटि की सूक्ष्मता, स्तनों की वृद्धि तथा मुखचन्द्र का सौन्दर्य सुन्दर उक्तियों से ग्रथित करता है

---

१. उक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

'उक्तिर्नाम यदि स्वार्थो भङ्ग्या भव्योऽभिधीयते ।' यहाँ उक्ति का आशय किसी विचार को सुन्दर रीति से प्रस्तुत करना है । सुन्दरतर उपन्यास के लिये कवि को समाधि नामक गुण का उपयोग करना चाहिये । समाधिगुण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताते हुये दण्डी कहते हैं कि—

तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमुपजीवति ॥ काव्यादर्श १. १००

यहां उद्धृत दोनों पद्य समाधि के निदर्शक हैं । समाधि का लक्षण दण्डी, भोज आदि ने 'अन्यधर्मस्यान्यत्रारोपणं' दिया है । इन पद्यों में 'लाव्य', 'लेह्य', 'निपेय' तथा 'प्रतीच्छति' 'अनुवदति' 'अवतरति' शब्द समाधि को दर्शाते हैं ।

स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेयस्त-
दिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य ॥'

यथा वा—

'प्रतीच्छत्याशोकीं किसलयपरावृत्तिमधरः
कपोलः पाण्डुत्वादवतरति ताडीपरिणतिम् ।
परिम्लानप्रायामनुवदति दृष्टिः कमलिनी-
मितीयं माधुर्यं स्पृशति च तनुत्वं च भजते ॥'

रसकविः—

'एतां विलोकय तनूदरि ताम्रपर्णी-
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि ।
यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥'

मार्गकविः—

'मूलं बालकवीरुधां सुरभयो जातीतरूणां त्वचः

अतः यह उक्तिकवि का उदाहरण है। इसमें कोई नायक अपने मित्र से किसी चली जाती हुई सुन्दरी को देखकर यह उक्ति कहता है।)

अथवा—(किसी आरम्भयौवना नायिका का वर्णन करते हुए कहते हैं–) इसका अधर अशोक-पल्लवों की लालिमा का परिवर्तन चाहता है, कपोल पाण्डुता के कारण ताड़ वृक्ष के पके फल के समान हो रहा है ।इसकी दृष्टि वन्द होती कमलिनी का अनुकरण कर रही है। इस प्रकार यह माधुर्य का स्पर्श कर रही है तथा कृश भी हो रही है।

(इस पद्य में यौवनारम्भा नायिका के सौन्दर्य का कथन विचित्र उक्तियों के आश्रय से हुआ है जो इसकी रमणीयता को बढ़ा देता है।)[१]

रसकवि का उदाहरण :

'हे सुन्दरि ! इस ताम्रपर्णी नदी को देखो--जो समुद्र में मिल रही है। इसके जल खुली हुई सीपियों से निकल कर वक्र भृकुटियों वाली नायिकाओं के विस्तृत स्तन-तटों पर हार के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।'

(इस पद्य में श्रृङ्गार-रस का वर्णन करने में कालिदास सफल हुये हैं अतः यह रसकाव्य का उदाहरण है।)

मार्ग (रीति)—कवि का उदाहरण :—

(पूर्वकाल में शिव की तृतीय नेत्राग्नि से—) 'कामदेव के दग्ध हो जाने

सारश्चन्दनशाखिनां किसलयान्यार्द्राण्यशोकस्य च ।
शैरीषी कुसुमोद्गतिः परिणमन्मोचं च सोऽयं गणो
ग्रीष्मेणोष्महरः पुरा किल ददे दग्धाय पञ्चेषवे ॥'

शास्त्रार्थकविः—

'आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥'

एषां द्वित्रैर्गुणैः कनीयान्, पञ्चकैर्मध्यमः, सर्वगुणयोगी महाकविः । दश च कवेरवस्था भवन्ति । तत्र च बुद्धिमदाहार्य-बुद्ध्योः सप्त, तिस्रश्च औपदेशिकस्य । तद्यथा—काव्यविद्यास्ना-

---

पर ग्रीष्म ऋतु ने उसकी तापशान्ति के लिये बहुत सी वस्तुयें दीं जिनमें कोमल लताओं की जड़ें, मालती पुष्प का सुगन्धित वल्कल, चन्दन वृक्षों के सार, अशोक के नवीन-नवीन पल्लव, शिरीष कुसुम और परिपक्व केले हैं ।'

शास्त्रार्थ कवि का उदाहरण यह है :

(वेणीसंहार नाटक १.२३ में सन्धि-प्रस्तावकर्ता श्री कृष्ण का दुर्योधन के द्वारा अपमान होने पर क्रुद्ध भीमसेन सहदेव से कह रहे हैं—) जिसं सनातन देव (भगवान् श्रीकृष्ण) को आत्मा में रमण करने वाले अर्थात् आत्मज्ञानी, निर्विकल्पक समाधि में संलग्न, ज्ञान के उद्रेक से जिनकी मोहग्रंथि टूट गयी है ऐसे लोग तथा सत्त्वगुण प्रधान लोग तमस् तथा ज्योति से परभूत उनको किसी प्रकार देखते हैं उन पुराण-देव को भला यह मोह से अन्धा दुर्योधन कैसे देख सकता है ?

(इस उदाहरण में 'आत्माराम' 'निर्विकल्प समाधि' इत्यादि शब्द योगदर्शन के शब्द हैं अतः यह शास्त्र-कवि का उदाहरण है ।)

इन कवियों में उपर्युक्त गुणों में से जो दो या तीन गुण वाला है वह अवर (निम्न) कोटि का कवि है, जिसमें पांच गुण हों वह मध्यम कोटि का तथा जिसमें समस्त गुण विद्यमान हों वह महाकवि होता है । कवियों की अवस्थाएँ दश प्रकार की होती हैं जिनमें बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि कवि की सात दशायें

---

१. यह पद्य राजशेखर-प्रणीत 'विद्धशालभञ्जिका' (४.५) से उद्धृत है ।

तकः, हृदयकविः, अन्यापदेशी, सेविता, घटमानः, महाकविः, कविराजः, आवेशिकः, अविच्छेदी, सङ्क्रामयिता च। यः कवित्वकामः काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरुकुलान्युपास्ते स विद्यास्नातकः। यो हृदय एव कवते निह्नुते च स हृदयकविः। यः स्वमपि काव्यं दोषभयादन्यस्येत्यपदिश्य पठति सोऽन्यापदेशी। यः प्रवृत्तवचनः पौरस्त्यानामन्यतमच्छायामभ्यस्यति स सेविता।

योऽनवद्यं कवते न तु प्रबध्नाति स घटमानः। योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः। यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये। यो मन्त्राद्युपदेशवशाल्लब्ध-

---

होती हैं तथा औपदेशिक की तीन। ये दश अवस्थायें हैं—१. काव्यविद्यास्नातक, २. हृदयकवि, ३. अन्यापदेशी, ४. सेविता, ५. घटमान, ६. महाकवि, ७. कविराज, ८. आवेशिक, ९. अविच्छेदी तथा १०. संक्रामयिता। जो कवित्व का इच्छुक काव्य की विद्याओं तथा उपविद्याओं को प्राप्त करने के लिये गुरुकुलों का सेवन करता है वह विद्यास्नातक है। जो कवि हृदय में ही कविता करता है तथा छिपाता है वह हृदयकवि है। जो कवि स्वयं अपने काव्य को दोष-भय से दूसरे का कहकर पढ़ता है उसकी अन्यापदेशी संज्ञा है। जो कवि पौरस्त्य कवियों से किसी सर्वश्रेष्ठ कवि की छाया (भाव या शैली) को ग्रहण कर काव्य-रचना करता है उसे सेविता कहते हैं।[1]

जो कवि ऊँची कविता तो करता है पर प्रबन्धरूप से उसे निबद्ध नहीं करता उसको घटमान कहते हैं। जो श्रेष्ठ प्रबन्ध (या किसी प्रकार के प्रबन्ध) के निर्माण में प्रवीण हो वह महाकवि है। जो कवि विभिन्न भाषाओं, विभिन्न प्रबन्धों और विभिन्न रसों में काव्य-निर्माण करने में समर्थ हो उसे कविराज कहा जाता है। ऐसे कवि यदि संसार में हैं तो थोड़े-से ही। जो कवि मंत्रादि के उपदेश से सिद्धि प्राप्तकर आवेश के समय ही कविता करता है वह

---

१. काव्यमीमांसा के बड़ौदा संस्करण के सम्पादक की सम्पत्ति के अनुसार गौड़ों को पौरस्त्य कहा जाता है। उनकी छाया का आशय है गौड़ीया रीति। दण्डी ने अपने काव्यादर्श (१.५०) में गौड़ों को पौरस्त्य कहा है तथा उनकी रीति को गौड़ीया रीति कहा है—द्र० काव्यमीमांसा बड़ौदा संस्करण पृ १६०।

सिद्धिरावेशसमकालं कवते स आवेशिकः। यो यदैवेच्छति तदैवाविच्छिन्नवचनः सोऽविच्छेदी। यः कन्याकुमारादिषु सिद्धमन्त्रः सरस्वतीं संक्रामयति स सङ्क्रामयिता।

सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति। 'कः पुनरयं पाकः ?' इत्याचार्याः। 'परिणामः' इति मङ्गलः। 'कः पुनरयं परिणामः ?' इत्याचार्याः। 'सुपां तिङां च श्रवः सैषा व्युत्पत्तिः' इति मङ्गलः। सौशब्द्यमेतत्। 'पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः' इत्याचार्याः। तदाहुः—

'आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥'

'आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः' इति वामनीयाः। तदाहुः—

आवेशिक है। जो कवि जभी इच्छा हो तभी निरवच्छिन्न कविता करे उसे अविच्छेदी कहते हैं। मंत्र-सिद्ध जो कवि कन्याओं तथा कुमारों में सरस्वती का सञ्चार कर देता है उसे सङ्क्रामयिता कहते हैं।

निरन्तर अभ्यास से कवियों के वाक्यों में परिपक्वता (पाक) आती है। 'यह पाक है क्या वस्तु ?'—ऐसा आचार्यों का प्रश्न है। मङ्गल का उत्तर है कि परिणाम ही पाक है। फिर आचार्यों का प्रश्न है कि यह परिणाम क्या है ? मङ्गल उत्तर देते हैं कि सुबन्त एवं तिङन्त शब्दों की श्रोत्र-मधुरा व्युत्पत्ति ही (अथवा संस्कार ही) परिणाम है। यही सौशब्द्य है।[1] आचार्यों का मत है कि पद-गुम्फन में निष्कम्पता ही पाक है। जैसा कि कहा है—

पदों को रखने तथा हटाने में प्रवृत्ति तभी तक रहती है जब तक मन दोलायमान रहता है। जब पदों के स्थापन में स्थिरता आ जाय तो समझना चाहिये कि कवि की सरस्वती सिद्ध हो गयी।

'आग्रहवशात् भी पदों में स्थिरता आती है, अतः पदों की परिवृत्ति से विमुखता ही पाक है' ऐसा वामन के अनुयायियों की धारणा है। जैसाकि कहा है—

---

१. तुलना कीजिए—

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ॥—भामह १. १४

तथा—व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता।—सरस्वतीकण्ठाभरण

'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥'

'इयमशक्तिर्न पुनः पाकः' इत्यवन्तिसुन्दरी । यदेकस्मिन्वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान्भवति, तस्माद्रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः । यदाह—

'गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः ।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥'

तदुक्तम्—

'सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥'

'कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ' इति यायावरीयः ।

स च कविग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति । तत्राद्य-

जो पद परिवृत्ति-सहिष्णुता को छोड़ देते हैं ऐसे पाक को शब्दन्यास में निपुण लोग शब्दपाक कहते हैं ।'

अवन्तिसुन्दरी कहती हैं कि यह तो अशक्ति है पाक नहीं; क्योंकि एक ही विषय में महाकवियों के अनेकों भी पाठ परिपक्व होते हैं । अतः रसोचित शब्दार्थ तथा सूक्तियों की रचना को पाक कहते हैं । इस विषय में कहा भी गया है—

'जिस पाक के द्वारा गुण, अलङ्कार, रीति, युक्ति एवं शब्दार्थ का गुम्फन रसज्ञों को आनन्द दे वह मेरी समझ से वाक्य-पाक है ।'

इस विषय में कहा भी है—'वक्ता, अर्थ, शब्द और रस इन सबके होने पर भी जिसके विना वाणी मधुरता को नहीं स्रवित करती वही पाक है ।'

यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'केवल कार्य से अनुमित होने वाला, जैसी रचना (शब्द) वैसा पाक कहा जाने वाला तथा अभिधा का विषय यह पाक केवल सहृदय आलोचकों के द्वारा ही निर्णीत होता है । वस्तुतः यह व्यवहार का अङ्ग है' (भाव यह है पाक का निर्णय तो रसिक आलोचक ही कर सकते हैं और उनका यह निर्णय काव्य को देखने से उसके शब्दार्थ के अनुसार होता है ।)

काव्याभ्यास करने वाले समस्त कवियों का काव्यपाक यह नव प्रकार

न्तयोरस्वादु पिचुमन्दपाकम्, आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम्, आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम्, आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम्, आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम्, आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम्, आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्, आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्, आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकमिति। तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः प्रथमे त्याज्याः। वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात्। कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम्। मध्यमाः संस्कार्याः।

संस्कारो हि सर्वस्य गुणमुत्कर्षयति। द्वादशवर्णमपि सुवर्ण

का होता है। जो काव्य आदि तथा अन्त दोनों समय अस्वादु हो उसे पिचुमन्दपाक की संज्ञा दी जाती है। (पिचुमन्द नीम को कहते हैं अतः पिचुमन्दपाक नीम की तरह कटु होता है)। जो आदि में तो अस्वादु हो तथा अन्त में मध्यम कोटि का हो उसे बदरपाक कहते हैं। जो आदि में अस्वादु तथा अन्त में स्वादु हो उसे मृद्वीकापाक कहते हैं। (मृद्वीका का अर्थ द्राक्षा है)। जो पहले तो मध्यम तथा अन्त में अस्वादु हो उसे वार्त्ताकपाक कहते हैं। जो आदि-अन्त में मध्यम हो उसे तिन्तिडीपाक कहते हैं। जो आदि में मध्यम तथा अन्त में स्वादु हो उसे सहकार (आम्र) पाक कहते हैं।[1] जो आदि में उत्तम तथा अन्त में अस्वादु हो उसे क्रमुक (सुपारी) पाक कहते हैं। जो आदि में उत्तम तथा अन्त में मध्यम हो उसे त्रपुस (ककड़ी) पाक कहते हैं। जो आदि से अन्त तक स्वादु हो वह नारिकेर (नारियल) पाक है। इस तरह तीन-तीन के ये तीन वर्ग हुए। इनमें पहले त्याज्य हैं। अकवि होना अच्छा है पर कुकवि होना ठीक नहीं। कुकविता तो सांस लेते हुए मृत्यु है।[2] इन पूर्वोक्त तीनों वर्गों में मध्यम वर्ग संस्कार्य है।

संस्कार सभी चीजों के गुणों में उत्कर्ष करता है। द्वादश वर्णों (अनेक

---

१. सहकारपाक तथा वृन्ताकपाक के लिए वामन का निम्नलिखित लक्षण देखिये—

गुणस्फुटत्वसाकल्ये काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते॥
सुप्तिङ्संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तु गुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः॥

२. तुलना कीजिए—

नाकवित्वमधर्माय मृतये दण्डनाय च
कुकवित्वं पुनःसाक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।—भामह १.१२

पावकपाकेन हेमीभवति। शेषा ग्राह्याः। स्वभावशुद्धं हि न संस्कारमपेक्षते। न मुक्तामणेः शाणस्तारतायै प्रभवति। अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपाकमामनन्ति। तत्र पलालधूननेन अन्नकणलाभवत्सुभाषितलाभः।

सम्यगभ्यस्यतः काव्यं नवधा परिपच्यते।
हानोपादानसूत्रेण विभजेत्तद्धि बुद्धिमान्॥
अयमत्रैव शिष्याणां दर्शितस्त्रिविधो विधिः।
किन्तु त्रैविध्यमप्येतन्त्रिजगत्यस्य वर्त्तते॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे शिष्यविशेषेषु काव्यपाककल्पः पञ्चमोध्य यः ॥

—: ० :—

धातुओं) से युक्त सुवर्ण भी अग्निसंस्कार से (शुद्ध) सुवर्ण बन जाता है। शेष पाक (अर्थात् त्याज्यों को छोड़ कर) ग्राह्य हैं। जो वस्तु स्वभावतः शुद्ध है उसमें संस्कार की अपेक्षा नहीं होती। शाण के द्वारा मुक्तामणि को अधिक स्वच्छ नहीं किया जा सकता। जिस रचना में पाक अवस्थित न हो उसे कपित्थपाक[1] मानते हैं। जिस तरह भूसा (पलाल=पुआल) को साफ करने से कदाचित् एकाध अन्नकण मिल जाय वैसे ही कपित्थपाक वाले काव्य के अध्ययन से कदाचित् कोई सूक्ति मिल जाय।

सम्यक् अभ्यास करने वाले का काव्य नव प्रकार का बनता है। बुद्धिमान् व्यक्ति उसे त्याज्य तथा ग्राह्य रूप में बांट ले।

यहाँ शिष्यों का तीन प्रकार का विधान बताया गया है पर संसार में इसके बहुत से प्रकार होते हैं।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के प्रथम अधिकरण में शिष्यविशेष वर्णन में काव्यपाककल्प नामक पंचम अध्याय समाप्त

—: ० :—

---

१. कपित्थपाक की परिभाषा भामह ने निम्नलिखित प्रकार से की है—
अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्।
काव्यं कपित्थपाकं तत् केषांचित्सदृशं यथा॥—५.६२

षष्ठोऽध्यायः

६ पदवाक्यविवेकः

व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम्। तस्य पञ्च वृत्तयः सुब्वृत्तिः, समासवृत्तिः, तद्धितवृत्तिः, कृद्वृत्तिः, तिङ्वृत्तिश्च। गौरश्वः पुरुषो हस्तीति जातिवाचिनः शब्दाः। हरो हरिर्हिरण्यगर्भः काल आकाशं दिगिति द्रव्यवाचिनः। श्वेतः कृष्णो रक्तः पीत इति च गुणवाचिनः। पाचकः पाठक इति क्रियावाचिनः। प्रादयश्चादयश्चासत्त्ववचनाः। नगरमुप प्रस्थितः पन्थाः, वृक्षमनु द्योतते

शब्द वह है जो व्याकरणशास्त्र[1] (अष्टाध्यायी आदि) के द्वारा (प्रकृति-प्रत्ययादि के विचार से) निर्णीत (सम्मत) हो तथा उस शब्द का अभिधेय अर्थ वह है जिसे निरुक्त, निघण्टु आदि के द्वारा वह शब्द सूचित करता है। ये दोनों (शब्द तथा उसका अभिधेयार्थ) मिलकर पद कहे जाते हैं (अर्थात् अर्थवान् शब्द पद है।) पद की पाँच वृत्तियाँ होती हैं (वृत्ति का शब्दार्थ है— वर्ततेऽर्थो यासु ता वृत्तयः'—विशिष्ट अर्थ का कथन।)—सुब्वृत्ति, समासवृत्ति, तद्धितवृत्ति, कृद्वृत्ति एवं तिङ्वृत्ति। गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती आदि जातिवाचक हैं (इनमें से प्रत्येक शब्द एक जाति की सूचना देता है)। हर, हरि, हिरण्यगर्भ, काल, आकाश, दिक्—ये द्रव्यवाची हैं। श्वेत, कृष्ण (काला), रक्त (लाल) पीत (पीला)—ये गुणवाची हैं। पाचक, पाठक इत्यादि शब्द क्रियावाची हैं (अर्थात् इन शब्दों से एक विशेष क्रिया की प्रतीति होती है)। प्र तथा च आदि शब्द अद्रव्य या अव्ययवाची[2] हैं। 'नगर के समीप मार्ग गया है' और 'वृक्ष पर विजली चमकी' इन दोनों वाक्यों में

---

१. व्याकरण को स्मृति इसलिए कहा गया है कि वैयाकरण स्मरण (स्मृति) के आधार पर शब्दों के शुद्धाशुद्ध का विवेक करते हैं।

२. अव्यय की परिभाषा निम्न है :

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

विद्युदिति कर्मप्रवचनीयाः। "सेयं सुब्वृत्तिः पञ्चतय्यपि वाङ्मयस्य माता" इति विद्वांसः। सुब्वृत्तिरेव समासवृत्तिः। व्याससमासावेवानयोर्भेदहेतू। सा च षोढा द्वन्द्वादिभेदेन। तत्र षट्समासीसमासक्तम्—

"द्वन्द्वोऽस्मि द्विगुरस्मि च गृहे च मे सततमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाऽहं स्यां बहुव्रीहिः॥"

तद्धितवृत्तिः पुनरनन्ता। तद्धि शास्त्रप्रायोवादो यदुत तद्धितमूढाः पाणिनीयाः। माञ्जिष्ठं रौचनिकं सौरं सैन्धवं वैयासीयमिति तद्धितान्ताः। प्रातिपदिकविषया चेयम्।

'उप' तथा 'अनु' शब्द कर्म के साथ संयुक्त हैं अतः इनको कर्म-प्रवचनीय कहा जाता है। (जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य एवं अद्रव्य इन पांच भेदों के द्वारा) 'पञ्चधा स्थित यह सुब् वृत्ति ही सम्पूर्ण वाङ्मय की जननी है' ऐसा विद्वज्जनों का कथन है अर्थात् सुब् वृत्ति अन्य वृत्तियों की पोषिका है। सुब् वृत्ति ही समासवृत्ति भी है। (यहाँ यह शङ्का समुद्भूत हो सकती है कि यदि दोनों वृत्तियाँ एक ही है तो दोनों में अन्तर क्या रहा और इस प्रकार दोनों का पृथक्-पृथक् अभिधान निरर्थक है—इसी का समाधान करते हुये कह रहे हैं—) इन दोनों में समास (संक्षिप्तीकरण) तथा व्यास (विस्तार) ही भेद के कारण हैं। यह समासवृत्ति द्वन्द्वादि छह प्रकार की है। इन छह समासों का एकत्र कथन निम्न पद्य में संक्षिप्त रूप से कहा गया है—

मैं जोड़ा (स्त्री-पुरुष) हूं, मेरे पास दो गौएँ हैं (द्विगु) अथ च मेरे घर में सर्वदा व्यय (खर्च) करने की कमी (अव्ययी भाव) रहती है (निर्धन हूं) अतः हे पुरुष ! (तत्पुरुष) ऐसा कर्म करो (कर्मधारय) जिससे मैं बहुत धान्यवाला (बहुव्रीहि) बन जाऊँ।' (वस्तुतः इस पद्य में द्वन्द्व, द्विगु, अव्ययीभाव, कर्मधारय, तत्पुरुष और बहुव्रीहि इन सभी छह समासों का श्लेष द्वारा कथन किया गया है।[१]

तद्धितवृत्ति अनन्त है। शास्त्रों में यह बहुशः प्रसिद्ध है कि पाणिनीय व्याकरण के अध्येता तद्धित-वृत्ति के विषय में मूर्ख हुआ करते हैं। माञ्जिष्ठ, रौचनिक, सौर, सैन्धव और वैयासीय ये तद्धितान्त हैं। यह तद्धितवृत्ति (तद्धितान्त शब्द) प्रातिपदिकान्त होकर सुबन्त होते हैं।

---

२. क्षेमेन्द्र ने इस पद्य के रचयिता का नाम भट्टमुक्तिकलश बताया है जो विक्रमाङ्कदेव-चरित के प्रणेता बिल्हण के प्रपितामह थे।

कृद्वृत्तिश्च धातुविषया। कर्त्ता हर्त्ता कुम्भकारो नगरकार इति कृदन्ताः। तिङ्वृत्तिर्दशधा दशलकारीभेदेन। द्विधा च सा धातुसुब्धातुविषयत्वेन। अपाक्षीत् पचति पक्ष्यतीति धातवीयान्याख्यातानि। अपल्लवयत् पल्लवयति पल्लवयिष्यतीति सौब्धातवीयानि।

तदिदमित्थङ्कारं पञ्चप्रकारमपि पदजातं मिथः समन्वीयमानमानन्त्याय कल्पते। तज्जन्मा चैष विदुषां वादो यत्किल दिव्यं समासहस्रं बृहस्पतिर्वक्ता शतक्रतुरध्येता तथापि नान्तः शब्दराशेरासीत्।

तत्र दयितसुब्वृत्तयो विदर्भाः। वल्लभसमासवृत्तयो गौडाः। प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। कृत्प्रयोगरुचय उदीच्याः।

कृद्वृत्ति धातुविषयिका है (कृत् प्रत्यय धातुओं से निष्पन्न होते हैं)। यथा—कृ धातु से कर्ता, हृ से हर्ता तथा कृ से कुम्भकार, नगरकार इत्यादि कृदन्त बने हैं। तिङन्त शब्द दश लकारों के भेद से दश प्रकार के होते हैं। तिङन्त शब्द तिप् धातु तथा सुप् धातु इस दो प्रकार के धातु-भेदों से द्विधा होते हैं। अपाक्षीत्, पचति, पक्ष्यति इत्याद्वि शब्द तिप् धातु से बनते हैं। अपल्लवयत्, पल्लवयति, पल्लवयिष्यति इत्यादि शब्द सुप् धातुओं से निष्पन्न होते हैं।

इस प्रकार ये पाँच प्रकार के पद समूह परस्पर मिलकर अनन्त रूपों को धारण करते हैं। इसीलिए विद्वज्जनों में यह आभाणक प्रसिद्ध है कि 'बृहस्पति वक्ता थे, शतक्रतु इन्द्र अध्येता थे, दिव्य एक सहस्र वर्ष का समय था पर फिर भी शब्दराशि का अन्त न हुआ' (यहाँ पर बृहस्पति का वक्ता, इन्द्र का विद्यार्थी तथा दिव्य एक हजार वर्ष का समय ये तीनों महान् कारण एकत्र हैं तथापि शब्दसमूहों की अनन्तता, शब्दराशि की असीमता को सूचित करता है)

(किस देश में किस वृत्ति का प्रचार है इसकी विवेचना कर रहे हैं—) विदर्भ देश के निवासियों को सुवन्त शब्द प्रिय हैं (अर्थात् वे सुवन्त शब्दों का ही प्राधान्येन प्रयोग करते हैं।) गौड़ देश के निवासियों को समासवाले पद प्रिय हैं। दक्षिण देश के निवासियों को तद्धित शब्द विशेष प्रिय हैं।

अभीष्टतिङ्वृत्तयः सर्वेऽपि सन्तः। तेषां च विशेषलक्षणानुसन्धानेनावर्द्धताख्यातगणः। उक्तञ्च—

"विशेषलक्षणविदां प्रयोगाः प्रतिभान्ति ये।
आख्यातराशिस्तैरेष प्रत्यहं ह्युपचीयते॥"

पदानामधित्सितार्थग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्। "तस्य च त्रिधाऽभिधाव्यापारः" इत्यौद्भटाः। वैभक्तः शाक्तः शक्तिविभक्तिमयश्च। प्रतिपदं श्रूयमाणासूपपदविभक्तिषु कारकविभक्तिषु वा वैभक्तः। लुप्तास्वपि विभक्तिषु समाससामर्थ्यात्तदर्थावगतौ शाक्तः। उभयात्मा च शक्तिविभक्तिमयः। तत्र वैभक्तः—

"नमस्तस्मै वराहाय लीलयोद्धरते महीम्।
खुरयोर्मध्यगो यस्य मेरुः खणखणायते॥"

उदीच्य विद्वानों को कृदन्त शब्द विशेष रुचिकर हैं। तिङन्त शब्द सभी सज्जनों को अभीष्ट हैं। इन तिङन्त पदों के विशिष्ट लक्षणों के अनुसन्धानों से आख्यात (धातु) राशियों की विशेष वृद्धि हुई। कहा भी है—

विशेष लक्षण जानने वालों के (अनेकों) प्रयोग देखे जाते हैं इसी कारण आख्यात-तिङन्त शब्दों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती है।

अभीष्ट अर्थात् कथनीय अर्थ को प्रकट करने वाले पदों के संग्रथित समूह का नाम वाक्य है (वाक्य उन संगठित पदसमूहों का नाम है जो कथनीय अर्थों को प्रकट करने वाले हों)। आचार्य उद्भट के मतानुयायियों के अनुसार वाक्य के अभिधा-व्यापार तीन प्रकार के होते हैं: १. वैभक्त, २. शाक्त, और ३, शक्ति-विभक्तिमय। (अब इन तीनों प्रकारों का निरूपण कर रहे हैं—) जहाँ प्रत्येक पद में उपपद विभक्तियाँ अथवा कारक विभक्तियाँ वाच्य हों वहाँ वैभक्त वाक्य होता है (अर्थात् जहाँ विभक्तियाँ अलुप्त हों वहाँ वैभक्त वाक्य होता है)। जहाँ विभक्तियाँ तो (समस्तपद होने के कारण) लुप्त हों पर समास की शक्ति से उनके अर्थ की प्रतीति हो वहाँ शाक्त नामक भेद होता है। जहाँ दोनों शक्ति-विभक्ति के लक्षण हों उन्हें उभयात्मक कहते हैं। वैभक्त का उदाहरण निम्न है:

कौतुक से पृथ्वी को उठा रहे वराहरूपधारी भगवान् को नमस्कार है, जिनके खुरों के बीच पड़ा मेरु पर्वत खन-खन शब्द कर रहा है। (यहाँ

शाक्तः—

"वित्रस्तशत्रुः स्पृहयालुलोकः प्रपन्नसामन्त उदग्रसत्त्वः ।
अधिष्ठितौदार्यगुणोऽसिपत्रजितावनिर्नास्ति नृपस्त्वदन्यः ॥

यथा वा—

"कण्ठदोलायितोद्दामनीलेन्दीवरदामकाः ।
हरिभीत्याश्रिताशेषकालियाहिकुला इव ॥'

शक्तिविभक्तिमयः—

"अथागादेकदा स्पष्टचतुराशामुखद्युतिः ।
तं ब्रह्मेव शरत्कालः प्रोत्फुल्लकमलासनः ॥"

प्रत्येक पद में विभक्ति का वाच्य प्रयोग होने से वैभक्त (विभक्ति वाला) प्रयोग है) । यह श्लोक सुभाषितावली का है ।

शक्ति का उदाहरण—(कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा करते हुये कह रहा है—) हे राजन् ! आप के अतिरिक्त अन्य कोई राजा ऐसा नहीं है जो शत्रुओं को भयभीत किये हो, जनप्रिय हो, जिसके सामन्त लोग शरणागत हों, जो उग्र पराक्रमवान् हो, औदार्य-गुण से युक्त हो तथा तलवार के बल से पृथ्वी को अधीन किये हो । (इस उदाहरण में राजा के लिये प्रयुक्त छह विशेषण हैं और सभी समस्त पदवाले हैं अतः यह शाक्त का उदाहरण है) ।

अथवा दूसरा उदाहरण लीजिये—जिनके गले में प्रस्फुटित नील कमल की माला सुशोभित थी वे ऐसा लगते थे जैसे हरि (गरुड या श्रीकृष्ण) के भय से कालिय नाग का समस्त कुल आश्रय ग्रहण किये हो । (इस उदाहरण में तत्पुरुष और बहुव्रीहि समास वाले पद हैं इन्हीं के बल से लुप्त विभक्तियों की अर्थ-प्रतीति हो जाती है ।)

शक्ति विभक्तिमय का उदाहरण—यह शरत्काल एक समय ही चारों दिशाओं के मुख की शोभा (प्रारंभिक अंश की शोभा) को बढ़ाते हुए, कमल तथा असन वृक्ष को विकसित करते हुये, चतुरानन ब्रह्मा की भाँति आया । (यहाँ श्लेष के द्वारा ब्रह्मा से शरत्काल की तुलना की गई है । ब्रह्मा-पक्ष में इसका अर्थ है—जिनकी मुख-शोभा चारों दिशाओं में एक समय ही भासमान है तथा जो कमल पर विराजमान हैं) ।

इस उदाहरण में शरत्काल के अर्थ में प्रयुक्त 'स्पष्टचतुराशामुखद्युति' तथा

तत्र वाक्यं दशधा। एकाख्यातम्, अनेकाख्यातम्, आवृत्ताख्यातम्, एकाभिधेयाख्यातं, परिणताख्यातम्, अनुवृत्ताख्यातं, समुच्चिताख्यातम्, अध्याहृताख्यातं, कृदभिहिताख्यातम्, अनपेक्षिताख्यातमिति ॥

तत्रैकाख्यातम्—

"जयत्येकपदाक्रान्तसमस्तभुवनत्रयः ।
द्वितीयपदविन्यासव्याकुलाभिनयः शिवः ॥"

अनेकाख्यातम्—

तच्च द्विधा सान्तरं निरन्तरम् ॥

तयोः प्रथमम्—

"देवासुरास्तमथ मन्थगिरां विरामे
पद्मासनं जय जयेति बभाषिरे च ।

'प्रोत्फुल्लकमलासन' में शाक्त-अभिधा का प्रयोग तथा ब्रह्मा-पक्ष में वैभक्त अभिधा का प्रयोग है।

वाक्य दश प्रकार के होते हैं—१. एकाख्यात, २. अनेकाख्यात, ३. आवृत्ताख्यात, ४. एकाभिधेयाख्यात, ५. परिणताख्यात, ६. अनुवृत्ताख्यात, ७. समुचिताख्यात, ८. अध्याहृताख्यात, ९. कृदभिहिताख्यात और १०. अनपेक्षिताख्यात।

(आख्यात का अर्थ है—तिङ्-क्रिया पद। एकाख्यात वाक्य में एक ही क्रिया पद होता है।) एकाख्यात का उदाहरण निम्न लिखित है—उन शङ्कर भगवान् की जय हो जिन्होंने एक पैर से ही तीनों लोकों को व्याप्त कर लिया है तथा दूसरे पैर को रखने के लिये व्याकुल चेष्टावाले हो गये हैं।

(इस उदाहरण में 'जयति' रूप में एक ही आख्यात-तिङ्-वर्त्तमान है।)

(अनेकाख्यात वह है जिसमें अनेक आख्यात (क्रिया-पद) हों।) अब अनेकाख्यात को देखिये। यह दो प्रकार का होता है १. सान्तर तथा २. निरन्तर (सान्तर वह है जिसमें विभक्ति आदि पदों का व्यवधान हो तथा निरन्तर वह है जिसमें यह न हो।)

इसमें से पहले का उदाहरण लीजिये—

देवता तथा असुर उस समुद्र मंथन-जन्य शब्द के शान्त होने पर ब्रह्माजी की जय-जय करने लगे, चारों ओर से उन्हें घेर लिया, उनका

प्राग्भेजिरे च परितो बहु मेनिरे च
स्वाग्रेसरं विदधिरे च ववन्दिरे च ।।"

. द्वितीयम्—

"त्वं पासि हंसि तनुषे मनुषे बिभर्षि
विभ्राजसे सृजसि संहरसे विरौषि ।
आस्से निरस्यसि सरस्यसि रासि लासि
सङ्क्रीडसे ब्रुडसि मेधसि मोदसे च ।।"

"आख्यातपरतन्त्रा वाक्यवृत्तिरतो यावदाख्यातमिह वाक्यानि" इत्याचार्याः । "एकाकारतया कारकग्रामस्यैकार्थतया च वचोवृत्तेरेकमेवेदं वाक्यम्" इति यायावरीयः ।

सम्मान किया, अपने आगे उन्हें किया तथा उनकी वन्दना की। (यहाँ बभाषिरे तथा भेजिरे कियापदों के बीच च तथा प्राक् की स्थिति है तथा इसी प्रकार अन्य कियापद भी व्यवधान से स्थित हैं।)

द्वितीय (निरन्तर अनेकाख्यात) का उदाहरण निम्न लिखित है :—

हे प्रभो ! आप ही रक्षा करते, मारते, विस्तार करते, सम्मानित करते, पालन करते, शोभित होते, निर्माण करते, संहार करते, शब्द करते मौन रहते, फेंकते, सरसते, देते, लेते, खेलते, डूबते, उतराते एवं प्रसन्न होते हो।'

(इस वाक्य में प्रारम्भ में ते 'त्वं' और अन्त में 'च' है। बीच में सभी क्रियापद विना व्यवधान के बैठाये गये हैं अतः यह निरन्तर अनेकाख्यात का उदाहरण है।)

(प्राचीन आचार्यों की सम्मति में एक वाक्य में एक ही क्रियापद होता है इस लक्षण से उपर्युक्त उदाहरण में अनेकों वाक्य हुए इस शङ्का का समाधान करते हुए लिखते हैं—) 'वाक्यवृत्ति क्रियापद के अधीन होती है अतः यहाँ जितने आख्यात (क्रियायें) हैं उतने ही वाक्य हुये' ऐसी (प्राचीन) आचार्यों की सम्मति है। (ग्रंथकर्ता राजशेखर इससे मतवैभिन्य प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—) किंतु यायावरीय राजशेखर की राय में कारक-समूह ('त्वं') के एक होने तथा वचनवृत्ति के एक ही व्यक्ति के प्रति उद्दिष्ट होने से यह एक ही वाक्य है।

आवृत्ताख्यातम्—

"जयत्यमलकौस्तुभस्तबकितांसपीठो हरि-
र्जयन्ति च मृगेक्षणाश्चलदपाङ्गदृष्टिक्रमाः ।
ततो जयति मल्लिका तदनु सर्वसंवेदना-
विनाशकरणक्षमो जयति पञ्चमस्य ध्वनिः ॥"

एकाभिधेयाख्यातम्—

"हृष्यति चूतेषु चिरं तुष्यति बकुलेषु मोदते मरुति ।
इह हि मधौ कलकूजिषु पिकेषु च प्रीयते रागी ॥"

परिणताख्यातम्—

"सोऽस्मिञ्जयति जीवातुः पञ्चेषोः पञ्चमध्वनिः ।
ते च चैत्रे विचित्रैलाकक्कोलीकेलयोऽनिलाः ॥"

आवृत्ताख्यात (क्रिया की आवृत्तिवाले आख्यात) का उदाहरण निम्नांकित है :—

स्वच्छ कौस्तुभ मणि से चित्रित वक्षःस्थल वाले भगवान् हरि की जय हो, उन मृगनयनियों की जय हो जिनके दृष्टि-विक्षेप में हमेशा कटाक्ष चञ्चल रहता है, तदनन्तर मल्लिका-पुष्प की जय हो एवं तदुपरान्त समस्त अनुभूतियों के मिटाने में समर्थ पञ्चम स्वर की जय हो ।

(इस उदाहरण में एक क्रिया-पद 'जयति' की अनेक कर्ताओं के साथ आवृति हुई है ।)

एकाभिधेयाख्यात उदाहरण निम्नलिखित है :—

वसन्त ऋतु में प्रेमी व्यक्ति आम्रों पर हृष्ट होता, बकुल बृक्ष पर तुष्ट होता, वायु पर मुदित होता और कल कुञ्जन करने वाले पिकों पर प्रसन्न होता है (इस उदाहरण में एक ही क्रिया 'प्रसन्न होना' का विभिन्न रूपों में अभिघान हुआ है) ।

परिणताख्यात का उदाहरण निम्नलिखित है :—

इस चैत्र मास में कामदेव की प्राणभूत कोकिल की पञ्चम ध्वनि की जय हो और इलायची तथा कंकोल वृक्षों में सञ्चरण करने वाली हवाओं की भी जय हो ।

अनुवृत्ताख्यातम्—

"चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः ।
चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु कुन्दभासो गुणाश्च ते ॥"

समुचिताख्यातम्—

"परिग्रहभराक्रान्तं दौर्गत्यगतिचोदितम् ।
मनो गन्त्रीव कुपथे चीत्करोति च याति च ॥"

यथा च—

"स देवः सा दंष्ट्रा स्फटिकृतविलासस्मितसिता
द्वयं दिश्यात्तुभ्यं मुदमिदमुदारं जयति च ।
उदश्वद्भिर्भूयस्तरलितनिवेशा वसुमती
यदग्रे यच्छ्वासैर्गिरिगुडकलीलामुदवहत् ॥"

(परिणताख्यात का अर्थ है एक कर्ता से सम्बद्ध एक ही क्रिया का दूसरे भी कर्ता के साथ अन्वित होना । इस उदाहरण में कोकिल की पञ्चम ध्वनि के लिए प्रयुक्त 'जयति' क्रिया-पद बहुवचनान्त अनिलाः के साथ भी परिणत हो गया है अतः यह परिणताख्यात का उदाहरण है ।)

अनुवृत्ताख्यात का उदाहरण यह है : (हे प्रभो !) आप के हाथी चारों समुद्रों के तटों पर अवस्थित वनों में संचरण करते हैं और कुन्द की प्रभा के समान स्वच्छ आपके गुण चक्रवाल पर्वत के लता-कुञ्जों में घूमते हैं । (यहाँ पूर्व के 'चरन्ति' रूप आख्यात के उत्तर-पद में भी आवृत्त होने से अनुवृत्ताख्यात है ।) यह पद्य सरस्वतीकण्ठाभरण में भी है ।

समुचिताख्यात का उदाहरण यह है : यह मन रूपी गाड़ी स्त्री-पुत्रादि भार से व्याप्त, दारिद्रय रूपी दुर्गति से प्रेरित कुमार्ग में जाती हुई गाड़ी के समान चिल्लाती तथा आगे बढ़ती है (यहाँ मन तथा गाड़ी में चीत्कार तथा चलने का समन्वय नितान्त उचित है अतः यह समुचिताख्यात का उदाहरण है ।

और भी—उन देव (वराह भगवान्) तथा उनके विलास हास्य से युक्त श्वेत दाढ़ (दंष्ट्रा) की जय हो तथा वे दोनों आपको महान् आनन्द को प्रदान करें । उन वराह भगवान् की दाढ़ पर रखी पृथिवी उनके उच्छ्वासों से चंचल है तथा पर्वताकार कन्दुक की लीला को धारण करती है ।

अध्याहृताख्यातम्—

"दोर्दण्डताण्डवभ्रष्टमुडुखण्डं बिभर्ति यः ।
व्यस्तपुष्पाञ्जलिपदे चन्द्रचूडः श्रिये स वः ॥"

कृदभिहिताख्यातम्—

"अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकथोदयम् ।
विनयबाधितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥"

अनपेक्षिताख्यातम्—

"कियन्मात्रं जलं विप्र ! जानुदघ्नं नराधिप ।
तथापीयमवस्था ते न सर्वत्र भवादृशाः ॥"

(इस उदाहरण में लीला को धारण करती है यह प्रयोग सुतरां समीचीन है क्योंकि पृथिवी गेंद तो है नहीं, वह तो मात्र गेंद की लीला को (अर्थात् उसकी चञ्चलता को) धारण किये है ।)

अध्याहृताख्यात का उदाहरण यह है :—

वे भगवान् शङ्कर जो बाहों के ताण्डव-नृत्य में टूट कर गिरे हुए नक्षत्रों को बिखरी पुष्पाञ्जलि के स्थान पर धारण करते है, आप लोगों की रक्षा करें ।

(अध्याहृताख्यात का अर्थ यह है कि इसमें आख्यात (क्रिया) को बाहर से आहृत करना पड़ता है । इस उदाहरण करें के अर्थ में प्रयुक्त 'अस्तु' क्रिया का अभाव है जिसका बाहर से आक्षेप करना पड़ा है अतः यह अध्याहृताख्यात का उदाहरण है ।)

कृदभिहृताख्यात का उदाहरण निम्न हैं :—

(अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में दुष्यन्त कह रहे है— 'मेरे सामने देखने पर वह (शकुन्तला) अपनी दृष्टि (मेरी ओर से) खींच लेती थी और किसी दूसरी कथा के बहाने हँसती थी । इस प्रकार विनय ने उसकी चेष्टा को रोक दिया था और न तो उसने कामदेव को प्रकट ही किया और छिपाया ही ।'[१]

(कृदभिहिताख्यात में तिङन्त क्रिया-पदों के स्थान पर कृदन्त का प्रयोग होता है; उपर्युक्त उदाहरण में संहृतं, हसितं, विवृतः आदि ऐसे ही उदाहरण हैं ।)

अनपेक्षिताख्यात का उदाहरण निम्न है :

'हे ब्राह्मण, जल कितना है ?' 'राजन् ! घुटने भर ही है ।' 'फिर भी तुम्हारी यह अवस्था है ?' 'राजन् ! आप ही जैसे लोग सर्वत्र नहीं हैं ।'[२]

---

१. शाकुन्तल २.४५ २. यह श्लोक सरस्वतीकण्ठाभरण में भी है ।

गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम् ॥ "असत्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इत्येके ॥

यथा—

(अनपेक्षिताख्यात में आख्यात वा क्रिया के अनपेक्षित होने से उसका अभाव होता है। इस उदाहरण में ब्राह्मण और राजा के मध्य पूरा प्रश्नोत्तर हो गया है पर क्रिया का प्रयोग एक बार भी नहीं हुआ है।)

(अब काव्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं—) गुणवान् तथा अलङ्कारयुक्त वाक्य ही काव्य है। कुछ लोगों की सम्मति में काव्य असत्य अर्थ का कथन करता है। अतः उपदेष्टव्य नहीं है। जैसे—

[टिप्पणी—राजशेखर की काव्य की परिभाषा वही है जो अधिकांश आचार्यों को सम्मत रही है। वस्तुतः राजशेखर की परिभाषा भी उन अलङ्कारवादियों की सरणि का ही अनुसरण करती है जो अलङ्कार को भी काव्य का आवश्यक उपादन समझते रहे हैं। वामन तथा उद्भट आदि विद्वानों ने भी गुण तथा अलङ्कारयुक्त रचना को ही काव्य माना है। इस प्रकार साम्य रखनेवाली परिभाषायें निम्नलिखित हैं :

१. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलङ्कृतम् ।
रसात्मकं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥
भोज : सरस्वती-कण्ठाभरण ।

२. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणगुम्फिता ।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् ॥ जयदेव : चन्द्रालोक ।

३. काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ॥
वामन : काव्यालङ्कार ।

४. गुणालङ्कारसहितौ शब्दौ दोषविवर्जितौ ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ॥ विद्यानाथ : प्रतापरुद्रीय ।

५. काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलङ्कृति ॥ क्षेमेन्द्र : कविकण्ठाभरण ।

६. साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥ वाग्भट ।

किन्तु इन विचारों के विपरीत उन ध्वनिवादियों की परिभाषायें हैं जो अलङ्कार को काव्य का अपरिहार्य तत्त्व नहीं मानते। उनके विचार में केवल रस ही मुख्य तत्त्व है जिससे काव्य काव्य है और जिसके अभाव में काव्य का काव्यत्व लुप्त हो जाता है। इस दृष्टि से मम्मटाचार्य समन्वयवादी प्रतीत होते हैं जो काव्य में कहीं-कहीं (सर्वत्र नहीं) अलङ्कार-राहित्य को भी स्वीकार कर लेते है।]

"स्तेमः स्तोकोऽपि नाङ्गे श्वसितमविकलं चक्षुषां सैव वृत्तिः
मध्येक्षीराब्धि मग्नाः स्फुटमथ च वयं कोऽयमीदृक्प्रकारः ।
इत्थं दिग्भित्तिरोधक्षतविसरतया मांसलैस्त्वद्यशोभिः
स्तोकावस्थानदुस्थैस्त्रिजगति धवले विस्मयन्ते मृगाक्ष्यः ॥"

यथा च—

"भ्रश्यद्भूभुग्नभोगीश्वरफणपवनाध्मातपातालतालुः
त्रुट्यन्नानागिरीन्द्रावलिशिखरखरास्फाललोलाम्बुराशिः ।
उद्यन्नीरन्ध्रधूलीविधुरसुरवधूमुच्यमानोपशल्यः
कल्योद्योगस्य यस्य त्रिभुवनदमनः सैन्यसम्मर्द आसीत् ॥"

(किसी राजा के प्रति कोई चाटुकार कवि कह रहा है—) हे राजन् ! दिशा रूपी दीवालों के अवरोध से अवरुद्ध होने के कारण जब विस्तार में रुकावट पड़ी तो आप का महान् यश त्रैलोक्य में फैल गया और उस यश की धवलिमा से त्रैलोक्य धवल हो गया। आपके यशःसमुद्र में मग्न होने पर जरा भी आर्द्रता नहीं आती, श्वास भी अवरुद्ध नहीं होता, आँखों का व्यापार भी पूर्ववत् बना रहता है और मैं समुद्र में निमग्न हूँ यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है। यह कैसी लीला है (समुद्र में मग्न होने पर आर्द्रता आदि आ जाते हैं)—इस व्यापार को मृगनयनी नायिकायें विस्मय से देखती हैं।

(इस उदाहरण में यश का किया गया सम्पूर्ण वर्णन अलीक है।)

और भी—

सन्नद्ध उस राजा की सेना की भीड़ ऐसी थी कि—जमीन नीचे खिसकने लगी (उसके दबाव से) शेषनाग के फण दबने लगे और उन फणों से निकली वायु से पाताल लोक उष्ण हो गया (यह तो रही पाताल लोक की बात अब पृथ्वी पर भी देखिये—) गिरते हुए नाना पहाड़ों की कठोर चोटियों के पतन से जलराशि चञ्चल हो उठीं (और स्वर्ग में—) घनी धूल के उड़ने से ऊबी हुई सुराङ्गनायें सीमाओं को छोड़ने लगीं। इस उद्यत राजा का सैन्यसम्मर्द ऐसा ही त्रैलोक्य-दमनकारी था।

(इस उदाहरण की बातें भी सर्वथा अलीक एवं चाटुकारिता-पूर्ण हैं।)

आहुश्च—

"दृष्टं किञ्चिददृष्टमन्यदपरं वाचालवार्त्तार्पितं
भूयस्तुण्डपुराणतः परिणतं किञ्चिच्च शास्त्रश्रुतम् ।
सूक्त्या वस्तु यदत्र चित्ररचनं तत्काव्यमव्याहतं
रत्नस्येव न तस्य जन्म जलधेर्नो रोहणाद् वा गिरेः ॥"

"न" इति यायावरीयः—

"नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः ।
स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च ॥"

तत्र श्रौतः—

कहा भी है—

काव्य में कुछ बातें देखी हुई होती हैं और कुछ बिना देखी हुईं। कुछ बातें कवियों की वाचालताजन्य होती हैं। कुछ बातें पुराणों से ली गयी होती हैं और कुछ शास्त्र में सुनी गयी होती हैं। कुछ बातें कवियों की सूक्तियों द्वारा कल्पित होती हैं। इस प्रकार का काव्य व्यर्थ होता है। उस काव्य का जन्म रत्न की तरह न तो समुद्र से ही होता है और न रोहण पर्वत से।

(किन्तु राजशेखर की राय में ऐसी बात नहीं है (अर्थात् अतिशयोक्तिपूर्ण (असत्य) होने से वह निरर्थक नहीं है।)

काव्य में कुछ असत्य नहीं होता और जो स्तुत्यादि के अर्थ में प्रयुक्त होता है वह . अर्थवाद मात्र है। यह अर्थवाद न केवल कविता में ही रहता है अपितु श्रुति, शास्त्र और लोक में भी उसकी स्थिति है।

(राजशेखर का आशय यह है कि प्रशंसादि के अर्थ में प्रयुक्त अतिशयोक्तियाँ अनर्गल नहीं है अपितु वे केवल अर्थवाद-वस्तुस्थिति का अत्युक्तिपूर्ण कथन-हैं। यह अत्युक्ति न केवल काव्य में ही होती है अपितु वेदादि में भी इसका सद्भाव देखा जाता है। इसी को उन्होंने आगे उदाहरणमुखेन उपन्यस्त किया।)

इस विषय में वैदिक उदाहरण निम्न लिखित है :

(राजा हरिश्चन्द्र ने वरुणदेव से संवित् किया कि यदि इन्हें पुत्र प्राप्त होगा तो वरुण देव को समर्पित करेंगे। पाशधारी जलाधिप वरुण की दया से हरिश्चन्द्र को रोहित

"पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥"

शास्त्रीयः—

"आपः पवित्रं प्रथमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्राः ।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः ॥"

किञ्च—

"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र-उत्पन्न होते ही वरुण देव आ धमके। कुछ दिन तक तो हरिश्चन्द्र टालते रहे। जब रोहित कुछ बड़ा हुआ तो यह वृत्तान्त जान कर जंगल में भाग गया। इधर वरुण को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो उन्होंने हरिश्चन्द्र पर कुपित हो उदर-रोग से उन्हें ग्रसित किया। जब रोहित को पिता की रुग्णावस्था का समाचार ज्ञात हुआ तो उन्हें पश्चात्ताप हुआ और वे घर को लौटने लगे। उन्हें घर जाते देख इन्द्र देव उन्हें रोकने के लिये आ गये और घर न जाने के उद्देश्य से भ्रमण की प्रशंसा करते हुए बोले—)[1]

"भ्रमणशील मनुष्य की जाघें दृढ़ हो जाती हैं। आत्मा (मध्यदेह) भी भूष्णु (वृद्धिगत) होकर आरोग्यरूप फल के योग्य होता है। उस भ्रमण-शील मनुष्य के समस्त पाप तीर्थादि-भ्रमण के श्रम से विनष्ट होकर सो जाते हैं (अतः तू भ्रमण कर।)"

शास्त्र में भी कहा गया है—"पृथ्वी पर जल सबसे पवित्र हैं, जल से भी पवित्र मंत्र है, उनमें भी साम, ऋक् तथा यजुष् पवित्र हैं और महर्षिगण (उससे भी पवित्र) व्याकरण को कहते हैं।" (यहां व्याकरण को वेदादि से भी पवित्र कहना मात्र उसकी उपयोगिता दर्शाना है।)

और भी—"जो विद्वान् व्यक्ति व्यवहार के समय (वाच्यलक्ष्य व्यङ्ग्यार्थ-रूप) शब्दों को समुचित रूपसे प्रयुक्त करता है वह वाणी के प्रयोग को जाननें वाला परलोक में अनन्त जय को प्राप्त करता है पर यदि अपशब्द का प्रयोग करता है तो दोष का भागी होता।"

---

१. इस आख्यान के लिये द्रष्टव्य मेरा ग्रंथ 'वैदिक आख्यान' चौखम्भा प्रकाशन, १९६३।

"कः ? । वाग्योगविदेव । कुत एतत् ? । यो हि शब्दाञ्ज्ञानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः; एवमपशब्दज्ञानेप्यधर्मः । अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा । गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । अथ योऽवाग्योगविद् अज्ञानं तस्य शरणम् । विषम उपन्यासः । नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् । एवं तर्हि सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः । कः ? । अवाग्योगविदेव ।

"कौन (अपशब्दों से दूषित होता है ?") 'शब्द के यथावत् प्रयोग को जानने वाला' । 'ऐसा क्यों होता है !' 'क्योंकि जो शब्दों को जानता है वह अपशब्दों को भी जानता है । जैसे शब्दज्ञान से धर्म की प्राप्ति होती है उसी भांति अशुद्ध शब्द के ज्ञान (प्रयोग) से अधर्म होता है । अथवा अधर्म-प्राप्ति की मात्रा अधिक होती है । अपशब्द अधिक हैं तथा (शुद्ध) शब्द कम । जैसे—'गौ' इस शुद्ध शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंश हैं । जो शब्दार्थ के वास्तविक ज्ञान से हीन (अवाग्योगवित्) है उसके लिये तो अज्ञान सहारा है (वस्तुतः यह पूर्वपक्षी का कथन है और इस कथन को मानने पर व्याकरण शास्त्र का अध्ययन ही व्यर्थ होगा क्योंकि केवल बेचारा अध्येता ही अशुद्ध प्रयोग के कारण मारा जायेगा जब कि मूर्ख अज्ञान की ओट लेकर बच निकलेगा । इसी का उत्तर देते हुए सिद्धान्तपक्षी कहता है—) यह तर्क व्यर्थ है । अज्ञानी वा पापी के लिए अज्ञान शरण नहीं है । जो अनजाने ब्राह्मण की हत्या करे वा मदिरा-पान करे वह भी पतित है । इस प्रकार वह विशेषज्ञ अनन्त जय को प्राप्त होता है तथा अपशब्दों से दूषित होता है ।" 'कौन ?' 'अविशेषज्ञ ही दूषित होता है ।' जो विशेषज्ञ होता है ज्ञान उसका सहायक होता है (और इस ज्ञान के कारण वह अशुद्ध शब्दों का प्रयोग नहीं करता ।) 'यह श्लोक कहां पढ़ा गया है (जिस पर इतनी चर्चा हुई) ?' ये कात्यायन के श्लोक हैं[१] ।' 'क्या श्लोक भी प्रमाण हैं ?' (यह

१. भाष्यकार पतंजलि ने इस पद्य को उद्धृत किया है । कैयट की इस श्लोक के विषय में यह उक्ति है–कात्यायनोपनिबद्धभ्राजाख्यश्लोकमध्यपठितस्य त्वस्य श्रुतिरनुग्राहिकास्ति ।

अथ यो वाग्योगविद् विज्ञानं तस्य शरणम्। क्व पुनरिदं पठितम् ?। भ्राजा नाम श्लोकाः। किञ्च भोः श्लोका अपि प्रमाणम् ?। किञ्चातः ?। यदि प्रमाणमयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति।"

'यद्युदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्।
पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत्क्रतुगतं नयेत्॥' इति।

"प्रमत्तगीत एष तत्रभवतो यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणमेव" इति गोनर्दीयः।

लौकिकः—

"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुङ्कुमम्॥"

"असदुपदेशकत्वात्तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इत्यपरे।

पूर्वपक्षी की उक्ति है और वह कहता है कि—) यदि श्लोक भी प्रमाण हैं तो यह हमारा श्लोक भी प्रमाण हो सकता है।'

'यदि गूलर के फल के रंग वाली (पीली) कलशियों का समूह (अर्थात् उनमें रखी मदिरायें) पीने पर स्वर्ग नहीं पहुँचा सकतीं तो क्या यज्ञ की अल्प (मदिरा) भेज सकती है ?"

(इस श्लोक में उस कथन की निस्सारता प्रदर्शित की गयी है जिसके अनुसार सौत्रामणि यज्ञ में किया गया सुरा-पान स्वर्गदायक माना गया है।)

गोनर्दीय-भाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार यह आपका (पूर्वपक्षी का) पागल का प्रलाप है यदि अप्रमत्त (प्रामाणिक) कथित हो तो वह प्रमाण है ही।'

लौकिक अर्थवाद का उदाहरण यह है—हे राजन्! आप के गुणों के अनुराग (प्रेम, पक्षान्तर-लालिमा) से मिश्रित फैलने वाले यश ने अकस्मात् दिग्वधुओं के मुख में आधा कुङ्कुम का रूप धारण किया। (गुणों का रंग श्वेत तथा अनुराग का रंग लाल माना गया है। इन दोनों के मिश्रण से अर्ध कुङ्कुम कहा गया है।)[1]

कुछ लोगों की सम्मति में "काव्य असाधु पदार्थ का उपदेशक होता है अतः उपादेय नहीं।" इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

---

१. यह पद्य सरस्वतीकण्ठाभरण तथा श्रृंगार प्रकाश में भी मिलता है।

यथा एवं—

"वयं बाल्ये डिम्भाँस्तरुणिमनि यूनः परिणता-
वपीच्छामो वृद्धान्परिणयविधेस्तु स्थितिरियम् ।
त्वयारब्धं जन्म क्षपयितुममार्गेण किमिदं
न नो गोत्रे पुत्रि क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत् ॥"

"अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन" इति यायावरीयः। य एवंविधा विधयः परस्त्रीषु पुंसां सम्भवन्ति तानवबुध्येतेति कवीनां भावः। किञ्च कविवचनायत्ता लोक-

(कोई वेश्या पातिव्रत्य से जीवन निर्वाह का व्रतलेने वाली अपनी पुत्री से कह रही है—) 'हे पुत्रि ! हम लोगों के ब्याह की विधि यह रही है कि हम लड़कपन में लड़कों को, जवानी में जवानों को तथा (और तो और) वृद्धावस्था में भी वृद्धों को चाहती हैं। तू ने किस कुमार्ग से जीवन-यापन करना प्रारम्भ किया ! हमारे कुल में तो कभी सती होने का लाञ्छन नहीं लगा।'[1]

(पूर्वपक्षी के कहने का आशय यह है कि यह मान्य परिणय विधि की अवहेला-प्रदर्शित की गयी है अतः ऐसे अमर्यादित उपदेशों को देने वाला होने से काव्य तिरस्करणीय है।)

किन्तु यायावरीय राजशेखर की राय में यह उपदेश निषेधात्मक (अकर्त्तव्यरूप) हैं विधेयात्मक नहीं[2] (अर्थात् यह वचन इसलिये है कि वेश्याओं का एतादृश कुत्सित चरित्र होता है।) कवियों का आशय यह है कि पर-स्त्रियों के विषय में पुरुषों की ऐसी (कुत्सित) विधियाँ होती हैं यह

१. सदुक्तिकर्णामृत में इसे विज्जका कृत कहा गया है।

२. वात्स्यायन के कामसूत्र में भी ऐसे वचन हैं :

संदृश्य शास्त्रतो योगान् पारदारिकलक्षितान् ।
न याति छलनां कश्चित् स्वदारान् प्रति शास्त्रवित् ॥ ५० ॥

पाक्षिकत्वात्प्रयोगाणामपाङ्गानाञ्च दर्शनात् ।
धर्मार्थयोश्च वैलोम्यान्नाचरेत्पारदारिकम् ॥ ५१ ॥

तदेतद्दारगुप्त्यर्थमारब्धं श्रेयसे नृणाम् ।
प्रजानां दूषणायैव न विज्ञेयो ह्ययं विधिः ॥ ५२ ॥

—कामसूत्र ५. ६. २

यात्रा । "स च निःश्रेयसमूलम्" इति महर्षयः । यदाहुः—

"काव्यमय्यो गिरो यावच्चरन्ति विशदा भुवि ।
तावत्सारस्वतं स्थानं कविरासाद्य मोदते ॥"

किञ्च—

"श्रीमन्ति राज्ञां चरितानि यानि प्रभुत्वलीलाश्च सुधाशिनां याः ।
ये च प्रभावास्तपसामृषीणां ताः सत्कविभ्यः श्रुतयः प्रसूताः ॥"

उक्तञ्च—

"ख्याता नराधिपतयः कविसंश्रयेण
राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिम् ।
राज्ञा समोऽस्ति न कवेः परमोपकारी
राज्ञो न चास्ति कविना सदृशः सहायः ॥

जाना जाय । और संसार का क्रम भी कवि के वचनों पर आश्रित होता है । महर्षि लोग कहते हैं कि वह (कविवचनों के आधार पर आश्रित निष्पादित लोकव्यवहार) कल्याणकारी होते हैं । जैसा कहा है :

कवियों की कवितामयी विशद वाणी जब तक पृथ्वी पर फैली रहती है तब तक कवि सारस्वत लोक को प्राप्त कर प्रसन्नता का अनुभव करता है ।"[१]

और भी—

श्रीमान् राजाओं के जो चरित्र हैं, अमृतपायी देवताओं की ऐश्वर्य जो कथायें हैं और ऋषियों के तपों के जो प्रभाव हैं वे सत्कवियों द्वारा निर्मित श्रुति हैं (अर्थात् श्रुति-तुल्य महनीय हैं) ।

कहा भी है—

"नराधिप राजा लोग कवियों के आश्रय से प्रसिद्ध हुये और कविजन भी राजाओं के आश्रय से ही प्रसिद्ध हुये । राजा के समान कविजनों का कोई उपकारी नहीं है और राजा का भी कवि के समान कोई सहायक नहीं है ।"

---

१. तुलना कीजिये—

महीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि ।
भूपाः कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां नामापि जानाति न कोऽपि तेषाम् ॥

विक्रमांकदेवचरित १.२६

वल्मीकजन्मा स कविः पुराणः कवीश्वरः सत्यवतीसुतश्च ।
यस्य प्रणेता तदिहानवद्यं सारस्वतं वर्त्म न कस्य वन्द्यम् ? ॥"

"असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इति च केचित् ।

यथा—

"प्रसर्पत्प्रग्रीवैर्भृतभुवनकुक्षिर्झणझणा-
कराऊः प्रागल्भ्यं वदति तरुणीनां प्रणयिषु ।
विलासव्यत्यासाज्जघनफलकास्फालनघन-
स्फुरच्छेदोत्सिक्तः कलकनककाञ्चीकलकलः ॥"

अपि च—

"नित्यं त्वयि प्रचुरचित्रकपत्रभङ्गी-
ताटङ्कताडनविपाण्डुरगण्डलेखाः ।

जिस सारस्वत-मार्ग के प्रणेता प्राचीन कवि महर्षि वाल्मीकि तथा कवीश्वर सत्यवतीनन्दन व्यास हैं वह अनिन्द्य सारस्वत मार्ग किसके लिये वन्द्य नहीं है ॥"

कुछ लोगों की सम्मति में काव्य असभ्य (अशिष्ट) अर्थ का कथन करता है अतः उपदेष्टव्य नहीं है ।"

जैसे—

'रति-वैपरीत्य के कारण जघन सञ्चालन से स्वच्छ स्वर्ण-निर्मित काञ्ची (करधनी) कल-कल शब्द को कर रही है और वह झन-झन शब्द प्रग्रीव (खिड़की) से बाहर निकल कर लोक में फैल रहा है—ऐसा वह शब्द प्रेमियों के प्रति तरुणी नायिकाओं की प्रगल्भता को सूचित करता है ।'

(इस पद्य में विपरीत रति का वर्णन है । धृष्टतावश नायिका नायक के ऊपर आ गयी है और उसके कटि-सञ्चालन से करधनी का शब्द हो रहा है जो झरोखों के रास्ते बाहर निकल रहा है—यह अश्लील उद्धरण है ।)

'और भी—

'हे सखे ! वे तरुणियाँ तुमसे सदा प्रेम करें जिनके पत्रभङ्गीरचित कपोल-स्थल ताटङ्क (कर्णफूल) के ताड़न से लाल हो रहे हैं और जो

स्खिद्यन्तु रत्नरशनारणनाभिराम-
कामार्तिनर्तितनितम्बतटास्तरुण्यः ॥"

"प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः" इति यायावरीयः ।
यदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते । तत्र याजुषः—

"यं निरुदूखलं शिश्नं मुशलं मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते ॥"
आर्चः—

"उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः ।
सर्वाऽहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका ॥"
शास्त्रीयः—

"यस्याः प्रसन्नधवलं चक्षुः पर्यन्तपक्ष्मलम् ।

कामावेश में नितम्ब को नचाती रहती हैं जिससे काञ्ची (करधनी) के रत्नों से सुन्दर शब्द निकला करता है।'

(उपर्युक्त दोनों पद्य विपरीत रति का वर्णन अत्यन्त अश्लील रूप से करते हैं।)

यायावरीय राजशेखर का मन्तव्य है कि प्रसङ्ग आने पर ऐसे वर्णन करने ही चाहिये। ऐसा वर्णन वेद और शास्त्र में भी प्राप्त होता है। यजुर्वेद का निम्नलिखित पद्य इस विषय में उदाहरणीय है—

'योनि ओखली है और शिश्न (प्रजननेन्द्रिय) मूशल है, इन्हीं दोनों के मिथुन (संयोग) से सन्तानोत्पादन होता है।'

ऋग्वेद में भी ऐसा उदाहरण हैं—(बृहस्पति की पुत्री रोमशा का परिणय भावव्यय ऋषि से हुआ था। रोमशा ने भावव्यय का रतिक्रीड़ा के लिये आह्वान किया पर ऋषि ने उसे 'अजातलोमा' जानकर ऐसा करने से इनकार किया क्योंकि शास्त्रीय आज्ञा के अनुसार अजातलोमा स्त्री के साथ मैथुन वर्जित है। ऋषि के इनकार करने पर रोमशा उनसे इस प्रकार कह रही है—) 'हे स्वामिन्! मेरे पास आकर मेरा सम्यक् स्पर्श कीजिये। मुझे छोटी मत समझिये मैं गांधार देश की भेड़ों के समान रोमवाली हूँ[१]।'

शास्त्र में भी ऐसा उदाहरण है :—

जिस नायिका के प्रसन्न [२] तथा श्वेत नेत्र घनी पलकों वाले होते है उसका

---

१. ऋ० १. १२६. ७

२. भोजदेव के शृंगारप्रकाश में 'यस्याः प्रसन्नधवलं' के स्थान पर 'प्रकामधवलं यस्याः' पाठ है।

नवनीतोपमं तस्या भवति स्मरमन्दिरम् ॥"

पदवाक्यविवेकोऽयमिति किञ्चित्प्रपञ्चितः ।
अथ वाक्यप्रकारांश्च कांश्चिदन्यान्निबोधत ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये
प्रथमेऽधिकरणे षष्ठोऽध्यायः
पदवाक्यविवेकः ॥

———

काम-मन्दिर (योनि) मक्खन के समान (कोमल तथा सुन्दर) होता है।"

(सारांश यह कि प्रसंगवशात् ऐसे अश्लील उदाहरण सर्वत्र ही मिलते हैं।)

इस अध्याय में पद तथा वाक्य का कुछ विवेचन किया गया है अब आगे कुछ वाक्य-प्रकारों को जानिये।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में
पदवाक्यविवेक नामक छठाँ अध्याय समाप्त

———

सप्तमोऽध्यायः

७ वाक्यविधयः, काकुप्रकाराः, पाठप्रतिष्ठा

वाक्यं वचनमिति व्यवहरन्ति। तच्च त्रिधा प्रणेतृभेदेन ब्राह्मं, शैवं, वैष्णवमिति। तदिदं वायुप्रोक्तपुराणादिभ्य उपलब्धं यदुत ब्राह्मं वचः पञ्चधा स्वायम्भुवमैश्वरमार्षमार्षीकमार्षिपुत्रकं च। स्वयम्भूर्ब्रह्मा तस्य स्वायम्भुवम्। तन्मनोजन्मानो भृगुप्रभृतयः पुत्रास्ते ईश्वरास्तेषामैश्वरम्। ईश्वराणां सुता ऋषयस्तेषामार्षम्। ऋषीणामपत्यानि ऋषीकास्तेषामार्षीकम्। ऋषीकाणां सूनव ऋषिपुत्रकास्तेषामार्षिपुत्रकम्। स्वयम्भुवः प्रथमं वचः श्रुतिः, श्रुतेरन्यच्च स्वायम्भुवम्। तदाहुः—

'सर्वभूतात्मकं भूतं परिवादं च यद्भवेत्।
क्वचिन्निरुक्तमोक्षार्थं वाक्यं स्वायम्भुवं हि तत्॥'

वाक्य को वचन (भी) कहते हैं। प्रणेता (निर्माता) के भेद से वह (वाक्य) तीन प्रकार का होता है—१. ब्राह्म, २. शैव और ३. वैष्णव[1]। वायुकथित पुराण (अर्थात् वायु-पुराण) आदि से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्म वचन पाँच प्रकार के होते हैं—१. स्वायम्भुव, २. ऐश्वर ३. आर्ष ४. आर्षीक और ५. आर्षिपुत्रक। ब्रह्मा स्वयम्भू हैं उनका (वचन) स्वायम्भुव कहा जाता है। उन ब्रह्मा के मन से उत्पन्न पुत्र भृगु आदि महर्षि ईश्वर कहे जाते हैं, उनका वचन ऐश्वर कहा जाता है। ईश्वरों के पुत्र ऋषि हैं जिनके वचन आर्ष कहे जाते हैं। ऋषियों की सन्तानों की संज्ञा ऋषीक है; ऋषीकों के बचन आर्षीक कहे जाते हैं। ऋषीकों के पुत्र ऋषिपुत्रक कहे जाते हैं और उनके वचनों का अभिधान आर्षिपुत्रक है। स्वयम्भू ब्रह्मा के प्रथम वचन श्रुति (वेद) हैं। वेदेतर भी ब्रह्मा के वचन हैं, जैसा कि कहा गया है :

जो वाक्य सर्वप्राणिमय (अर्थात् सब प्राणियों के लिए सामान्य रूपेण लागू होने वाले) भूत (उचित वा सत्य), परिवाद (=आज्ञार्थक) तथा कहीं मोक्ष का उपदेशक हो उसे स्वायम्भुव वाक्य कहते हैं।

---

१. इस वाक्य-विभेद में राजशेखर ने वायुपुराण से पर्याप्त सहायता ली है।

तदेव स्तोकरूपान्तरपरिणतमैश्वरं वचः। उक्तञ्च—

"व्यक्तक्रममसंक्षिप्तं दीप्तगम्भीरमर्थवत्।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च लक्ष्यतामैश्वरं वचः।।"

आर्षम्—

"यत्किंचिन्मन्त्रसंयुक्तं युक्तं नामविभक्तिभिः।
प्रत्यक्षाभिहितार्थं च तदृषीणां वचः स्मृतम्।।"

आर्षीकम्—

"नैगमैर्विविधैः शब्दैर्निपातबहुलं च यत्।
न चापि सुमहद्वाक्यमृषीकाणां वचस्तु तत्।।"

आर्षिपुत्रकम्—

"अविस्पष्टपदप्रायं यच्च स्याद्बहुसंशयम्।
ऋषिपुत्रवचस्तत्स्यात् ससर्वपरिदेवनम्।।"

तदुदाहरणानि पुराणेभ्य उपलभेत। सारस्वताः कवयो

वही (ब्रह्मा अथवा स्वायम्भुव) वचन थोड़े से रूपान्तर मात्र से ऐश्वर (भृग्वादि प्रोक्त वचन-प्रकार) हो जाता है। कहा भी है :

'स्पष्ट क्रमवाला (अर्थात् क्रम-संयुक्त), विशद, उदात्त तथा गम्भीर अर्थ वाला एवं जो प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों को सूचित करे ऐसा ऐश्वर वचन का लक्षण है।'

आर्ष वचन का लक्षण निम्न है :

जो वचन कुछ मंत्रों से संयुक्त तथा नाम (संज्ञा) विभक्तियों से युक्त हो एवं प्रत्यक्षार्थ का अवबोधक हो उसे ऋषियों का वचन अर्थात् आर्ष वचन कहा गया है।

आर्षीक की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—जिसमें विविध वैदिक शब्दों का बाहुल्य हो तथा निपातों (उपसर्गों) का भी प्राचुर्य हो एवं जो आकार में लघु हो ऐसा वचन ऋषियों का होता है।

आर्षिपुत्रक वचन का लक्षण इस प्रकार है :

जिसमें पद प्रायशः अस्पष्ट हो तथा जिसमें संशय-बाहुल्य हो अथवा जो सबको कष्टदायी हो ऐसे ऋषिपुत्रों के वचन होते हैं।

इन वाक्यों के उदाहरण पुराणों में उपलब्ध हैं। प्राचीन सारस्वत कवियों

नः पूर्वे इत्थंकारं कथयन्ति । ब्रह्मविष्णुरुद्रगुहबृहस्पतिभार्गवादि-शिष्येषु चतुःषष्टावुपदिष्टं वचः पारमेश्वरम् । क्रमेण च सम्बरद्-देवैर्देवयोनिभिश्च यथामत्युपजीव्यमानं दिव्यमिति व्यपदिश्यते । देवयोनयस्तु—

"विद्याधरोप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।
सिद्धगुह्यकभूताश्च पिशाचा देवयोनयः ॥"

तत्र पिशाचादयः शिवानुचराः स्वभूमौ संस्कृतवादिनः, मर्त्ये तु भूतभाषया व्यवहरन्तो निबन्धनीयाः । अप्सरसस्तु प्राकृतभाषया । तद्दिव्यं वचश्चतुर्द्धा । वैबुधं वैद्याधरं गान्धर्वं योगिनीगतं च । शेषाणामेतेष्वेवोपलक्षणं प्रकृतिसादृश्येन । तत्र वैबुधम्—

"समासव्याससंदृब्धं शृङ्गाराद्भुतसम्भृतम् ।
सानुप्रासमुदारं च वचः स्यादमृताशिनाम् ॥"

का कथन है कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, कार्तिकेय, वृहस्पति, भार्गव आदि चौंसठ शिष्यों को उपदिष्ट वचन पारमेश्वर वचन है । वही वाक्य देवता तथा देव-योनियों में क्रमशः प्रसृत होता हुआ और उनके बुद्धचनुकूल प्रयुक्त होता हुआ दिव्य कहा जाता है । देबयोनियाँ निम्नलिखित हैं :

विद्याघर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, गुह्यक, भूत और पिशाच—ये देवयोनि वाले कहे गये हैं ।[१]

इनमें पिशाच आदि शिव के गण अपने स्थान—शिवलोक—में तो संस्कृत बोलते हैं पर मर्त्यलोक में उन्हें भूत-भाषा का प्रयोग करते प्रदर्शित करना चाहिये । अप्सरायें प्राकृत भाषा का व्यवहार करती हैं । वह दिव्य वचन चार प्रकार के होते हैं—१. वैबुध, २. वैद्याघर, ३. गान्धर्व और ४. योगिनीगत । शेष देवयोनियों को स्वभाव-समानता के अनुकूल इन्हीं में अन्तर्भूत कर लेना चाहिये । इनमें वैबुध वाक्य का लक्षण निम्नलिखित है :

अमृतपायी (देवताओं) का वचन समास तथा व्यास से ग्रथित, शृङ्गार रस से पूर्ण, आश्चर्य से युक्त, अनुप्रास तथा उदार (महान् अर्थवान्) होता है ।

---

१. द्रष्टव्य, अमरकोश, १. १. ११

यथा—

"यच्चन्द्रकोटिकरकोरकभारभाजि
बभ्राम बभ्रुणि जटाकुहरे हरस्य।
तद्वः पुनातु हिमशैलशिलानिकुञ्ज-
झात्कारडम्बरविरावि सुरापगाम्भः॥"

वैद्याधरम्—

"स्तोकानुप्राससच्छायं चतुरोक्ति प्रसादि च।
द्राघीयसा समासेन विद्धि वैद्याधरं वचः॥"

यथा—

"प्रणतसुरकिरीटप्रांशुरत्नांशुवंश-
च्छुरितनखशिखाग्रोद्भासमानारुणाङ्घ्रे।
उदिततरणिवृन्दोद्दामधामोर्ध्वनेत्र-
ज्वलननिकरदग्धानङ्गमूर्ते नमस्ते॥"

जैसे—

'जो जल चन्द्रकला रूपी कलियों के भार से युक्त है तथा पिङ्गल वर्ण की शङ्कर की जटाओं के विवर में घूमा करता है एवं जो हिमालय पर्वत के शिला निकुञ्जों को अपने झङ्कार से शब्दायमान करता है वह देवापगा गंगा का जल आप लोगों को पवित्र करे।'[1]

(इस उदाहरण में 'चन्द्रकोटि' पद समस्त है, 'बभ्रुणि जटाकुहरे हरस्य' ये व्यस्त पद हैं। इसी प्रकार ककार तथा रकार आदि का अनुप्रास भी द्रष्टव्य है—इस प्रकार इस उदाहरण में सभी लक्षण संगत हैं।)

वैद्याधर वचन का लक्षण निम्नलिखित है :

'जो अल्प अनुप्रासों से शोभित हो, जिसमें विदग्ध उक्तियों का संकलन हो, जो प्रसाद गुण से युक्त हो तथा जिसमें दीर्घ समस्त पद हों ऐसा वचन वैद्याधर समझना चाहिए।'

जैसे—

'प्रणाम करते हुए देवताओं के किरीटों की रत्न-शोभा से प्रकाशित होने वाले नखों से जिनका लाल चरण भासित हो रहा है एवं उदित होते हुये सूर्य-समूहों के प्रचण्ड तेज के समान तेज वाले तृतीय नेत्र से निकलते

---

१. यह पद्य सदुक्तिकर्णामृत तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में मिलता है।

यथा वा—

"भ्रमति भ्रमरकरबिम्बितनन्दनवनचम्पकस्तबकगौरः।
वात्याहत इव वियति स्फुटलक्ष्मा रोहिणीरमणः"

गान्धर्वम्—

"ह्रस्वैः समासैर्भूयोभिर्विभूषितपदोच्चया।
तत्त्वार्थग्रथनग्राह्या गन्धर्वाणां सरस्वती॥"

यथा—

"नमः शिवाय सोमाय सगणाय ससूनवे।
सवृषव्यालशूलाय सकपालाय सेन्दवे॥"

योगिनीगतम्—

"समासरूपकप्रायं गम्भीरार्थपदक्रमम्।
सिद्धान्तसमयस्थायि योगिनीनामिदं वचः॥"

तेजःपुञ्ज से जिन्होंने कामदेव को भस्म कर दिया है ऐसे हे भगवान् शङ्कर! आप को नमस्कार है।'

(इस उदाहरण में उपर्युक्त सभी लक्षण हैं—चतुर उक्ति का संयोग प्रसादगुण, दीर्घ समास—ये सभी वर्तमान हैं)

अथवा—'भ्रमरों से लिपटे हुये नन्दनवन के स्वच्छ चम्पक गुच्छ के समान स्पष्ट कलङ्क वाला रोहिणी-रमण चन्द्रमा आकाश में वायु से प्रेरित हुये सा घूम रहा है।'

गान्धर्व वाक्य का लक्षण इस प्रकार है—'गन्धर्वों की सरस्वती (वाणी) में पदसमुदाय यद्यपि छोटे समास वाले होते हैं पर समस्त पदों का बाहुल्य होता है और मुख्यार्थ के निबन्धन से वह ग्राह्य होती है।' उदाहरण—

उमासहित, गणों-सहित, पुत्र-सहित, वृष-सर्प एवं शूल-सहित, कपाल-सहित, तथा चन्द्रमा-सहित शिव को नमस्कार है।

(यहाँ यद्यपि सोमाय (उमया सहितः सोमः) इत्यादि पद छोटे हैं पर ऐसे समस्त पदों का यहाँ बाहुल्य है और मुख्यार्थ का कथन भी है अतः यहाँ गन्धर्व वाक्य का लक्षण पूर्णतः घटित होता है।)

योगिनीगतम् का लक्षण निम्न है—

योगिनियों के वचन समास तथा रूपक से युक्त, गम्भीर अर्थवाले तथा कवि समय के सिद्धान्तों पर आधृत होते हैं।

यथा—

"दुःखेन्धनैकदहनामृतवर्षमेघ !
संसारकूपपतनैककरावलंब !
योगीन्द्रदर्पण ! जगद्गतकृत्स्नतेजः—
प्रत्यक्षचौरवर ! वीरपते ! नमस्ते ॥"

महाप्रभावत्वाद्भौजङ्गममपि दिव्यमित्युपचर्यते ।

"प्रसन्नमधुरोदात्तसमासव्यासभागवत् ।
अनोजस्विपदप्रायं वचो भवति भोगिनाम् ॥"

यथा—

"सुसज्जितां श्रोतसुखां सुरूपामनेकरत्नोज्ज्वलचित्रिताङ्गीम् ।
विद्याधरेन्द्रः प्रतिगृह्य वीणां पिनाकिने गायति मङ्गलानि ॥"

"किमर्थं पुनरनुपदेश्ययोर्ब्राह्मपारमेश्वरयोर्वाक्यमार्गयोरुप-

---

जैसे (निम्नलिखित उदाहरण में)—

दुःख रूपी इन्धन के नाश के लिये अग्निरूप ! अमृत वर्षा करने में मेघ रूप ! संसार में गिरने वालों के लिये एकमात्र हाथ के आश्रय ! योगीन्द्रों के दर्पण ! संसार में व्याप्त समस्त तेज वाले ! प्रत्यक्ष चोर ! वीरों के स्वामी ! आप को नमस्कार है ।

(इसमें दुःख पर इन्धन का आरोप, राजा पर तन्नाशक अग्नि का आरोप इत्यादि उदाहरणों में रूपक का अस्तित्व देखा जा सकता है । इससे गम्भीरार्थ भी हैं तथा राजादि पर दुःखेन्धननाशन-निमित्त अग्नित्वारोप कवि-समय सिद्ध है ।)

अत्यन्त प्रभाव (तेजस्) के कारण सर्पों के वचन भी दिव्य माने जाते हैं ।

'सर्पों के वचन प्रसादगुण-युक्त, मधुर, उदात्त, समास तथा व्यास के विभागवाले और प्रायशः ओजस्वि-पद-रहित हुआ करते हैं ।'

जैसे—'विद्याधरों का स्वामी सुन्दर (तारों से) सजी हुई, कानों को सुखदायी, सुन्दर तथा अनेक स्वच्छ रत्नों से चित्रित अंगों वाली वीणा को लेकर पिनाकधारी शङ्कर जी की स्तुतियाँ गा रहा है ।'

(यहाँ प्रश्न होता है कि ब्राह्म तथा पारमेश्वर वचन तो व्यवहृत होते नहीं फिर) 'क्यों अनुपदेश्य ब्राह्म तथा पारमेश्वर वचन को (यहाँ)

न्यासः ?" इत्याचार्याः। "सोऽपि कवीनामुपदेशपरः" इति यायावरीयः। यतो नाटकादावीश्वरादीनां देवानां च प्रवेशे तच्छायावन्ति वाक्यानि विधेयानीति दिव्यम्। इह हि प्रायो-वादो यदुत मर्त्यावतारव्यवहाररुचेर्भगवतो वासुदेवस्य वचो वैष्णवं तन्मानुषमिति व्यपदिशन्ति। तच्च त्रिधा रीतित्रयभेदेन। तदाहुः—

"वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति रीतयस्तिस्रः।
आसु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते॥"

रीतिरूपं वाक्यत्रितयं काकुः पुनरनेकयति।

उपन्यास किया गया है।' इसका राजशेखर उत्तर देते हैं कि (मेरी सम्मति में) उन वचनों (अर्थात् ब्राह्म तथा पारमेश्वर) का भी कवियों को उपदेश करना चाहिये। क्योंकि नाटकादि में देवताओं के प्रवेश से उनके वाक्यों का प्रयोग होता ही है (और इस प्रकार) दिव्य वचन का विन्यास होता है। यह जनश्रुति है कि मानव अवतार का व्यवहार करने की रुचिवाले भगवान् वासुदेव के वचन वैष्णव हैं और उन्हें ही मानुष भी कहा जाता है। वह (मानुष या वैष्णव वचन) तीन रीतियों (वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली) के भेद से तीन प्रकार का है। जैसे—

वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली—ये काव्य की तीन रीतियाँ हैं जिनमें सरस्वती साक्षात् निवास करती है। उन्हीं (सरस्वती के) कारण काव्य में इन तीन रीतियों की प्रतीति होती है। इन रीतियों के आधार पर त्रिधा स्थित वाक्य को काकु अनेक प्रकार का बना देती है—

टिप्पणी—काकु संस्कृत का स्त्रीलिङ्ग शब्द है। इसका तात्पर्य है ध्वनि-विकार अर्थात् विविध भावों की व्यंजना के लिये एक ही शब्द वा वाक्य का विभिन्न ध्वनियों में बोला जाना। हर्ष, शोक आदि मानसिक परिस्थितियों का काकु से अभिव्यंजन होता है। काकु का चमत्कार वक्रोक्ति अलङ्कार में विशेष दिखाई पड़ता है। जैसे निम्नलिखित उदाहरण में—

असमालोच्य कोपस्ते नोचितोऽयमितीरिता।
नैवोचितोऽयमिति ताडयामास मालया॥

'नायक नायिका से कह रहा है कि तेरा 'यह क्रोध अविचारित है तथा यह कथन भी अनुचित है।' इस पर नायिका ने 'यह भी उचित नहीं' यह कह कर उसे माला से मारा।'

"काकुर्वक्रोक्तिर्नाम शब्दाऽलङ्कारोयम्" इति रुद्रटः ॥ "अभिप्रायवान्पाठधर्मः काकुः, स कथमलङ्कारी स्यात् ?" इति यायावरीयः ।

सा च द्विधा साकाङ्क्षा निराकाङ्क्षा च। वाक्यान्तराकाङ्क्षिणी साकाङ्क्षा, वाक्योत्तरभाविनी निराकाङ्क्षा। तदेव वाक्यं काकुविशेषेण साकाङ्क्षम्। तदेव काकुमन्तरेण निराकाङ्क्षम्। आक्षेपगर्भा, प्रश्नगर्भा, वितर्कगर्भा चेति साकाङ्क्षा। विधिरूपा, उत्तररूपा, निर्णयरूपेति निराकाङ्क्षा। तत्राक्षेपगर्भा—

"यदि मे वल्लभा दूती तदाऽहमपि वल्लभा।
यदि तस्याः प्रिया वाचः तन्ममाऽपि प्रियप्रियाः॥"

यहां 'यह भी उचित नहीं' यह काकु (ध्वनि-विकार) से कहा गया है तथा इसका अर्थ 'यह उचित है' ऐसा लिया गया है।

आचार्य रुद्रट का कथन है कि 'काकु तो वक्रोक्ति नामक शब्दालङ्कार है।' किन्तु आचार्य राजशेखर की सम्मति में (ध्वनि-विकार से वक्ता केवल अपने आशय में परिवर्तन करता है, वाक्य की शोभा पर तो उसका प्रभाव पड़ता नहीं अतः) काकु अर्थवाले पाठ का धर्म मात्र है, वह अलङ्कार कैसे हो सकती है ?'

वह (काकु) दो प्रकार की होती है—१. साकांक्षा और २. निराकांक्षा। जो काकु (अपनी आकांक्षा-पूर्ति के लिये) वाक्यान्तर की अपेक्षा रखती है उसे साकांक्षा काकु कहते हैं और जो वाक्योच्चारण के अनन्तर हो वह निराकांक्षा काकु है (अर्थात् वाक्योत्तर के रूप में स्थित काकु निराकांक्षा है।) एक ही वाक्य काकु-विशेष से साकांक्ष होता है और वही सामान्य काकु के होने पर निराकांक्ष होता है। साकांक्षा काकु तीन प्रकार की होती है—१. आक्षेपगर्भा, २. प्रश्नगर्भा, और ३. वितर्कगर्भा। निराकांक्षा भी तीन प्रकार की होती है, १. विधिरूपा, २. उत्तररूपा, और ३. निर्णयरूपा। आक्षेपगर्भा का उदाहरण निम्न है :

कोई खिन्न नायिका अपनी सखियों से कह रही है—'यदि उस नायक को मेरी दूती प्रिय है तो मैं भी उस नायक को प्रिय हूँ और उसे उस दूती के वचन प्रिय हैं तो मेरे वचन भी प्रिय हैं।'

एवमेव निर्देष्टुर्विधिरूपा । प्रश्नगर्भा—

"गतः स कालो यत्रासीन्मुक्तानां जन्म वल्लिषु ।
वर्त्तन्ते साम्प्रतं तासां हेतवः शुक्तिसम्पुटाः ॥"

इयमेवोपदेष्टुरुत्तररूपा । वितर्कगर्भा—

"नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥"

इयमेवोपदेष्टुर्निर्णयरूपा । ता इमास्तिस्रोऽपि नियत-निबन्धाः । तद्विपरीताः पुनरनन्ताः । तत्राभ्युपगमानुनयकाकू—

(यहाँ काकु से यह आशय निकलता है कि जब भला उस नायक को दूती और दूती के वचन प्रिय हो गये तो मैं और मेरी बातें कैसे अच्छी लगेंगी ?)

यही वाक्य निर्देशकर्ता के विधि रूप में भी हो सकता है (अर्थात् यदि सरलरूप में काकु के विना कहा जाय तो यह आशय होगा कि 'मैं तथा मेरे वचन उसे प्रिय हैं' ।

प्रश्नगर्भा काकु का उदाहरण निम्नलिखित है—

वह समय बीत गया जब मोतियाँ लताओं में उत्पन्न होती थीं अब तो वे सीपियों के सम्पुट में उत्पन्न होती हैं ।

(यहाँ काकु से यह ध्वनि निकलती है कि 'क्या वह समय बीत गया जब मोतियाँ लताओं में होती थीं ?')

यही वक्ता के उत्तररूप में भी हो सकता है (अर्थात् जब इसे सामान्य कथन माना जाय कि 'वह समय चला गया ।')

वितर्कगर्भा का उदाहरण यह है—(विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में पुरूरवा कह रहा है—) 'उद्यत यह नवीन बादल क्या उत्तेजित राक्षस तो नहीं ? यह इन्द्र धनुष क्या दूर तक खींचा हुआ धनुष तो नहीं ? क्या यह मेघ वृष्टि है ? या बाण वृष्टि तो नहीं ? क्या यह स्वर्ण-कसौटी के समान स्निग्ध विद्युत् है ? क्या यह मेरी प्रिया उर्वशी नहीं ।'

(उद्यत होने के कारण जलधर है या उन्मत्त निशाचर यह वितर्क है ।) यही यदि वक्ता का 'नवजलधर ही निशाचर है' ऐसा अभिप्राय हो तो

"युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममाऽसि न गुरुर्नाऽहं विधेयस्तव॥"

अभ्युनुज्ञोपहासककाकू—

"मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥"

निराकांक्षा काकु हो जायेगी। ये तीनों काकु नियम से बद्ध हैं। अनियमित काकु तो असंख्य हैं। उनमें अभ्युपगमानुनय काकु का उदाहरण निम्नलिखित है—

(क्रुद्ध भीम युधिष्ठिर से कह रहे हैं—) 'हे युधिष्ठिर! आज तक मैं आपकी आज्ञा को पार करने रूप जल में डूबा रहा (अर्थात् आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया) और आपकी आज्ञा में स्थित छोटे भाइयों द्वारा भी तिरस्कृत होता रहा किन्तु क्रोध से उच्छ्वसित रक्त से लालरंग की गदावाले तथा कौरवों का नाश करने वाले मेरे आप आज एक दिन न तो गुरु रहे और न मैं आज्ञाकारी।'[1]

यहाँ पूर्वार्ध में मैं आज्ञा में मग्न रहा तथा विगर्हणा प्राप्त की यह अभ्युपगम-स्वीकार-काकु है। और आज मैं न आपका सेवक और न मेरे आप गुरु यह अनुनय काकु है अर्थात् ध्वनि से आशय यह है कि आज के बाद मैं आपका सेवक हूँ आज के लिये आप क्षमा करें।)

अभ्यनुज्ञोपहास काकु का उदाहरण—(वेणीसंहार नाटक के प्रथम अङ्क में सन्धि की बात सुनकर क्रुद्ध भीम; सहदेव से कह रहे हैं—) मैं युद्ध में क्रोध से सौ कौरवों को न मारूँ, दुःशासन की छाती का रक्त न पिऊँ, गदा से दुर्योधन की जाँघें न चूर्ण करूँ? और आप लोगों के राजा (युधिष्ठिर) शर्त के साथ कौरवों से संधि करें[2]!

यहाँ मैं प्रतिज्ञा करने पर भी कौरवों के नाशादि तत्तत्कार्यों को न करूँ? इस वचन में अभ्यनुज्ञा अर्थात् करने की प्रार्थना है और आप लोगों के राजा (अर्थात् मेरे नहीं; अब मैं उनके अधीन नहीं जो उनके समझौते से आवद्ध रहूँ) में उपहास है।

---

१. वेणीसंहार १.१२

२. तत्रैव १.१५

एवं त्रिचतुरकाकुयोगोऽपि । तत्र त्रियोगः—

"सेयं पश्यति नो कुरङ्गकवधूस्त्रस्तैवमुद्वीक्षते
तस्याः पाणिरयं न मारुतवलत्पत्राङ्गुलिः पल्लवः ।
तारं रोदिति सैव नैष मरुता वेणुः समाधूयते
सेयं मामभिभाषते प्रियतमा नो कोकिलः कूजति ॥"

चतुर्योगः—

"उच्यतां स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥"[1]

"सख्या वा नायिकाया वा सखीनायिकयोरथ ।
सखीनां भूयसीनां वा वाक्ये काकुरिह स्थिता ॥

इस प्रकार तीन या चार काकुओं का एकत्र योग भी होता है। तीन के योग का उदाहरण यह है—

(विरही पुरूरवा का कथन है—यह वही मेरी प्रियतमा देख रही है, भयभीत मृगी नहीं। यह उसी का हाथ है, हवा से चञ्चल पत्ररूपी अंगुली वाला पल्लव नहीं। यह वही जोर से रो रही है, हवा से बांस नहीं बज रहा है। मुझसे वही प्रिया बोल रही है, यह कोकिल का कूजन नहीं।

(यह पहले प्रश्नरूपा वितर्कगर्भा काकु है और वाद में निश्चय से निर्णय रूपा हो जाती है।)

चार काकुओं के योग का उदाहरण यह है—(नायिका सखी से कह रही है—) 'हे सखी ! उससे सारी शिकायतें कह देना।' पर 'हे सखी ! स्वामी से कठोरता ठीक नहीं।' 'उसे किसी प्रकार विनय करके लाओ अथवा अप्रिय करने वाले को कैसे मनाया जाय।'[1]

(वस्तुतः यहाँ नायिका तथा सखी में वार्तालाप है जो चार अंशों में प्रश्नोत्तररूप में है और चारों में काकु होने से यहाँ चार काकुओं का योग है।)

काकु का प्रयोग सखी, नायिका, सखी और नायिका अथवा बहुत सी सखियों के वचनों में किया जाता है।

---

१. किरातार्जुनीयम् ९.३९

पदवाक्यविदां मार्गो योऽन्यथैव व्यवस्थितः ।
स त्वाङ्गाभिनयद्योत्या तं काकुः कुरुतेऽन्यथा ॥
अयं काकुकृतो लोके व्यवहारो न केवलम् ।
शास्त्रेष्वप्यस्य साम्राज्यं काव्यस्याप्येष जीवितम् ॥
कामं विवृणुते काकुरर्थान्तरमतन्द्रिता ।
स्फुटीकरोति तु सतां भावाभिनयचातुरीम् ॥
इत्थं कविर्निबध्नीयादित्थं च मतिमान् पठेत् ।
यथा निबन्धनिगदश्छायां काञ्चिन्निपिञ्चति ॥
करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथा तथा ।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती ॥
यथा जन्मान्तराभ्यासात्कण्ठे कस्यापि रक्तता ।
तथैव पाठसौन्दर्यं नैकजन्मविनिर्मितम् ॥

पद तथा वाक्य के ज्ञाताओं (वैयाकरणों तथा मीमांसकों) का जो मार्ग दूसरे रूप में स्थित है वह अंगाभिनय से प्रकट होता है किन्तु काकु उस (अंगाभिनयद्योत्य मार्ग) को अन्यथा कर देती है ।

यह काकु का व्यवहार केवल लोक में ही दिखाई नहीं पड़ता अपितु शास्त्रों में भी इनका राज्य है और वाक्य का भी यह जीवन है ।

शुद्धोच्चारित काकु अर्थान्तर को उचितरूपेण प्रकट करता है । सज्जनों की भावाभिव्यक्ति की चतुरता को यह स्पष्ट कर देती है ।

(काकु में) कवि को पदों का प्रयोग इस भाँति करना चाहिए तथा मतिमान् को उसका पाठ इस भाँति करना चाहिए कि रचना तथा पाठ दोनों एक स्पष्ट शोभा की वर्षा करें !

(आशय यह है कि काकु की शोभा कवि तथा वाचक दोनों पर आधृत है । एक भी अनुचित विन्यास वा पाठ से उसकी शोभा समाप्त हो जायेगी ।)

अब काव्य के पाठ के विषय में कवि कह रहा है—

संस्कृत आत्मा वाला कवि किसी प्रकार से काव्य तो रच लेता है पर काव्य पढ़ने उसी को आता है जिसे सरस्वती सिद्ध हो अर्थात् जिस का वाणी पर अधिकार हो (यहाँ काव्य-पाठ को काव्य रचना से भी दुष्कर बताया गया है ।)

जैसे किसी के कण्ठ की लालिमा (मधुरिमा-सुरीलापन) जन्म-जन्मान्तर

ससंस्कृतमपभ्रंशं लालित्यालिङ्गितं पठेत् ।
प्राकृतं भूतभाषां च सौष्ठवोत्तरमुद्गिरेत् ।।
प्रसन्ने मन्द्रयेद्वाचं तारयेत्तद्विरोधिनि ।
मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम् ।।
ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम् ।
श्रुतिसुखविविक्तवर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति ।।
अतितूर्णमतिविलम्बितमुल्बणनादं च नादहीनं च ।
अपदच्छिन्नमनावृतमतिमृदुपरुषं च निन्दन्ति ।।
गम्भीरत्वमनैश्वर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः ।
संयुक्तवर्णलावण्यमिति पाठगुणाः स्मृताः ।।
यथा व्याघ्री हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभिश्च न पीडयेत् ।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत् ।।

के अभ्यास से आती है इसी प्रकार पाठ-सौन्दर्य भी एक जन्म में निर्मित नहीं होता।

संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा को लालित्य के साथ पढ़ना चाहिये और प्राकृत तथा भूतभाषा को उत्तरोत्तर सौन्दर्य के साथ।

प्रसाद-गुण के प्रसङ्ग पर वाणी को गम्भीर बनाना चाहिये और उसके विरोधी गुण (अर्थात् ओजस् के योग) में उच्च करना चाहिये। भय के योग में (आवश्यकतानुसार) ऊँचा-नीचा करना चाहिये।

(प्रशस्त पाठ का लक्षण देते हुए कहते हैं—) सुन्दर, काकुयुक्त, उज्ज्वल, अर्थानुकूल विभक्त, वर्णों को सुखदायी वर्णों के विभागवान् पाठ की कवि लोग प्रशंसा करते हैं।

टिप्पणी—इस विषय में निम्नलिखित श्लोक संग्रहणीय है—

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥

(अब निन्द्य पाठ का वर्णन कर रहे हैं—) अत्यन्त शीघ्रता वाले, अत्यन्त देर वाले, ऊँची आवाज वाले, ध्वनिहीन, पदच्छेदरहित, अव्यक्त, अत्यन्त मृदु वा परुष (पाठ की कवि लोग) निन्दा करते हैं।

गम्भीरता, सस्वरता, ऊँच-नीच स्वर का निर्वाह और संयुक्त वर्णों के पढ़ने में विशेष सुन्दरता—ये पाठ के गुण माने गये हैं।

जैसे व्याघ्री अपने बच्चों को दातों से दबाकर इधर-उधर ले जाती है पर

विभक्तयः स्फुटा यत्र समासश्चाकदर्थितः ।
अम्लानः पदसन्धिश्च तत्र पाठः प्रतिष्ठितः ॥
न व्यस्तपदयोरैक्यं न भिदां तु समस्तयोः ।
न चाख्यातपदम्लानिं विदधीत सुधीः पठन् ॥
आगोपालकमायोषिदास्तामेतस्य लेह्यता ।
इत्यं कविः पठन् काव्यं वाग्देव्या अतिवल्लभः ॥
येऽपि शब्दविदो नैव नैव चार्थविचक्षणाः ।
तेषामपि सतां पाठः सुष्ठु कर्णरसायनम् ॥
पठन्ति संस्कृतं सुष्ठु कुण्ठाः प्राकृतवाचि तु ।
वाराणसीतः पूर्वेण ये केचिन्मगधादयः ॥"

आह स्म—

"ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया ।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वाऽस्तु सरस्वती ॥

काटती नहीं और उनके गिरने के भय डर से रहती है उसी भाँति वर्णों (अक्षरों) का प्रयोग करना चाहिए (अर्थात् न तो उन्हें गिरने ही दे और न काट ही जाय।[१])

सुन्दर (प्रतिष्ठित) पाठ वह है जिसमें विभक्तियाँ स्पष्ट हों, समास भी स्पष्ट हों, और पदों की संधि भी सुस्पष्ट हो।

बुद्धिमान् को पाठ करते समय न तो व्यस्त पदों को मिलाना चाहिये और न समस्त पदों को अलग करना और आख्यात पदों (क्रिया-पदों) को भी विकृत वा मलिन नहीं करना चाहिये।

कवि को पाठ ऐसा करना चाहिये कि गायों के चरवाहों से लेकर स्त्रियों तक को प्रिय लगे। एतादृश पाठकारी कवि सरस्वती का प्रिय होता है।

जो सज्जन न तो शब्द के ज्ञाता हैं और न अर्थ के ही विशेषज्ञ हैं उनके भी पाठ कर्ण-मधुर होते हैं।

(अब देश-विशेष के पाठ विषय में कह रहे हैं—)

वाराणसी से पूर्व जो मगधादि के निवासी हैं वे संस्कृत तो सुन्दर पढ़ लेते हैं पर प्राकृत बोलने में उनकी वाणी कुण्ठित हो जाती है।

यह कहा भी है—(कि एक बार सरस्वती ब्रह्मा के पास जाकर कहने

---

१. यह श्लोक पाणिनीय तथा याज्ञवल्कीय शिक्षाओं में मिलता है।

नातिस्पष्टो न चाश्लिष्टो न रूक्षो नातिकोमलः ।
न मन्द्रो नातितारश्च पाठी गौडेषु वाडवः ॥[1]
रसः कोऽप्यस्तु काप्यस्तु रीतिः कोऽप्यस्तु वा गुणः ।
सगर्वं सर्वकर्णाटाष्टंकारोत्तरपाठिनः ॥
गद्ये पद्येऽथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि ।
गेयगर्भे स्थितः पाठे सर्वोऽपि द्रविडः कविः ॥
पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः ।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ॥
सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम् ।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि ॥
शारदायाः प्रसादेन काश्मीरः सुकविर्जनः ।
कर्णे गुडूचीगण्डूषस्तेषां पाठक्रमः किमु ? ॥

लगीं—) ब्रह्मन् ! मैं अपना अधिकार छोड़ने की इच्छा से आप से कह रही हूं कि गौड़ देश के निवासी या तो गाथाओं का उच्चारण छोड़ दें (क्योंकि उन्हें गाथा पढ़ने नहीं आती और यदि वे ऐसा न करें तो कृपया उनके लिये) एक दूसरी सरस्वती का आप निर्माण कर दें ।

गौड़ देश के विद्वान् न तो अत्यन्त स्पष्ट ही पढ़ते हैं और न अत्यन्त श्लिष्ट ही । उनका पाठ न अति रूक्ष, न अति कोमल, न अत्यन्त गम्भीर और न अत्यन्त ऊँचा ही होता है ।

कर्णाटक देश के निवासी चाहे कोई रस, कोई रीति या कोई गुण हो गर्व के साथ अन्त में टंकार का पाठ करेंगे ।

काव्य को जानने वाले भी द्रविड़ देश के सभी कवि चाहे गद्य हो, पद्य हो या मिश्र (चम्पू) हो उसे गाकर पढ़ेंगे ।

लाट (गुजरात) के निवासी संस्कृत के द्वेषी होते हैं तथा प्राकृत को अत्यन्त मनोहारिता के साथ पढ़ते हैं । जिह्वा के सुन्दर सञ्चालन से उनकी मुद्रा अत्यन्त सुन्दर हो जाती है ।

सुराष्ट्र तथा त्रव देश के निवासी संस्कृत और अपभ्रंश दोनों को सुन्दरता से पढ़ते हैं ।

सरस्वती (शारदा) की कृपा से काश्मीर के व्यक्ति अच्छे कवि होते हैं । उनका पाठ-क्रम कान में गुडूची के रस के समान होता है ।

१. यहाँ 'वाडव' का अर्थ लोग वा जन किया जाना चाहिए ।

ततः पुरस्तात्कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे ।
ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिकपाठिनः ॥

मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां
सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः ।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः ॥

ललल्लकारया जिह्वं जर्जरस्फाररेफया ।
गिरा भुजङ्गाः पूज्यन्ते काव्यभव्यधियो न तु ॥

पञ्चस्थानसमुद्भववर्णेषु यथास्वरूपनिष्पत्तिः ।
अर्थवशेन च विरतिः सर्वस्वमिदं हि पाठस्य ॥

सकाकुकलना पाठप्रतिष्ठेयं प्रतिष्ठिता ।
अर्थानुशासनस्याथ प्रकारः परिकीर्त्यते ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे सप्तमोऽध्यायः । वाक्यविशेषाः काकुकलना पाठप्रतिष्ठा च ॥

—: • :—

उनसे आगे उत्तरापथ के जो कवि हैं वे सुसंस्कृत (व्याकरण में निपुण) होने पर भी सर्वदा सानुनासिक पढ़ने वाले होते हैं ।

पाञ्चाल देश में होने वाले कवियों का वचन (काव्य-पाठ) रीति के अनुसार ध्वनि के गुणों की निधि और सम्पूर्ण वर्ण–विभक्तियों से विभक्त होने से सुन्दर होता है । वह काव्य-पाठ न होकर कान में मधु श्रवण होता है ।

वैयाकरणों तथा नैयायिकों के पूर्ण लकार तथा रकार के अर्ध उच्चारण की भले ही (समाज में) प्रशंसा हो पर काव्य-बुद्धि वालों के द्वारा ऐसी वाणी का आदर नहीं होता (अर्थात् वहाँ तो कोमलकान्तपदावली ही मान्य है ।)

वर्णों की उत्पत्ति पाँच स्थलों–स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान— से होती है । (इन पाँच स्थलों से उत्पन्न वर्ण की समुचित निष्पत्ति उच्चारण) तथा अर्थानुकूल विराम—ये ही पाठ के सर्वस्व हैं ।

इस प्रकार यहाँ काकु के वर्णन के साथ ही साथ पाठ-प्रतिष्ठा का भी वर्णन किया गया । अब अर्थानुशासन के प्रकारों का वर्णन (अगले अध्याय में) किया जायेगा ।

राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक व्याख्यान प्रथम अधिकरण में वाक्यविशेष, काकुकलना और पाठप्रतिष्ठा नामक सातवाँ अध्याय समाप्त ।

—: ० :—

अष्टमोऽध्यायः

८ वाक्यार्थयोनयः

"श्रुतिः, स्मृतिः, इतिहासः, पुराणं, प्रमाणविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोको, विरचना, प्रकीर्णकं च काव्यार्थानां द्वादश योनयः" इति आचार्याः ।

"उचितसंयोगेन, योक्तृसंयोगेन, उत्पाद्यसंयोगेन, संयोगविकारेण च सह षोडश" इति यायावरीयः । तत्र श्रौतः । "उर्वशी हाप्सराः पुरूरवसमैडं चकमे" । अत्रार्थे—

(प्राचीन भामह आदि) आचार्यों की राय में वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (मीमांसा और षड्विध तर्क), राजसिद्धान्तत्रयी (अर्थशास्त्र, नाटचशास्त्र और कामशास्त्र की त्रयी अथवा प्रभाव-उत्साह-मंत्र की त्रयी), लोकवृत्त, विरचना (महाकाव्यादि अन्य कवियों की रचनायें), प्रकीर्णक (कहे हुये अन्य अश्वविद्या, गजविद्या आदि)—ये बारह काव्यार्थों अर्थात् काव्य में वर्ण्य अर्थों के कारण होते हैं ।[1]

टिप्पणी—इस विषय में भामह की उक्ति साम्य के लिये द्रष्टव्य है—

> शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
> लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्ययोनयः ।। इति ।
> लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि ।

किन्तु राजशेखर की राय में उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्य-संयोग तथा संयोगविकार को मिलाकर इनकी संख्या सोलह है । इन सोलह काव्य योनियों में प्रथम है—श्रौत वा वेदविषयक । श्रौत का उदाहरण है—उर्वशी अप्सरा ने इड पुत्र पुरूरवा को चाहा ।' इसी विषय में निम्न पद्य भी है—

---

१. तुलना की०—

लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि । लोकवृत्तं लोकः ।

—वामन

"चन्द्राद् बुधः समभवद्भगवान्नरेन्द्र-
माद्यं पुरूरवसमैडमसावसूत ।
तं चाप्सराः स्मरवती चकमे किमन्य-
दत्रोर्वशी स्मितवशीकृतशक्रचेताः ॥"

यथा वा—"यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं ता ऋचः स ऋचां लोकोऽथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोकोऽथ य एष तस्मिन्मन्डले पुरुषः सोऽग्निस्तानि यजूंषि स यजुषां लोकः सैषा त्रय्येव विद्या तपति ।"

अत्रार्थे—

"एतद्यन्मण्डलं खे तपति दिनकृतस्ता ऋचोऽर्चींषि यानि
द्योतन्ते तानि सामान्ययमपि पुरुषो मण्डलेऽणुर्यजूंषि ।
एवं यं वेद वेदत्रितयमयमयं वेदवेदी समग्रो

'चन्द्रमा के पुत्र बुध हुये उन बुध ने इडा नामक स्त्री से आद्य राजा पुरूरवा को उत्पन्न किया उसके विषय में और अधिक क्या कहा जावे कि इसकी अपनी मधुर मुस्कान से इन्द्र के चित्त को वश करने वाली अप्सरा उर्वशी ने भी कामातुर होकर कामना की।

अथवा—(यह तैत्तिरीय आरण्यक अनुवाक १४ से उद्धृत है, इसमें सूर्यमण्डल में ब्रह्म की उपासना का वर्णन है—) यह जो (सूर्य) मण्डल तप रहा है वह महान् उक्थ (सामविशेष) है, (उसी मण्डल में प्रसिद्ध) वे ऋचायें हैं, वह ऋचाओं का निवासस्थान है; यह जो (सूर्यमण्डल की) दीप्ति भास्वर है वही महाव्रत है उसी में साम निवास करते हैं, वही साम का निवास-स्थल है। (अब साम के वर्णन के बाद उसी में यजुष् की स्थिति बताते हैं) जो इस मण्डल में पुरुष है वह अग्नि है (उस अग्निरूप सूर्यमण्डल में ही) यजुष स्थित हैं, वही यजुर्गणों का लोक है (इस प्रकार यह सूर्यमण्डल (त्रयी विद्या (बनकर) तप रहा है।

इसी अर्थ में निम्न पद्य भी है—आकाश में दिनकृत् (सूर्य) का जो मण्डल तप रहा है वही ऋचायें हैं, जो ऋचायें प्रकाशित हो रही हैं वही साम हैं, वह जो छोटा पुरुष है वही यजुर्गण हैं। जो सूर्यदेव इस प्रकार से ज्ञात हैं, वे वेदज्ञ, धर्मार्थकाम के समुदायभूत, स्वर्ग तथा मोक्ष के प्रकृति एवं

वर्गः स्वर्गापवर्गप्रकृतिरविकृतिः सोऽस्तु सूर्यः श्रिये वः ।।"

तच्चेदं वेदहरणं यदित्थं कथयन्ति—

"नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे ।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति ।।"

स्मार्त्तः—

"वह्वर्थेष्वभियुक्तेन सर्वत्र व्यपलापिना ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ।।"

अत्रार्थे—

"हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
सम्भावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ।।"

अविकृति (अकार्यरूप) सूर्य देव आप लोगों को समृद्धि दें ।[1]

यह वेद के विषय का आनयन हुआ है। इस वेदार्थाहरण के विषय को लोग इस प्रकार कहते हैं—उस श्रुति देवी को नमस्कार है जिनका, ऋषि, शास्त्रकार एवं कवि पग-पग पर दोहन किया करते हैं।

स्मार्त्त का उदाहरण निम्न है—यदि कोई चोर बहुत से विषयों में अभियुक्त हो तथा सभी स्थान पर झूठ बोलता हो तो यदि चोरित द्रव्य का एक अंश भी उसके पास मिल जाय तो उसे सभी वस्तुयें देय होती हैं जिनका उस पर अभियोग है (भाव यह है कि यदि किसी चोर पर अनेकों वस्तुओं की चोरी का अभियोग है और वह सभी से इनकार कर रहा है तथा उसी में से एक वस्तु उसके पास मिल जाय तो वे सभी वस्तुयें उसे देय होती हैं जिनका उस पर अभियोग है।)

इसी विषय का निम्न पद्य हैं—हे हंस ! मेरी प्रिया को लौटा दे क्योंकि उसकी गति (गमन) को तूने चुराया है ? यदि किसी के पास अभियोग लगायी वस्तु का एक भी अंश मिल जाय तो उसे वे समग्र वस्तुयें देय होती हैं जिनका उस पर अभियोग हो।[2]

(इस उदाहरण में हंस के पास प्रिया को चुराने का अभियोग है और हंस के पास उसके गमन का पता चल गया है।)

---

१. सूर्यशतक ८९

२. विक्रमोर्वशीय ४.१७

तुल०—निह्नुते लिखितं नैकमेकदेशविभावितः ।
दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः ।। याज्ञवल्क्य व्यवहारकाण्ड ।

ऐतिहासिकः —

"न स सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥"

अत्र—

"मदं नवैश्वर्यलवेन लम्भितं विसृज्य पूर्वः समयो विमृश्यताम् ।
जगज्जिघत्सातुरकण्ठपद्धतिर्न वालिनैवाहेततृप्तिरन्तकः ॥"

पौराणिकः—

"हिरण्यकशिपुर्दैत्यो यां यां स्मित्वाऽभ्युदैक्षत ।
भयभ्रान्तैः सुरैश्चक्रे तस्यै तस्यै दिशे नमः ॥"

ऐतिहासिक का उदाहरण—हे सुग्रीव ! वह मार्ग जिससे मारा हुआ वालि गया वह संकुचित नहीं है (तू भी उस रास्ते जा सकता है) अतः अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर रह और वालि के मार्ग का अनुसरण न कर।' (यह वाल्मीकीय रामायण—किष्किन्धाकाण्ड का श्लोक है। वालि के मारे जाने पर सुग्रीव ने कहा था कि शीघ्र ही सीता की खोज का प्रयत्न किया जायेगा पर जब उसका बहुत दिनों तक तक पता न चला तो राम ने लक्ष्मण के द्वारा उपर्युक्त सन्देश भेजा।)[1]

इसी विषय का अन्य उदाहरण—नवीन राज्यरूपी ऐश्वर्य से प्राप्त मद को छोड़कर पूर्व प्रतिज्ञा को स्मरण करो (अथवा प्राचीन अपनी दुरवस्था का ख्याल करो) संसार को मारने को लालायित कण्ठवाला यम वालि के द्वारा ही तृप्त नहीं हुआ है (अर्थात् तुम भी मृत्यु के पास भेजे जा सकते हो।[2]

पौराणिकार्थ का उदाहरण—दैत्य हिरण्यकशिपु मुस्कराकर जिस-जिस दिशा की ओर देखता था भय-भीत देवगण उस-उस दिशा को नमस्कार करते थे (अर्थात् उस-उस दिशा से भाग जाते थे।)[3].

---

१. रामायण किष्किन्धाकाण्ड ३४.१८

२. जानकीहरण १२ ३८

३. तुलना०

राजा हिरण्यकशिपुर्यां यामाशां निषेवते ।
तस्यै तस्यै दिशे देवा नमश्चक्रुर्महर्षिभिः ॥—वायु पु० अध्याय ६७

अत्र—

"स सञ्चरिष्णुर्भुवनत्रयेपि यां यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः ।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥"

अत्राहुः—

"श्रुतीनां साङ्गशाखानामितिहासपुराणयोः ।
अर्थग्रन्थः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम् ॥
इतिहासपुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः ।
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते ॥
वेदार्थस्य निबन्धेन श्लाघ्यन्ते कवयो यथा ।
स्मृतीनामितिहासस्य पुराणस्य तथा तथा ॥"

द्विविधः प्रामाणिको मैमांसिकस्तार्किकश्च । तत्र प्रथमः शब्दस्य सामान्यमभिधेयं विशेषश्चार्थः । अत्र—

इसी विषय का अन्य उदाहरण—राजलक्ष्मी का आश्रयभूत वह हिरण्यकशिपु स्वेच्छा में घूमता हुआ जिस दिशा में जाता था उस दिशा के देवता मुकुट झुकाकर तीनों सन्ध्याओं में नमस्कार करते थे ।[1]

इस विषय में कहा गया है—अङ्गों तथा शाखाओं सहित वेदों, इतिहास एवं पुराण के अर्थों का संग्रथन एवं कथाओं का अभ्यास करना कवित्व की औषध है ।

सत्कवि इतिहास-पुराणरूपी आँखों को विवेकरूपी अञ्जन से शुद्ध करके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ को देखता है ।

जिस प्रकार कविजन वेदों के अर्थों का उपनिवन्धन (वर्णन) करके प्रशंसित होते हैं उसी प्रकार स्मृतियों, इतिहासों एवं पुराणों की कथाओं के वर्णन से भी प्रशंसित होते हैं ।

प्रामाणिक अर्थ (प्रमाण विद्या से अधिगत अर्थ) दो प्रकार का होता है—१. मैमांसक और २. तार्किक । पहले अर्थात् मीमांसकों के अनुसार शब्द का अभिधेय (अभिधा व्यापार से वोध) सामान्य अर्थ (वा जाति) हुआ करती है और विशेष अर्थ व्यक्तिपरक होता है इस विषय का उदाहरण निम्न है—

---

१. माघ १.४६

"सामान्यवाचि पदमप्यभिधीयमानं
मां प्राप्य जातमभिधेयविशेषनिष्ठम् ।
स्त्री काचिदित्यभिहिते सततं मनो मे
तामेव वामनयनां विषयीकरोति ॥"

तर्केषु साङ्ख्यीयः—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥"

अत्र—

"य एते यज्वानः प्रथितमहसो येऽप्यवनिपा
मृगाक्ष्यो याश्चैताः कृतमपरसंसारकथया ।
अमी ये दृश्यन्ते फलकुसुमनम्राश्च तरवो
जगत्येवंरूपा विलसति मृदेषा भगवती ॥"

कहा जाता हुआ सामान्यवाची शब्द भी मुझे प्राप्त कर (मेरे लिये) विशेषपरक बन जाता है। 'स्त्री' ऐसे सामान्य शब्द कहे जाने पर मेरा मन उसी सुन्दरी का ध्यान करता है। (भाव यह है कि मीमांसा के अनुसार शब्द का अर्थ जातिवाचक हुआ करता है और अवसरानुकूल विशेषार्थ का बोध कराता है। इस उदाहरण में शृंगार रसका परिपाक अच्छा है।)[1]

तर्कों में सांख्य-शास्त्रीय तर्क का उदाहरण (गीता २.१६) निम्नलिखित श्लोक है—असत् पदार्थ का भाव (अस्तित्व) नहीं है और सत् (अस्तित्ववान्) पदार्थ का अभाव नहीं है। तत्त्ववेत्ताओं ने इन दोनों (सदसत्) का अन्त (रहस्य) जान लिया है।

इसी विषय में यह भी द्रष्टव्य है: दूसरे संसार की कथा तो व्यर्थ है, पृथ्वी पर ही जो ये यज्ञकर्ता, प्रसिद्ध तेज वाले राजा, मृगनयनियाँ और फल-पुष्पों से नम्र वृक्ष हैं ये सभी भगवती मृत्तिका के विलास हैं अर्थात् ये दृश्यमान समस्त पदार्थ मृण्मय हैं।

---

१. यह श्लोक कवीन्द्रवचनसमुच्चय में उद्धृत है।

न्यायवैशेषिकीयः—स किंसामग्रीक ईश्वरः कर्त्ता ? इति पूर्वपक्षः। निरतिशयैश्वर्यस्य तस्य कर्तृत्वमिति सिद्धान्तः।

अत्र—

"किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः॥"

बौद्धीयः—

विवक्षापूर्वा हि शब्दास्तामेव विवक्षां सूचयेयुः।

टिप्पणी—सांख्यदर्शन सत्कार्यवादी कहा जाता है तथा न्याय असत्कार्यवादी। सत्कार्यवादी के अनुसार कारण से उत्पन्न कार्य कारण से सर्वथा भिन्न नहीं है तथा कार्य कारण में सदैव वर्तमान रहता है। कार्य के उत्पन्न होने पर भी कारण उसमें पूर्णतः लुप्त नहीं होता। जैसे पट के बन जाने पर भी तत्कारणभूत तन्तु उसमें है ही। इसी प्रकार स्वर्ण तथा तज्जन्य आभूषण की भी स्थिति है।

(तर्कशास्त्र में) न्याय-वैशेषिक का उदाहरण निम्नलिखित है—प्रश्न यह है कि वह कर्ता ईश्वर किन-किन सामग्रियों से निर्माण करता है ? सिद्धान्त पक्ष (न्याय-वैशेषिक का उत्तर) यह है कि निरतिशय (महान्) ऐश्वर्य से उसका कर्तृत्व सिद्ध है (अर्थात् लोकोत्तर ऐश्वर्य के कारण वह रचना करता है—ऐसा सिद्ध हुआ।)[1]

इस विषय में (काव्य का) उदाहरण यह है : (हे प्रभो !) अतर्क्य ऐश्वर्य वाले आपके विषय में कोई मूर्ख जगत् को भ्रमित करने के लिये स्थापित न करने योग्य एवं दुष्ट इन कुतर्कों को करते हैं कि वह कर्ता ईश्वर किस इच्छा (वा चेष्टा) वाला है, उसका शरीर कैसा है, उसका सहकारी कारण (उपाय) क्या है, उसका आधार क्या है और उसका उपादान (समवायिकारण) क्या है जिससे वह धाता (धारक) त्रैलोक्य का सर्जन करता है। (शिव महिम्नस्तोत्र ५)

---

१. ईश्वर के ऐश्वर्य के विषय में उदयनाचार्य की यह उक्ति है :

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥ पञ्चम स्तबक

अत्र—

"भवतु विहितं शब्दा वक्तुर्विवक्षितसूचकाः
स्मरवति यतः कान्ते कान्तां बलात्परिचुम्बति ।
न न न म म मा मा मां स्प्राक्षीर्निषेधपरं वचो
भवति शिथिले मानग्रन्थौ तदेव विधायकम् ॥"

लौकायतिकः—भूतेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवत् । अत्र—

"बहुविधमिह साक्षिचिन्तकाः प्रवदन्त्यन्यदितः कलेवरात् ।
अपि च सुदति ते सचिन्तकाः प्रलयं यान्ति सहैव चिन्तया ॥"

(तर्कशास्त्र में) बौद्ध-वचन का उदाहरण निम्नलिखित है—(बौद्धों के अनुसार)—शब्द कहने के पूर्व वक्ता की विशेष कहने की इच्छा (वक्तुमिच्छा विवक्षा) होती है जिसको प्रकट करने के लिये वह शब्दों का प्रयोग करता है, अतः शब्द उस विवक्षा को ही सूचित करते हैं ।

इस विषय में (काव्यशास्त्रीय) उदाहरण यह है—

यह तो ज्ञात ही है कि शब्द वक्ता के इच्छित वस्तु (विवक्षित) के सूचक होते हैं अतः मान के शिथिल होने पर कामी प्रिय के द्वारा प्रिया के बलपूर्वक चुम्बित होने पर जब कान्ता कहती है कि 'नहीं-नहीं मुझे स्पर्श मत करो' तो यह वचन (निषेधपरक न होकर) विधायक होता है ।

(भाव यह है कि यद्यपि नायिका तो प्रकट 'न करो' ऐसा कहती है पर वस्तुतः उसके मन में 'करो' ऐसा भाव है अतः शब्दों के विवक्षित अर्थ के सूचक होने से इस 'न' का भी अर्थ उलटा ही होगा)

चार्वाकों का सिद्धान्त यह है—प्राणियों में चैतन्य उसी भांति (आता) है जैसे मादक पदार्थों में मादकत्व (चार्वाकों का सिद्धान्त यह है प्राणियों में चैतन्य उसी भांति आता है जैसे गुड़ आदि मादक पदार्थों में मदशक्ति अथवा जिस भांति गोबर इत्यादि से कीड़े[1] उत्पन्न होते हैं । आत्मा की कल्पना उनके अनुसार बुद्धि-विलास मात्र है ।) इसका काव्य में उदाहरण यह है—हे सुदति (सुन्दर दाँतों वाली) ! इस लोक में कोई साक्षी-भूत पदार्थ (ब्रह्म वा आत्मा है इसकी चिन्तना करने वाले व्यक्ति वे हैं जो इस शरीर से भिन्न कोई ब्रह्म वा आत्मा है ऐसा कहा करते हैं किन्तु वे व्यक्ति उसी प्रकार की चिन्तना करते-करते मर जाते हैं (अर्थात् उनकी चेतन वा आत्म शक्ति जिसकी वे पृथक् सत्ता मानते हैं नष्ट हो जाती है) ।

---

१. तस्माद् भूतविशेषेभ्यो यथा शुक्तसुरादिकम् ।
तेभ्य एव तथा ज्ञानं जायते व्यज्यतेऽथवा ॥ —तत्त्वसंग्रह ।

आर्हतः—शरीरपरिमाण आत्मा, अन्यथा शरीराफल्यमात्माफल्यं वा।

अत्र—

"शरीरमात्रमात्मानं ये वदन्ति जयन्ति ते।
तच्चुम्बनेऽपि यज्जातः सर्वाङ्गपुलकोऽस्य मे॥"

सर्वपार्षदत्वात्काव्यविद्यायाः तानिमानन्यांश्चार्थान्व्युत्पत्तये प्रत्यवेक्षेत। आहुश्च—

"यांस्तर्ककर्कशानर्थान्सूक्तिष्वाद्रियते कविः।
सूर्यांशव इवेन्दौ ते काञ्चिदर्चन्ति कान्तताम्॥"

जैनों का सिद्धान्त यह है कि जितना बड़ा शरीर है उतना ही बड़ा आत्मा भी है। दोनों में किसी के भी छोटा बड़ा होने पर या तो शरीर की व्यर्थता होगी या आत्मा की (भाव यह है कि यदि शरीर आत्मा से बड़ा होगा तो यावन्मात्र आत्मा होगा उतनी ही दूर तक सुख-दुःखादि का अनुभव होगा और शेष शरीर व्यर्थ होगा। तथा यदि आत्मा शरीर से बड़ा होगा तो शरीर व्यापि आत्मा तक का ही उपयोग होगा। शेष व्यर्थ है।)

इसका काव्य में उदाहरण है—उन (जैनों) की जय हो जो आत्मा को शरीर के परिमाण का बताते हैं क्योंकि उसका चुम्बन करने पर मेरा सारा शरीर पुलकित हो उठा (भाव यह है कि यदि आत्मा सम्पूर्ण शरीर के परिमाण का न होता तो सर्वाङ्ग पुलक संभव न था अतः आत्मा शरीर के परिमाण का है)।

(यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि शास्त्रीय विधान के अनुसार नास्तिकों का संसर्ग निषिद्ध है जैसे कि प्रचलन भी है कि 'हाथी भी खदेड़े तो भी जैनियों के घर नहीं जाना चाहिये'—'हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्—' तो फिर उनके सिद्धान्तों का वर्णन क्यों हों' तो इसके उत्तर में उहते हैं—) काव्य-विद्या के सभी लोग (चाहे किसी भी धर्म वा जाति के क्यों न हों) सदस्य होते हैं अतः इन सिद्धान्तों का तथा साथ ही साथ अन्य सिद्धान्तों का भी कवि को वर्णन करना चाहिये।

कहा भी है—कवि जिन तर्क-वितर्क अर्थों का काव्य में सन्निवेश करता है वे उसी भांति रमणीय हो जाते हैं जैसे सूर्य की (उत्तापदायिनी) किरणें चन्द्रमा में आकर कमनीय (उत्तापहारिणी) हो जाती है। (भाव यह है कि दर्शन के शुष्कातिशुष्क सिद्धान्त भी काव्य में मनोरम एवं जनरञ्जन हो जाते हैं।)

समयविद्यासु शैवसिद्धान्तीयः—

"घोरघोरतरातीतब्रह्मविद्याकलातिगः।
परापरपदव्यापी पायाद् वः परमेश्वरः ॥"

पाञ्चरात्रः—

"नाद्यन्तवन्तः कवयः पुराणाः सूक्ष्मा वृहन्तोऽप्यनुशासितारः।
सर्वज्वरान्घ्नन्तु ममानिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणवासुदेवाः ॥"

बौद्धसिद्धान्तीयः—

"कलिकृतकलुषाणि यानि लोके
मयि निपतन्तु विमुच्यतां स लोकः।
मम हि सुचरितेन सर्वसत्त्वाः
परमसुखेन सुखावनीं प्रयान्तु ॥"

सैद्धान्तिक विद्याओं (वा साम्प्रदायिक विद्याओं) में शैव-सिद्धान्त का उदाहरण यह है—घोर एवं घोरतर से भी अतीत ब्रह्म-विद्या की कला से परे तथा पर एवं अपर पदों में व्याप्त परमेश्वर (भगवान् शङ्कर) आप लोगों की रक्षा करें।

पाञ्चरात्र का उदाहरण यह है—आदि-अन्त-रहित, कवि, पुरातन, सूक्ष्म, बृहत् एवं उपदेशक अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण एवं वासुदेव मेरे सभी ज्वरों को दूर करें।

टिप्पणी—पुराणों में अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण एवं वासुदेव का व्यूह माना गया है—

संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकाः।
व्यूहश्चतुर्विधो ज्ञेयः सूक्ष्मः सम्पूर्णषड्गुणः ॥

शंकराचार्य ने पांचरात्र के चतुर्व्यूह-सिद्धान्त का (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।४२–४५) वर्णन किया है। महाभारत के नारायणोपाख्यान (शान्ति प० ३३९।४०–४५) तथा लक्ष्मीतंत्र (५।९–१४) में भी यह वर्णित है। पर पांचरात्र की जयाख्य आदि संहिताओं में संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन तीनों का ही व्यूह वर्णित है।

बौद्ध सिद्धान्तानुकूल काव्य का उदाहरण—कलियुग कृत जितने भी पाप लोगों पर व्याप्त हैं वे मुझ पर चले आवें और संसार उनसे त्राण पा जावे और मेरे पुण्य से सभी प्राणी परम सुख को प्राप्त हों। (इस श्लोक में बौद्धमतत्तानुयायियों की करुणा व्यञ्जित है।)

एवं सिद्धान्तान्तरेष्वपि। राजसिद्धान्तत्रय्यामर्थशास्त्रीयः—

"शमव्यायामाभ्यां प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपतेः
परं प्रत्यावापः फलति कृतसेकस्तरुरिव।
बहुव्याजं राज्यं न सुकरमराजप्रणिधिभि-
र्दुराराधा लक्ष्मीरनवहितचित्तं छलयति॥

नाट्यशास्त्रीयः—

"एवं धारय देवि बाहुलतिकामेवं कुरुष्वाङ्गकं
मात्युच्चैर्नम कुञ्चयाग्रचरणं मां पश्य तावत्स्थितम्।
देवीं नर्त्तयतः स्ववक्त्रमुरजेनाम्भोधरध्वानिना
शम्भोर्वः परिपान्तु लम्बितलयच्छेदाहतास्तालिकाः॥"

कामसूत्रीयः—

"नाश्चर्यं त्वयि यल्लक्ष्मीः क्षिप्त्वाधोक्षजमागता।
असौ मन्दरतस्त्वं तु प्राप्तः समरतस्तया॥"

राजसिद्धान्तत्रयी में अर्थशास्त्र का उदाहरण यह है : जिस राजा ने शान्ति तथा परिश्रम से स्वराष्ट्र-व्यवस्था कर दी है उसकी परराष्ट्र-चिन्ता उसी भाँति सफल होती है जैसे किसी वृक्ष में पहले से सींचनें से फल आते हैं। राज्य में बहुत से छल-छिद्र होते हैं, वह राजा के गुप्तचरों के अभाव में सुकर नहीं क्योंकि लक्ष्मी की साधना कठिन है और वह प्रमादियों को ठग देती हैं। (राजाओं के लिए चारों-गुप्तचरों की आवश्यकता आँख-तुल्य है—चारैः पश्यन्ति राजानः चक्षुर्भ्यामितरे जनाः।')[1]

नाट्यशास्त्रीय काव्य का उदाहरण—देवि! बाहों को इस प्रकार रखो, अंगों को इस प्रकार करो; ज्यादा मत झुको, अग्रचरण (पञ्जा) को समेटो इस प्रकार स्थित मुझे देखो—' इस प्रकार बादलों के समान गरजने वाले अपने मुखरूपी मुरज से देवी पार्वती को नचाते हुए भगवान् शङ्कर की लम्बितलयों के विच्छेद पर दी गई तालियाँ आपकी रक्षा करें।

कामसूत्रीय उदाहरण—(हे महाराज!) यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि लक्ष्मी विष्णु को छोड़कर आप के पास आ गयीं क्योंकि उन्होंने तो मन्दराचल के द्वारा (समुद्र-मंथन से) उन्हें प्राप्त की थी पर आपने तो समर (युद्ध) में जीत कर पाया है।

---

१. बालरामायण १.२४

लौकिकस्तु द्विधा प्राकृतो व्युत्पन्नश्च । तयोः प्रथमः—

"स्फुटितपिठरीबन्धश्लाघ्यो विपक्षगृहेष्यभूत्
प्रियतम ययोः स्नेहग्रन्थिस्तथा प्रथमं स नौ ।
जनवदधुना सन्नन्यावां वसाव इहैव तौ
धिगपरिचिते प्रेम स्त्रीणां चिराय च जीवितम् ॥"

यथा वा—

"इक्षुदण्डस्य मण्डस्य दध्नः पिष्टकृतस्य च ।
वाराहस्य च मांसस्य शेषो गच्छति फाल्गुने ॥"

द्वितीयो द्विधा समस्तजनजन्यः कतिपयजनजन्यश्च । तयोः प्रथमोऽनेकधा देशानां बहुत्वात् । तत्र दाक्षिणात्यः—

टिप्पणी—यहाँ मन्दरत और समरत में श्लेष है । क्रमशः उनका दूसरा श्लिष्ट अर्थ है 'मन्द रति' वाला और 'समान रति' वाला । कामसूत्र के अनुसार स्त्री मन्दरति वाले पुरुष का त्याग कर देती हैं तथा समरति वाले को चाहती है ।

लौकिक काव्य दो प्रकार के होते हैं : १. प्राकृत और २. व्युत्पन्न । इनमें से पहले अर्थात् प्राकृत का उदाहरण यह पद्य है—(नायिका नायक से विवाह के पूर्व की स्नेह-दशा का वर्णन करते हुए कह रही है—) हे प्रियतम ! उस समय दो भिन्न-भिन्न (वा विरोधी) घरों में रहते हुये भी हम लोगों के प्रेम की गांठ फूटे हुए घड़े के कपालों के समान जुड़ी हुई कितनी प्रशंसनीय थी । वे ही हम घर में साधारण मनुष्यों की भाँति रहने लगे । स्त्रियों के अपरिचित के प्रति प्रेम तथा चिर जीवन को धिक्कार है ।'

(इसमें गार्हस्थ्य जीवन की प्राकृतिक स्थिति का वर्णन है) ।

अथवा दूसरा उदाहरण लीजिये—ईख, मांड़, दही, पिष्टकृत्य (कचौरी, बड़े आदि) और शूकर का मांस ये सभी पदार्थ फाल्गुन आने पर समाप्त हो जाते हैं (भाव यह है कि जाड़े में सेवन योग्य इन गरिष्ठ पदार्थों का फाल्गुन में सेवन न करना चाहिये । कहीं-कहीं शेषो गच्छति के स्थान पर 'सैष गच्छति फाल्गुनः' पाठ है) ।

दूसरा (अर्थात् व्युत्पन्न) दो प्रकार का होता है : १. समस्तजनजन्य (अर्थात् किसी देश वा स्थान के समग्र मनुष्यों की प्रतिभा से प्रोद्भूत) तथा २. कतिपयजनजन्य (अर्थात् कुछेक की प्रतिभा से प्रोद्भूत) इनमें प्रथम तो

"पिबन्त्यास्वाद्य मरिचं ताम्बूलविशदैर्मुखैः ।
प्रियाधरावदंशानि मधूनि द्रविडाङ्गनाः ॥"

यथा वा—

"विरम मदन कस्त्वं चैत्र का शक्तिरिन्दो-
रिह हि कुसुमबाणाः कुण्ठिताग्राः स्खलन्ति ।
हृदयभुव इमास्ताः कुन्तलप्रेयसीनां
प्रहतिकिणकठोरग्रन्थयो वज्रसाराः ॥"

उदीच्यः—

"नेपाल्यो वल्लभैः सार्द्धमार्द्रैणमदमण्डनाः ।
ग्रन्थिपर्णकपालीषु नयन्ति ग्रीष्मयामिनीः ॥

देशों के बाहुल्य के कारण अनेक प्रकार का होता है। दाक्षिणात्य का उदाहरण यह है—

ताम्बूल खाने से स्वच्छ मुख वाली द्रविड़ देश की रमणियाँ मिर्च खाकर प्रियों के अधरों से उच्छिष्ट मदों का पान करती हैं (इस श्लोक में यह निर्दिष्ट किया गया है कि पान खाने से मदिरा का स्वाद नहीं आता अतः द्रविड़-नारियाँ मिर्च खाने के बाद मद-पान करती हैं) ।

कुन्तल देश के रमणियों का हृदय कामदेव के वाणों के प्रहार से व्रण-जन्य चिह्न वाला होने से वज्र के समान कठोर हो गया है अतः हे कामदेव ! रुको पुष्प वाण कुण्ठित होकर गिर जायेंगे, चैत्र ! तुम कौन हो (जो इनमें काम को प्रोद्दीप्त कर सको।) चन्द्र ! तेरी क्या शक्ति है अर्थात् तुझसे भी ये रमणियाँ प्रभावित नहीं होंगी) ।

(इस पद्य में कुन्तल देश की रमणियों पर कामादि के प्रयास की व्यर्थता वर्णित है) ।

उत्तरदेशीय लौकिक काव्य का उदाहरण—

'नेपाल देश की रमणियाँ आर्द्र कस्तूरी मद का लेप करके प्रियतमों के साथ ग्रन्थिपर्ण (एक वृक्ष विशेष) वृक्षों के कुञ्ज में गर्मी की रातें बिताती हैं।'

(इस उदाहरण में नेपाल देश की रमणियों का ग्रीष्मकालीन व्यवहार वर्णित है।)

द्वितीयः—

"मिथ्यामीलदरालपक्ष्माणि वलत्यन्तः कुरङ्गीदृशो
दीर्घापाङ्गसरित्तरङ्गतरले तल्पोन्मुखं चक्षुषि ।
पत्युः केलिमतः कथां विरमयन्नन्योन्यकण्डूयनात्
कोऽयं व्याहरतीत्युदीर्य निरगात्सव्याजमालीजनः ॥"

कविमनीषानिर्मितं कथातन्त्रमर्थमात्रं वा विरचना । तत्राद्या—

"अस्ति चित्रशिखो नाम खड्गविद्याधराधिपः ।
दक्षिणे मलयोत्सङ्गे रत्नवत्याः पुरः पतिः ॥
तस्य रत्नाकरसुता श्रियो देव्याः सहोदरी ।
स्वयंवरविधात्रासीत्कलत्रं चित्रसुन्दरी ॥"

द्वितीया—

"ज्योत्स्नां लिम्पति चन्दनेन स पुमान्सिञ्चत्यसौ मालती-
मालां गन्धजलैर्मधूनि कुरुते स्वादून्यसौ फाणितैः ।

दूसरे (अर्थात् कतिपयजनजन्य) का उदाहरण—(यहाँ कुछ सखियाँ किसी सखी के शयनागार में बातें कर रहीं थीं । उनकी बातों में विलम्ब देख कर गृहस्वामिनी झूठे ही नेत्रों को मूंदने लगी) उस मृगनयनी के नदी के समान तरल तरङ्ग तुल्य, अपाङ्गों वाली आँखों को शय्या की तरफ झुकते देख सखियाँ पति की केलि-कथा बन्दकर परस्पर एक दूसरी को खुजलाती हुई 'यह कौन बुला रहा है' ऐसा कहती हुई बहाना बनाकर निकल गयीं ।

(इस उदाहरण में कतिपय सखियों के व्यवहार की वर्णना है ।)

कविबुद्धि से निर्मित इतिवृत्त का कथातंत्र अथवा केवल अर्थ की विरचना संज्ञा है । इसमें आद्य (कवि-मनीषानिर्मित कथातंत्र का) उदाहरण यह है :

दक्षिण देश में मलय पर्वत की उपत्यका में स्थित रत्नवती नगरी के स्वामी का नाम चित्रशिख था । उसकी स्त्री का नाम चित्रसुन्दरी था, जो समुद्र से उत्पन्न तथा लक्ष्मी की सहोदरी थी और जिसे राजाने स्वयंवर में प्राप्त किया था ।

दूसरी (अर्थमात्ररूपा विरचना) का उदाहरण—जो व्यक्ति उस श्री वीर-

यस्तस्य प्रथितान्गुणात्प्रथयति श्रीवीरचूडामणे-
स्तारत्वं स च शाणया मृगयते मुक्ताफलानामपि ॥"

अत्राहुः—

"नीचैर्नार्थकथासर्गे यस्य न प्रतिभाक्षयः ।
स कविग्रामणीरत्र शेषास्तस्य कुटुम्बिनः ॥"

अभिहितेभ्यो यदन्यत्तत्प्रकीर्णकम् । तत्र हस्तिशिक्षीयः—

"मेघानां क्षणहासतामुपगतो हारः प्रकीर्णो दिशा-
माकाशोल्लसितामितामरवधूपीनस्तनास्फालकः ।
क्षुण्णश्चन्द्र इवोल्बणो मदवशादैरावणप्रेरितः
पायाद्वः परिपाकपाण्डुलवलीश्रीतस्करः शीकरः ॥"

चूडामणि के प्रसिद्ध गुणों का कथन करता है वह चन्द्रिका पर चन्दन का लेप करता है, मालती-पुष्प की माला को सुगन्धित जल से सींचता है, मीठे मधु को गुड़ से मीठा करता है और मोतियों को शाण पर रख कर और उज्ज्वल वनाना चाहता है ।

(इस श्लोक में कवि की राजाविषयक भावना व्यंजित है ।)

इस विषय में कहा भी है—जिस कवि की प्रतिभा का क्षय निम्न कोटि की कथा-रचना में नहीं होता वह कवियों में श्रेष्ठ है । (अथवा निम्न अर्थ तथा कथा की सृष्टि में जिस कवि का प्रतिभा-क्षय नहीं होता वह श्रेष्ठ कवि है) अन्य तो उसके कुटुम्वी जन हैं ।[1]

उपरि वर्णित अर्थ-स्रोतों के अतिरिक्त जो अन्य स्रोत हैं (और जिनका ऊपर निर्देश नहीं है) वे प्रकीर्ण हैं । उनमें हस्तिशिक्षा-सम्वन्धी पद्य यह है : मदवशाद् ऐरावत से प्रेरित जलकण आप लोगों को आनन्द दें । वे जल-कण क्षण भर के लिये मेघों के उपहास्य हुये, दिशाओं के विखरे हुए हार के सदृश, आकाश में आयी अगणित देवाङ्गनाओं के पुष्ट स्तनों से टकराये हुये क्षीण चन्द्र के समान श्वेत और पकने से पीली पड़ी लवली की शोभा को चुराने वाले हैं ।

---

१. गायकवाड़ सीरिज की प्रति में 'नीचैर्नार्थ कथासर्गे' पाठ है जो अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

रत्नपरीक्षीयः—

"द्वौ वज्रवर्णौ जगतीपतीनां सद्भिः प्रदिष्टौ न तु सार्वजन्यौ।
यः स्याज्जपाविद्रुमभङ्गशोणो यो वा हरिद्रारससन्निकाशः ॥"

धनुर्वेदीयः—

"स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥"

योगशास्त्रीयः—

"यः सर्वेषां हृदयकमले प्राणिनामेकहंस-
स्त्वं जागर्षि स्वपिषि च मुहुर्बुध्यसे नापि बुद्धः।
तं त्वाराध्य प्रविततधियो बन्धभेदं विधाय
ध्वस्तातङ्का विमलमहसस्ते भवन्तो भवन्ति ॥"

(यहाँ ऐरावत प्रेरित जलकण का मेघों की उपहासकता को प्राप्त होना आदि उसकी कुशलता को सूचित करते हैं।)

रत्न-परीक्षा-सम्बन्धी उदाहरण यह है—सज्जनों (रत्नपरीक्षकों) ने राजाओं के लिये दो रूप वाले वज्रों (मणियों-रत्नों) को निर्दिष्ट किया है और वे दोनों वज्रवर्ण (रत्नों के वर्ण) सामान्य जनों के लिये नहीं हैं। एक तो जपा और विद्रुम के टुकड़े के समान रक्तवर्ण और दूसरा हरिद्रा (हल्दी) के रंग का। (इस उदाहरण में रत्नों का चिह्न बताते हुये कहा गया है कि कौन रत्न राजा के उपयुक्त हैं।)

धनुर्वेद का उदाहरण यह है—उन भगवान् शङ्कर ने उस आत्मयोनि (कामदेव) को देखा जिसने मुट्ठी को दाहिने नेत्र के समीप बाँध रखी थी, कन्धे को नम्र किये था, बाँये पैर को समेटे था, सुन्दर धनुष को गोलाकार बनाये था और प्रहार के लिये उद्यत था (कुमार सम्भव ३.७०)। इस उदाहरण में धनुर्वेद की एक विशेष शिक्षा ग्रथित है जिसमें प्रहार के समय की धनुर्विशारद की मुद्रा चित्रित है।)

योगशास्त्रीय शिक्षा को प्रकटित करने वाला यह पद्य है : हे भगवन्! आप सभी जीवों के हृदयरूपी कमलों में एक हंस हो। आप ही जागते, सोते और बार-बार आते जाते हो। पर आज तक आप को किसी ने जान न पाया। वे दूरदर्शी विद्वान् आप की ही आराधना के द्वारा बन्धन के

एवं प्रकीर्णकान्तरमपि । उचितसंयोगः—

"पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥"

योक्तृसंयोगः—

"कुर्वद्भिः सुरदन्तिनो मधुलिहामस्वादु दानोदकं
तन्वानैर्नमुचिद्रुहो भगवतश्चक्षुः सहस्रव्यथाम् ।
मज्जन् स्वर्गतरङ्गिणी जलभरे पङ्कीकृते पांसुभि-
र्यद्यात्राव्यसनं निनिन्द विमनः स्वर्लोकनारीजनः ॥"

पाश को तोड़कर आतङ्क को छोड़कर निर्मल तेज प्राप्त कर आप का ही रूप धारण कर लेते हैं (अर्थात् आप को ही प्राप्त कर लेते हैं ।)

इसमें योगशास्त्रीय ध्यान और समाधि का वर्णन है ।

इसी प्रकार अन्यान्य प्रकीर्णक भी हैं । उचित-संयोग (काव्य में वर्णनीय पदार्थों के संयोग) का उदाहरण निम्नलिखित है :

इन्दुमती के स्वयंवर के प्रसङ्ग में पांडच देश के राजा का वर्णन है : कन्धे पर लटकते हुये हारवाला, हरिचन्दन के अङ्गराग से विभूषित यह पाण्डचदेश का अधिपति इस तरह शोभित हो रहा है जैसे प्रातःकालीन सूर्य की किरण से रञ्जित और झरनों के प्रवाह से सुशोभित हिमालय हो ।' (यहाँ पाण्डच नरेश का समुचित विशेषणों के आधार पर हिमालय से सादृश्य उचित प्रतीत होता है ।)[1]

योक्तृ (संयोजक) संयोग (अर्थात् उत्तरोत्तरसम्बन्धकारी संयोग) का उदाहरण यह है--स्वर्ग-ललनायें इस (राजा) की (युद्ध) यात्रा में अत्यन्त अन्यमनस्कता वा रुखाई से देखती हुई निंदा करती हैं क्योंकि (उनकी यात्रा में उड़ी धूल से) देवताओं के हाथियों से निकले मदजल गन्दे हो जाते हैं और भौंरों के लिये स्वाद-हीन हो जाते हैं; वे धूलें नमुचिशत्रु भगवान् इन्द्र की हजार आंखों में पड़कर उन्हें व्यथित करतो हैं; और स्वगंगा में स्नान करने पर उन धूलों के कारण पङ्क लग जाती हैं ।

(यहाँ यात्रा में धूल का उड़ना, उसका स्वगंगा के जल में गिरना,

---

१. रघुवंश ६.६०

उत्पाद्यसंयोगः—

"उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥"

संयोगविकारः—

"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता ।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुङ्कुमम् ॥"

यथा वा—

"उन्माद्यत्यम्बुराशिर्विदलति कुमुदं सङ्कुचन्त्यम्बुजानि
स्यन्दन्ते चन्द्रकान्ताः पतितसुमनसः सन्ति शेफालिकाश्च ।
पीयन्ते चन्द्रिकाम्भः क्रमसरलगलं किं च किञ्चिच्चकोरा-
श्चन्द्रे कर्पूरगौरद्युतिभृति नभसो याति चूडामणित्वम् ॥"

तत्कारणवश उस जल में स्नान करने वालों की अन्यमनस्कता और फिर निन्दा इत्यादि परस्पर (उत्तरोत्तर) संबंधित हैं ।)

उत्पाद्यसंयोग (उपमानोपमेयादि संबन्ध) का उदाहरण—स्वर्ग गंगा के जल यदि व्योम में दो धाराओं में वहें तो उससे तमाल वृक्ष के समान नील श्रीकृष्ण की उपमा दी जा सकती है जिन्होंने वक्ष पर मुक्ता की लता (मुक्तामाला) धारण की है ।[1]

(यहाँ आकाश तथा वक्ष एवं मुक्तालता तथा स्वर्गंगा का उपमानोपमेय-भाव संभावित है अतः यहाँ संयोग उत्पाद्य है) ।

संयोग-विकार (अर्थात् संयोगजन्य विकार) का उदाहरण—गुण तथा अनुराग से मिश्रित बढ़ने वाले तेरे यश से दिग्वधुओं के मुखों पर अर्धकुंकुम का निशान लग गया । (गुण का रंग श्वेत और अनुराग का लाल है; दोनों मिलकर अर्ध कुंकुम के रंग के हो गये—न लाल न सफेद ।)

अथवा—कर्पूर के समान गौर चन्द्रमा के आकाश के बीच में जाने पर समुद्र की जलराशि उफनने लगती है, कुमुद विकसित हो जाते हैं, कमल वन्द हो जाते हैं, चन्द्रकान्त मणियाँ स्रवित होने लगती हैं; शेफालिका के

---

१. माघ ३. ८

इदं कविभ्यः कथितमर्थोत्पत्तिपरायणम् ।
इह प्रगल्भमानस्य न जात्वर्थकदर्थना ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे (अर्थानुशासने) षोडश काव्यार्थयोनयः अष्टमोऽध्यायः ॥

————

पुष्प गिर जाते हैं, और चकोर क्रमशः स्वच्छ चन्द्रकिरणों के जल को पीते हैं। (इस उदाहरण में चन्द्रोदय से जन्य तत्तत्पदार्थों के विकारों का वर्णन है।)

इस अध्याय में कवियों के लिये अर्थोत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इसमें निपुण कवि की अर्थविषयिका निन्दा नहीं होती।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में (अर्थानुशासन में) षोडश काव्यार्थ-योनि नामक आठवाँ अध्याय समाप्त

————

नवमोऽध्यायः

९ अर्थानुशासनम् (अर्थव्याप्तिः)

"स त्रिधा" इति द्रौहिणिः; दिव्यो, दिव्यमानुषो, मानुषश्च। "सप्तधा" इति यायावरीयः; पातालीयो, मर्त्यपातालीयो, दिव्यपातालीयो, दिव्यमर्त्यपातालीयश्च। तत्र दिव्यः—

"स्मृत्वा यन्निजचारवासगतया वीणासमं तुम्बुरो-
रुद्गीतं नलकूबरस्य विरहादुत्कञ्चुलं रम्भया।
तेनैरावणकर्णचापलमुषा शक्रोऽपि निद्रां जहद्
भूयः कारित एव हासिनि शचीवक्त्रे दृशां सम्भ्रमम्॥"

आचार्य द्रौहिणि के अनुसार अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—१. दिव्य २. दिव्यमानुष और ३. मानुष। किंतु ग्रंथकर्ता राजशेखर के अनुसार वे सात प्रकार के होते हैं: (जिनमें उपर्युक्त ३ के अतिरिक्त अन्य ४ ये हैं—) ४. पातालीय, ५. मर्त्यपातालीय, ६. दिव्यपातालीय, और ७. दिव्यमर्त्यपातालीय। दिव्य का उदाहरण निम्नलिखित है—

अपने संके-स्थल में गयी रम्भा नाम की अप्सरा नलकूवर के वियोग में उनका स्मरण करके, रोमाञ्च के कारण उठी हुई कञ्चुकी वाली होकर तुम्बुरु की (कलावती नामक) वीणा के समान गाने लगी। उस गान-शब्द से इन्द्र-गज ऐरावत ने अपना कान हिलाना वन्द कर दिया तथा इन्द्र की नींद टूट गयी और उन्होंने हास्य-युक्त शची-मुख पर बार-बार दृष्टि फेरी।[१]

(यहाँ अर्थ रम्भा तथा नलकूबरादि दिव्य पात्रों पर आश्रित है अतः यह दिव्य अर्थ का उदाहरण है।)

टिप्पणी—वैजयन्ती में तुम्बुरु की वीणा का नाम कलावती बताया गया है—

विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती।
महती नारदस्य स्यात्सरस्वत्यास्तु कच्छपी॥

---

१. उत्कञ्चुकं रम्भया के स्थान पर काव्यानुशासनविवेक में 'उत्कण्ठसंरम्भया' पाठ है।

दिव्यमानुषस्तु चतुर्द्धा। दिव्यस्य मर्त्यागमने, मर्त्यस्य च स्वर्गगमन इत्येको भेदः। दिव्यस्य मर्त्यभावे, मर्त्यस्य च दिव्यभाव इति द्वितीयः। दिव्येतिवृत्तपरिकल्पनया तृतीयः। प्रभावाविर्भूतदिव्यरूपतया चतुर्थः।

तत्र दिव्यस्य मर्त्यागमनम्—

"श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः॥"

मर्त्यस्य स्वर्गगमनम्—

"पाण्डोर्नन्दन नन्दनं वनमिदं सङ्कल्पजैः शीधुभिः
क्लृप्तापानककेलिकल्पतरुषु द्वन्द्वैः सुधालेहिनाम्।
अप्यत्रेन्दुशिलालवालवलयं सन्तानकानां तले
ज्योत्स्नासंगलदच्छनिर्झरजलैर्यत्नं विना पूर्यते॥"

दिव्यमानुष अर्थ के चार प्रकार होते हैं—१. दिव्यपुरुष के मर्त्यलोक में आने तथा मर्त्य से स्वर्गलोक में जाने पर २. दिव्यपुरुष के मनुष्य हो जाने तथा मनुष्य के दिव्य (देवता) हो जाने पर; ३. अदिव्य (मनुष्य) की दिव्य सम्बन्धी कथा की कल्पना पर और ४. मनुष्य का अपने तेज के माहात्म्य से दिव्यत्व प्रकट करने पर।

उनमें दिव्य पुरुष के मर्त्यलोक में आगमन का उदाहरण यह है:

"संसार को शासित करने के लिए श्रीयुक्त वसुदेव-गृह में रहते हुए जगत् के निवासभूत लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण ने (एक वार) आकाश से उतरते हुए ब्रह्मा जी के पुत्र नारद मुनि को देखा।" माघ : १. १

(यहाँ दिव्यपुरुष नारद जी के मर्त्यागमन होने से दिव्य का उदाहरण है)

मर्त्य (मानव) के स्वर्गगमन का उदाहरण यह है—'हे पाण्डुपुत्र अर्जुन! यह नन्दन वन है, इस वन में कल्पवृक्षों के नीचे देवताओं की जोड़ियाँ इच्छानुसार प्राप्त मधु का पान कर केलियाँ करती हैं और इस वन में सन्तानक वृक्षों के नीचे (उनके) आलवाल (क्यारियाँ, थाले) चन्द्रकान्त मणियों से निर्मित हैं, जो चाँदनी के पड़ते ही स्वच्छ निकलने वाले जलों से विना प्रयत्न के ही भर जाते हैं।"

(यहाँ मर्त्य अर्जुन के स्वर्ग में जाने पर वहाँ का वर्णन है)

"दिव्यस्य मर्त्यभावः—

इति विकसति तस्मिन्नन्ववाये यदूनां
समजनि वसुदेवो देवकी यत्कलत्रम् ।
किमपरमथ तस्मात्षोडशस्त्रीसहस्र-
प्रणिहितपरिरम्भः पद्मनाभो बभूव ॥"

मर्त्यस्य दिव्यभावः—

"आकाशयानतटकोटिकृतैकपादा-
स्तद्धेमदण्डयुगलान्यवलम्ब्य हस्तैः ।
कौतूहलात्तव तरङ्गविघट्टितानि
पश्यन्ति देवि मनुजाः स्वकलेवराणि ॥"

दिव्येतिवृत्तपरिकल्पना—

"ज्योत्स्नापूरप्रसरविशदे सैकतेऽस्मिन्सरय्वा
वादद्यूतं चिरतरमभूत्सिद्धयूनोः कयोश्चित् ।
एको ब्रूते प्रथमनिहतं कैटभं कंसमन्यः
स त्वं तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम् ॥"

दिव्य (देवता) के मनुष्य होने का उदाहरण यह है—

इस प्रकार उस यदुओं के वंश के विस्तृत होने पर उस वंश में वसुदेव उत्पन्न हुये जिनकी स्त्री देवकी थीं। उन देवकी-वसुदेव से सोलह हजार स्त्रियों के साथ विहार करने वाले पद्मनाभ विष्णु उत्पन्न हुये।

(इस उदाहरण में विष्णु भगवान् के मानव होने का वर्णन है।)

मर्त्य (मरणशील प्राणी) के दिव्य भाव की कल्पना का उदाहरण यह है—(कवि गंगा की स्तुति करते हुए कह रहा है कि हे देवि ! गंगे ! तुम्हारे तीर पर हुई मृत्यु के पुण्य से)—हे देवि ! मनुष्य स्वर्ग-विमानों की सीढ़ियों पर एक पैर रख कर और हाथों से उस विमान के दोनों स्वर्ण-दण्डों को पकड़कर तुम्हारी तरङ्गों से आलोडित अपने शरीरों को कुतूहल से देखते हैं।

(यहाँ मर्त्य गंगाजल में पड़े अपने मृत शरीर के पुण्य से दिव्यत्व को प्राप्त हुआ है।)

(दिव्य आख्यान की कल्पना का उदाहरण यह है—(कोई कवि राजा की प्रशंसा करते-करते भगवान् बना देता है और कहता है—) प्रभो ! विस्तृत चन्द्र-किरणों से पूर्ण इस सरयू नदी के रेतीले तट पर किन्हीं दो सिद्ध-

प्रभावाविर्भूतदिव्यभावः—

"मा गाः पातालमुर्वि स्फुरसि किमपरं पाट्यमानः कुदैत्य !
त्रैलोक्यं पादपीतप्रथिम, नहि बले ! पूरयस्यूनमङ्घ्रेः ।
इत्युत्स्वप्नायमाने भुवनभृति शिशावङ्कसुप्ते यशोदा
पायाच्चक्राङ्कपादप्रणतिपुलकितस्मेरगण्डस्थला वः ॥"

मर्त्यः—

"वधूः श्वश्रूस्थाने व्यवहरति पुत्रः पितृपदे
पदे रिक्ते रिक्ते विनिहितपदार्थान्तरमिति ।
नदीस्रोतोन्यायादकलितविवेकक्रमघनं
न च प्रत्यावृत्तिः प्रवहति जगत्पूर्णमथ च ॥"

युवकों में वाद-विवाद होता रहा । उनमें से एक कहता था कि (विष्णु के द्वारा) पहले कैटभ मारा गया और दूसरा कहता था कि कंस मारा गया अतः अब आप ही बताइये कि दोनों में पहले कौन मारा गया ।'

(इस उदाहरण 'स त्वम्' इन दो पदों के द्वारा कैटभ तथा कंस को मारने वाले भगवान् विष्णु के दिव्य कथानक को राजा पर कल्पित किया गया है ।)

प्रभावाविर्भूत दिव्य भाव का उदाहरण यह है—"पृथ्वी ! तुम पाताल में न धँसो, हे राक्षस (हिरण्यकशिपु) ! फाड़ा जाता हुआ भी क्यों फड़-फड़ा रहा है । हे बलि ! त्रैलोक्य का विस्तार तो एक चरण से ही नाप दिया गया, तुम पद के लिये कम पड़े स्थान को पूरा नहीं कर सकते । संसार का भरण करने वाले पुत्र कृष्ण के अङ्क में सोकर इस प्रकार बड़-बड़ाने पर चक्राङ्कित पदों में प्रणाम करने से पुलकिता स्मितवदना (मुस्कराती हुई) यशोदा आपलोगों की रक्षा करें ।

यहाँ यशोदा की गोद में सोये भगवान् श्रीकृष्ण अपने नृसिह और वामन अवतार के चरित्रों का स्मरण कर रहे हैं ।

जो (आज) वधू है वही सास के स्थान पर काम करती है; जो पुत्र है वही पिता बन जाता है । एक स्थान ज्यों ही रिक्त होता है उस पर दूसरा चला आता है । इस संसार का क्रम नदी के स्रोत के समान है, इसका विस्तार अतर्कनीय है । इसके बह जाने पर (नदी की धार की तरह) फिर पुनरावर्तन नहीं होता । यह संसार पूर्ण रहता है ।'

पातालीयः----

"कर्कोटः कोटिकृत्वः प्रणमति पुरतस्तक्षके देहि चक्षुः
सज्जः सेवाञ्जलिस्ते कपिलकुलिकयोः स्तौति च स्वस्तिकस्त्वाम् ।
पद्मः सद्मैष भक्तेरवलगति पुरः कम्बलोऽयं बलोऽयं
सोत्सर्पः सर्पराजो व्रजतु निजगृहं प्रेष्यतां शङ्खपालः ॥"

मर्त्यपातालीयः----

"आर्द्रविले ! व्रज न वेत्स्यपकर्ण ! कर्ण
द्विः संदधाति न शरं हरशिष्यशिष्यः ।
तत्साम्प्रतं समिति पश्य कुतूहलेन
मर्त्यैः शरैरपि किरीटिकिरीटमाथम् ॥

(इसमें मानवों की सामान्य गति का वर्णन है ।)

पातालीय उदाहरण निम्नलिखित है—

(प्रभो !) यह कर्कोटनाग करोड़ों बार प्रणाम करता है, सामने तक्षक नाग पड़ा है, उस पर दृष्टि-निक्षेप कीजिये, कपिल और कुलिक नाग सेवा में हाथ जोड़े खड़े हैं, स्वस्तिक नाग आप की स्तुति कर रहा है, यह पद्म नाग आप की भक्ति का निवास है, सामने बलवान् कम्बल नाग पड़ा है, सर्पराज वासुकि उठ कर अपने घर जांय और शङ्खपाल को भी भेज दीजिये ।'

(इस पूरे पद्य में पाताल-लोकनिवासी सर्पों का ही उल्लेख है ।

मर्त्य-पातालीय का उदाहरण—

(महाभारत युद्ध में कर्ण और अर्जुन के युद्ध के समय कर्ण ने जब वाण का सन्धान किया तो अर्जुन-द्वेषी एक सर्प भी उस बाण पर आरूढ हो गया, पर भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से सफल न हो सका । असफल होने पर वह दुवारा कर्ण के पास आकर सन्धान करने के लिये कहने लगा । उसी से कर्ण का यह उत्तर है—) "हे आर्द्रावलि ! तू चला जा । हे कान-रहित सर्प ! तू यह नहीं जानता कि शङ्कर-शिष्य (परशुराम) का शिष्य कर्ण दुवारा बाण नहीं चढ़ाता ? अब तू कुतूहल के साथ मानव के बाणों से अर्जुन का किरीट गिरते देख ।"

(यहाँ पातालीय सर्प तथा मर्त्य कर्ण का वर्णन है ।)

इहापि पूर्ववत्समस्तमिश्रभेदानुगमः ।

दिव्यपातालीयः- --

"स पातु वो यस्य शिखाश्मकर्णिकं स्वदेहनालं फणपत्रसञ्चयम् ।
विभाति जिह्वायुगलोलकेसरं पिनाकिनः कर्णभुजङ्गपङ्कजम् ।।"

स्वर्गमर्त्यपातालीयः----

आस्तीकोऽस्ति मुनिः स्म विस्मयकृतः पारीक्षितीयान्मखा-
त्त्राता तक्षकलक्ष्मणः फणभृतां वंशस्य शक्रस्य च ।
उद्वेल्लन्मलयाद्रिचन्दनलतास्वान्दोलनप्रक्रमे
यस्याद्यापि सविभ्रमं फणिवधूवृन्दैर्यशो गीयते ।।"

यह भी (अर्थात् मर्त्य-पातालीय में) पहले (दिव्यमानुष) की भाँति सम्पूर्ण मिश्र तथा भेदों को समझना चाहिये (इस प्रकार इसके चार भेद हुये—१. मर्त्य के पाताल जाने तथा पातालीय प्राणी के मर्त्यलोक में आने पर २. मर्त्य के पातालीय तथा पातालीय के मर्त्य होने पर ३. मर्त्य-इतिवृत्त की कल्पना होने पर तथा ४. पातालीय होने पर भी प्रभाववश मर्त्यरूप के आविर्भाव पर)

दिव्य-पातालीय का उदाहरण—वे भगवान् पिनाकधारी शङ्कर ! आप लोगों की रक्षा करें जिनके सर्प ही कमल के स्थान पर कर्णभूषण हैं, इन सर्पों के सिर की मणियाँ ही इन कमलों की कर्णिकायें हैं, इन सर्पों की देह ही नाल के समान है, फण ही पत्र-समूह है और चञ्चल जिह्वायुगल केसर है ।

(इस पद्य में 'पिनाकी' दिव्य-प्राणी तथा सर्प पातालीय है यहाँ अतः इसमें दिव्य पातालीय का लक्षण घटित होता है) ।

दिव्य मर्त्य-पातालीय का उदाहरण—परीक्षित-पुत्र जनमेजय के आश्चर्यकारी यज्ञ (सर्प-सत्र) से सर्पों के तक्षक के वंश तथा देवराज इन्द्र की रक्षा करनेवाले आस्तीक नाम के मुनि थे । उन आस्तीक मुनि की आज भी सर्पाङ्गनायें मलय पर्वत की चन्दनलताओं के झूले को झुलाती हुई विस्मय के साथ यशोगान किया करती हैं ।'

(यहां शक्र, आस्तीक मुनि तथा तक्षक इत्यादि क्रमशः दिव्य, मर्त्य तथा पातालीय हैं ।)

सोऽयमित्थङ्कारमुल्लिख्योपजीव्यमानो निःसीमोर्थसार्थः सम्पद्यते इत्याचार्याः। "अस्तु नाम निःसीमोर्थसार्थः। किन्तु द्विरूप एवासौ विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयश्च। तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि" इत्यौद्भटाः।

यथा—

"अपां लङ्घयितुं राशिं रुचा पिञ्जरयन्नभः।
खमुत्पपात हनुमान्नीलोत्पलदलद्युतिम्॥"

यथा वा—

"त आकाशमसिश्याममुत्पत्य परमर्षयः।
आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः॥"

"इस प्रकार उपरि लिखित क्रम से उद्भूत तथा कवियों से सेवित अर्थ-समूह निःसीम है। ऐसा आचार्यों का कथन है। ठीक है, अर्थ निस्सीम ही हैं। किन्तु (आचार्यों का मत मानने पर भी मुख्यतः) अर्थ-समूह दो प्रकार का ही है—१. विचारित सुस्थ (विचार कर स्थिर) और २. अविचारित रमणीय (अविचारित होने पर भी रमणीय)। इनमें पहला (अर्थात् सुविचारित सुस्थ) पर आश्रित (दर्शन) शास्त्रादि है तथा दूसरे (अविचारित रमणीय) काव्य है" यह उद्भट के अनुयायियों का विचार है। जैसे—

'नील कमल-दल की समान कान्ति वाले आकाश को हनुमान् जी अपनी दीप्ति से पीत-वर्ण करते हुये जलराशि (समुद्र) को लांघने के लिये आसमान में उछल पड़े।'

(यहां नीलोत्पलदल के समान रंग वाले आकाश को पिञ्जरित करना रमणीय प्रतीत होता है। परन्तु यह रमणीयता अवचारित है क्योंकि विचार करने पर इसका लोप हो जाता है। गुण अवयववान् द्रव्य पर ही आश्रित होते हैं पर आकाश निरवय पदार्थ है अतः गुण (नीलगुण) का उसमें अभाव है, यह विचार आते ही इस पद्य की रमणीयता लुप्त हो जाती है।)

अथवा—

'मन के समान वेगवाले वे परमर्षि तलवार के समान श्याम वर्ण के आकाश में उड़कर औषधिप्रस्थ (हिमालय) पर पहुँचे।'[1]

---

१. कुमारसंभव ६.३६

यथा च—

"तदेव वारि सिन्धूनां महत्स्थेमार्चिषामिति" इत्यादि ॥

"न स्वरूपनिबन्धनमिदं रूपमाकाशस्य सरित्सलिलादेर्वा किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम्। न च प्रतिभासस्तादात्म्येन वस्तुन्यवतिष्ठते, यदि तथा स्यात्सूर्याचन्द्रमसोर्मण्डलेन दृष्ट्या परिच्छिद्यमानद्वादशाङ्गुलप्रमाणे पुराणाद्यागमनिवेदितधरावलयमात्रे न स्तः इति यायावरीयः। एवं नक्षत्रादीनां सरित्सलिलादीनामन्येषां च। यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबन्धोपयोगि। शास्त्रे यथा—

"प्रशान्तजलभृत्पङ्के विमले वियदम्भसि।
ताराकुमुदसम्बन्धे हंसायत इवोडुराट्॥"

(यहां भी 'असि-श्याम' पूर्व पद्य की तरह अविचारित रमणीय है।) और भी—वही नदियों का जल तेज का महान् स्थान है।

राजशेखर कहते हैं कि 'आकाश तथा नदी-जलादि का यह (उपरिवर्णित) रूप (सौन्दर्य) स्वरूप-कथन नहीं है अपितु इनमें प्रतिभास (वैसा आभास) ही कारण है। प्रतिभास किसी वस्तु में वास्तविक रूप से नहीं रहता। यदि वह वास्तविक रूप से पदार्थ में रहता तो दृष्टि-परिच्छिन्न होने के कारण बारह अगुल के प्रतिभासित होने वाले सूर्य-चन्द्र के मण्डल पुराण तथा आगमों में वर्णित पृथ्वी के गोले के समान न होते (आशय यह है कि पुराणादि के अनुसार सूर्य-चन्द्र-मण्डल पृथ्वी-परिणाम के हैं पर दिखायी तो बारह अंगुल के ही पड़ते हैं। अब यदि प्रतिभासित पदार्थ ही यथार्थ हों तो सूर्य भी बारह अंगुल के ही होंगे पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है।) इसी प्रकार नक्षत्र तथा नदियों के जल आदि के विषय में भी समझना चाहिये। (प्रतिभास अयथार्थ होता है तथापि—) प्रतिभास के अनुसार वस्तु के स्वरूप का कथन शास्त्र तथा काव्य दोनों के लिए उपयोगी है। शास्त्र में ऐसे वर्णन का उदाहरण लीजिये—

'मेघरूपी पङ्क से रहित आकाश रूपी विमल जल में तारारूपी कुमुदों से युक्त नक्षत्रपति चन्द्रमा हंस के समान दिखायी पड़ता है।'

काव्यानि पुनरेतन्मयान्येव । "अस्तु नाम निःसीमार्थ-सार्थः । किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य" इति आपराजितिः । यदाह—

"मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह ।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसाद्यन्वितं रचयेत् ॥
यस्तु सरिदद्रिसागरपुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः ।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह ॥"

'आम्' इति यायावरीयः । अस्ति चानुभूयमानो रसस्यानुगुणो विगुणश्चार्थः, काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेदमुपलभ्यते । तत्र सरिद्वर्णनरसवत्ता—

फिर काव्य तो इन्हीं से युक्त होते ही हैं अर्थात् अविचारित रमणीय होते हैं । आपराजिति[1] नामक आचार्य के अनुसार 'अर्थ-समूह भले ही निस्सीम हो किन्तु रसवान् अर्थ समूह का निबन्धन ही उपयुक्त है; नीरस का नहीं ।' जैसा कि कहा है—

'स्नान, पुष्प-चयन, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि वचनों की रचना सरस होने पर भी अत्यधिक न होनी चाहिये तथा उनकी प्रकृत रस (प्रसङ्गादि के अनुकूल) रचना होनी चाहिये ।'

'जो कवियों का नदी, पहाड़ समुद्र, नगर, अश्व, रथ आदि के वर्णन का प्रयास है उसका फल कवि की शक्ति की प्रसिद्धि मात्र है अतः वह विस्तृत बुद्धिवालों को सम्मत नहीं ।"

राजशेखर इस विषय में अपने मत का उपन्यास करते हुये कह रहे हैं— 'ठीक है । किन्तु यह भी अनुभव किया जाता है कि अर्थ रस के अनुकूल और प्रतिकूल भी हुआ करता है । काव्य में कवि-वचन ही सरसता वा वैरस्य के उत्पादक होते हैं, अर्थ नहीं । इसका अनुभव अन्वयव्यतिरेक से किया जा

---

१. आपराजिति सम्भवतः लोल्लट का नाम था । जिन पद्यों का हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में लोल्लट के नाम से उल्लेख किया है उन्हीं का राजशेखर ने आपराजिति के नाम से निर्देश किया है । अतः प्रतीत होता है कि लोल्लट के पिता का नाम अपराजित था । विशेष के लिये द्रष्टव्य, पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, खण्ड १ पृ० ३४; खण्ड २, पृ० ५३

"एतां विलोकय तलोदरि ताम्रपर्णी-
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि ।
यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥"

अद्रिवर्णनरसवत्ता—

"एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षि ! रोधोभुव-
श्चापाभ्यासनिकेतनं भगवतः प्रेयो मनोजन्मनः ।
यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिकाः
पीयन्ते विवृतोर्ध्वचञ्चु विचलत्कण्ठं चकोराङ्गनाः ॥"

सागरवर्णनरसवत्ता—

"धत्ते यत्किलकिञ्चितैकगुरुतामेणीदृशां वारुणी
वैधुर्यं विदधाति दम्पतिरुषां यच्चन्द्रिकार्द्रं नभः ।

सकता है (भाव यह है कि प्रतिभाशाली कवि तुच्छ अर्थ को भी सरस बना देता है और इसके विपरीत सरस अर्थ को भी प्रतिभाहीन कवि विरस बना देता है ।) नदी-वर्णन की सरसता का उदाहरण लीजिये—

हे कृशोदरि ! समुद्र में गिरती इस ताम्रपर्णी नदी को देखो 'जिसके सीपियों से निकले जलकण कुटिल भृकुटियों वाली सुन्दरियों के विशाल स्तनों पर हार रूप में सुशोभित हैं ।'

(इस उदाहरण में श्रृङ्गार-रसोद्दीपन विभाव का चमत्कार है ।) पर्वत के वर्णन में रसवत्ता का उदाहरण लीजिये—

(यह किसी प्रेमी की अपनी प्रेयसी के प्रति उक्ति है) हे मृगनयने ! ये मलय पर्वत के समीप वहने वाली नदियों के तटप्रदेश हैं जो मनोजन्मा भगवान् कामदेव के धनुष-अभ्यास के प्रिय स्थान हैं । इन तट-भूमियों पर काली रातों में अन्धकार का पान करके चकोराङ्गनायें चञ्चल कण्ठ से चोंचों को ऊपर करके मुक्तामणि के तुल्य चांदनी को पीती हैं ।'

(यहां भी पूर्वोक्त उदाहरण की भाँति पर्वत का श्रृंगाररसोद्दीपन विभाव के रूप में वर्णन है ।)

समुद्र-वर्णन की रसवत्ता का उदाहरण देखिये—

मदिरा, जो अभीष्ट वस्तु (प्रियतमादि) के समागम से मृगलोचनी स्त्रियों के गुरु के पद पर अधिष्ठित है (अर्थात् उन्हें नाना प्रकार की काम चेष्टाओं को

यच्च स्वर्गसदां वयः स्मरसुहृन्नित्यं सदा सम्पदां
यल्लक्ष्मीरधिदैवतं च जलधेस्तत्कान्तमाचेष्टितम् ॥"

एवं पुरतुरगादिवर्णनरसवत्तापि । विप्रलम्भेप्यतिरसवत्ता—

"विधर्माणो भावास्तदुपहितवृत्तेर्न धृतये
सरूपत्वादन्ये विहितविफलौत्सुक्यविरसाः ।
ततः स्वेच्छं पूर्वैर्व्यसजदितरेभ्यः प्रतिहतं
क्व हीनं प्रेयस्या हृदयमिदमन्यत्र रमताम् ॥"

कुकविर्विप्रलम्भेऽपि रसवत्तां निरस्यति ।
अस्तु वस्तुषु मा वा भूत्कविवाचि रसः स्थितः ॥

शिक्षा देती है),[1] चन्द्रिका से सिक्त आकाश जो (प्रणयकलह से) रुष्ट दम्पतियों के क्रोध को शमित करता है, देवताओं की जो त्रिकाल में कामोपयोगी समान अवस्था (यौवन) बनी रहती है तथा सम्पत्तियों की जो अधीश्वरी लक्ष्मी हैं—ये सभी पदार्थ की कमनीय चेष्टाये हैं (अर्थात् ये सभी वस्तुयें सागर से उत्पन्न हैं)[2] ।

इसी प्रकार नगर, अश्वादि के वर्णन में भी रसवत्ता होती है । वियोग में भी अत्यन्त रमणीयता होती है ।

इस पद्य में किसी वियोग नामक की मनोदशा का वर्णन है—उस नायिका में चित्त को लगाये उस नायक के लिये उस नायिका के विरोधी भाव धैर्य को छुड़ाने वाले हैं और सधर्मी भाव औत्सुक्य-फल को विफल करने के कारण वैरस्य जनक हैं । अतः पहले अर्थात् विरोधी से तो स्वेच्छया विरत है और सहयोगी से दुःखाधिक्य होने के कारण विरत वियोगी का हृदय कहाँ अन्यत्र रम (अर्थात् उसके लिये तो सभी पदार्थ (पीड़ाकारक हो गये हैं) ।

(इस विषय में राजशेखर का सिद्धान्त यह है कि रस वस्तुतः पदार्थ में न होकर कवि-वचन में रहता है । यह सुकवि का माहात्म्य है कि वह निरस पदार्थ को भी सरस बना दे । इसी का उपन्यास करते हुए कह रहे हैं—)

(विप्रलम्भ के इस प्रकार सरस होने पर भी——) असत्कवि विप्रलम्भ से भी रसवत्ता को निकाल देता है । बात यह है कि वस्तु में रस हो या नहीं किन्तु वह तो कवि-वचन में है ही ।'

---

१. किलकिञ्चित का लक्षण निम्नलिखित है—

स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम ।
साङ्कर्यं किलकिञ्चितमभीष्टतमसंगमादिजाद्धर्षात् ॥

२. बाल रामायण १०. ४४

"यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं, वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते" इति पाल्यकीर्त्तिः।

"येषां वल्लभया समं क्षणमिव स्फारा क्षपा क्षीयते
तेषां शीततरः शशी विरहिणामुल्केव सन्तापकृत्।
अस्माकं न तु वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिना-
मिन्दू राजति दर्पणाकृतिरयं नोष्णो न वा शीतलः॥"
"विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम्"

इति अवन्तिसुन्दरी। तदाह—

"वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये।
स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्त्तः॥"

इस विषय में जैन आचार्य पाल्यकीर्ति[1] का मत है कि वस्तु का रूप चाहे जैसा भी हो किन्तु रसवत्ता तो वक्ता की प्रकृति विशेष पर आधृत होती है। उदाहरणार्थ जिस पदार्थ की अनुरागी स्तुति करता है उसी की विरक्त निन्दा करता है और मध्यस्थ उदासीन रहता है।

किसी तटस्थ व्यक्ति की यह उक्ति है—"जिन पुरुषों की प्रिया के साथ होने पर दीर्घ रातें भी क्षण के समान व्यतीत हो जाती हैं उन्हीं व्यक्तियों के वियोग की अवस्था में ठण्ढा भी चन्द्रमा उल्का के समान ताप-दायक होता है। पर हमें तो न प्रिया है न वियोग अतः दोनों से हीन मुझे यह चन्द्रमा दर्पण के समान सुशोभित प्रतीत हो रहा है और न गर्म है न सर्द।"

(यहाँ राजशेखर अपनी स्त्री अवन्तिसुन्दरी के मत को दर्शाते हुये कहते हैं कि) अवन्तिसुन्दरी की सम्मति में "वस्तु का एक निश्चित स्वभाव नहीं होता, वस्तु का रूप तो चतुर-कवि की प्रतिपादन-शैली पर आधृत होता है।" अर्थात् विदग्धकवि सरस को नीरस और नीरस को सरस बना देता है। इस विषय में कहा भी गया है—

काव्य में वस्तु का स्वभाव स्वाधीन होता है गुणावगुण तो उसमें कवि

---

१. पाल्यकीर्ति के जैन होने का समर्थन निम्नलिखित श्लोकों से होता है—
(i) मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्तिं जिनेश्वरम्॥ —प्रक्रियासंग्रह
(ii) कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः॥ पार्श्वनाथ चरित

"उभयमुपपन्नम्" इति यायावरीयः। स पुनर्द्विधा। मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन। तावपि प्रत्येकं पञ्चधा। शुद्धः, चित्रः, कथोत्थः, संविधानकभूः, आख्यानकवांश्च। तत्र मुक्तेतिवृत्तः शुद्धः। स एव सप्रपञ्चश्चित्रः। वृत्तेतिवृत्तः कथोत्थः। सम्भावितेतिवृत्तः संविधानकभूः। परिकल्पितेतिवृत्तः। आख्यानकवान्। तत्र।

मुक्तके—शुद्धः—

"सा पत्युः प्रथमापराधकरणे शिक्षोपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलना वक्रोक्तिचित्रां गतिम्।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलोदकैरश्रुभिः।"

की उक्ति के कारण आ जाते हैं। चन्द्रमा की स्तुति करने वाला उसे 'अमृतांशु' कहता है और उसकी निन्दा करनेवाला धूर्त व्यक्ति उसे 'दोषाकर' कहता है।'

राजशेखर कहते हैं कि (पाल्यकीर्ति तथा अवन्तिसुन्दरी) दोनों की बातें ठीक हैं। पुनः वह (दिव्यादि) सात प्रकार का अर्थ दो प्रकार का है। यह विभाजन मुक्तक तथा प्रबन्ध की दृष्टि है अर्थात् वह दो प्रकार का हैं १. मुक्तक और २. प्रबन्ध। इनमें से प्रत्येक के पाँच प्रकार हैं—१.शुद्ध, २. चित्र, ३. कथोत्थ, ४. संविधानकभूः और ५. आख्यानकवान्। इनमें जिसमें इतिवृत्त न हो वह शुद्ध है। वही सविस्तर होने पर चित्र है। जिसमें इतिवृत्त हो उसे कथोत्थ कहा जाता है। संभावित घटना वाले को संविधानकभूः कहते हैं और जिसमें इतिवृत्त की रचना परिकल्पित हो उसे आख्यानकवान् कहते हैं।

उन अर्थों में मुक्तक में शुद्ध का उदाहरण यह है—[कोई सखी अपनी सखी से किसी नवोढा सखी का वृत्तान्त कह रही है]—'सखि ! वह नवोढ़ा पति के द्वारा (पर-स्त्री-रमण-रूप) पहले अपराध के करने पर उपदेश तथा सीख के अभाव में कटाक्ष के साथ अङ्ग-सञ्चालन तथा वक्रोक्ति के साथ तिरछी चाल को नहीं जानती। विस्तृत नेत्र कमलों वाली वह नायिका आखों से निकले स्वच्छ आसुओं को स्वच्छ कपोलों से लुढ़काती हुई केवल रोती है।"[1]

---

१. अमरुशतक—२९

चित्रः—

"दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने कोपाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णं क्षणा-
च्चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥"

कथोत्थः—

"दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात्खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः ।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्त्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः ॥"

संविधानकभूः—

"दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।

(यहाँ इतिवृत्त से स्वतन्त्र वर्णन होने से यह शुद्ध है ।)

चित्र का उदाहरण यह है—(इसमें रुष्टा नायिका को मनाने के लिये आने पर नायिका की आँखों के विभिन्न भावों का वर्णन है—) उस अपराधी के दूर से आने पर उन आँखों में उत्सुकता थी, समीप आने पर तिरछी हो गयीं, (उस नायक के) आलिङ्गन करने पर क्रोध से लाल हो गयीं, वस्त्र पकड़ने पर क्रोध से भौंहे तिरछी हो गयीं, उस मानिनी के चरणों पर नायक के गिरने पर आँसुओं से भर गई इस प्रकार प्रिय के अपराध करने पर प्रिया की आँखें प्रपञ्च करने में चतुर हो गयी हैं ।'[1]

कथोत्थ का उदाहरण—'खण्डित साहस वाला शर्मगुप्त अवरुद्ध वेग वाला होकर खसराज को देवी ध्रुवस्वामिनी को सौंप कर जिस हिमालय से लौट आया गम्भीर गुफाओं के प्रदेशों में किन्नरों के गीतों से ध्वनित उसी हिमालय में हे राजन् ! आपकी कीर्ति को स्वामिकार्तिकेय के नगर की स्त्रियाँ गाती हैं ।

(इसमें एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक आख्यान का आश्रय लेकर वर्णन किया गया है । यह किसी चाटुकार की अपने स्वामी के प्रति उक्ति है) ।

संविधानकभू का उदाहरण—(दो पत्नियों वाले किसी धूर्त नायक का

---

१. अमरुशतक ४९, कवीन्द्रवचन समुच्चय में इसे रतिपाल-कृत कहा गया है ।

ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ।।"

यथा च—

"कुर्वत्या कुङ्कुमाम्भः कपिशितवपुषं यत्तदा राजहंसीं
क्रीडाहंसो मयासाऽजनि विरहितश्चक्रवाकीभ्रमेण ।
तस्यैतत्पाप्मनो मे परिणमति फलं यत्पुरे प्रेमबन्धा-
देकत्रावां वसावो न च दयित दृशाऽप्यस्ति नौ सन्निकर्षः ।।"

आख्यानकवान्—

"अर्थिजनार्थधृतानां वनकरिणां प्रथमकल्पितैर्दशनैः ।
चक्रे परोपकारी हैहयजन्मा गृहं शम्भोः ।।"

इसमें वर्णन है—) उस धूर्त नायक ने एक ही आसन पर दोनों प्रियाओं को बैठे देखकर पीछे से आकर कुतूहल के बहाने एक नायिका की आंख मीच ली और प्रेमपूरित मन से पुलकित होकर, कुछ कन्धा झुकाकर अन्तर्हास से चञ्चल कपोल वाली दूसरी नायिका का चुम्बन कर लिया ।[1]

(यहाँ एक ही साथ दो नायिकाओं का रञ्जन है तथा एक घटना की कल्पना द्वारा अर्थोत्पादन है ।)

और भी—(यह किसी विरहिणी नायिका की उक्ति है—) 'कुंकुम जल से स्नात होने के कारण कपिश वर्ण की राजहंसी को चक्रवाकी समझकर क्रीडा-हंस से पृथक् कर दिया उसी पाप का यह परिणाम है कि एक ही नगर में हम दोनों रहते हैं पर आँखों का भी हम लोगों का सान्निध्य नहीं अर्थात् परस्पर एक-दूसरे को देख भी नहीं सकते ।

(यहाँ इतिवृत्त की उत्प्रेक्षा की गई है ।)

आख्यानकवान् का उदाहरण—'परोपकारी हैहयवंशी (सहस्रार्जुन) ने याचकों को देने के लिये पकड़े गये वन्य हाथियों के प्रथम निकले दांतों से शिव-मन्दिर बनाया ।"

(यहाँ सहस्रार्जुन द्वारा शिवालय निर्माण का आख्यान वर्णित है ।)

---

१. अमरुशतक १९

निबन्धे शुद्धः—

"स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
सुचिरमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥"

चित्रः—

"अलसवलितमुग्धस्निग्धनिष्पन्दमन्दै-
रधिकविकसदन्तर्विस्मयस्मेरतारैः ।
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै-
रपहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितं च ॥"

कथोत्थः—

"अभिलाषमुदीरितेन्द्रियः स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः ।
अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतदन्वभूत् ॥"

निबन्ध में शुद्ध का उदाहरण—('मालती-माधव' नाटक में अपने प्रति मालती की हावादि चेष्टाओं का वर्णन माधव मकरकन्द से कर रहा है—) मैं उस मालती के उन अवलोकनों का लक्ष्य हुआ जिसकी भ्रूलतायें स्तिमित, विकसित उल्लसित, अनुरागपेशल तथा अक्षि-कोरक के कोनों तक फैली हुई थी एवं प्रत्येक दृष्टि-निक्षेप में कुछ संकुचित थीं (मालती-माधव १।२८) ।

(यहाँ प्रवन्ध के अधीन भावपूर्ण एवं विशुद्ध अनेकों मुद्राओं का वर्णन है ।)

चित्र का उदाहरण—सुन्दर पलकों वाली उस नायिका के उन कटाक्षों से जो अलस, तिरछे, मनोहर, सरस, निश्चल, मन्द तथा अत्यधिक आन्तरिक विकसित होने वाले विस्मय से प्रसन्न कनीनिका वाले थे, मेरा अशरण हृदय, चुरा लिया गया, विद्ध हो गया, पी लिया गया और उखाड़ दिया गया । (मालती-माधव : १।२९)

(यहाँ दृष्टि-व्यापारों को सप्रपञ्च उदाहृत किया गया है अतः यह निबन्धगत चित्र का उदाहरण है ।)

कथोत्थ का उदाहरण—(कुमारसंभव में शिवजी के तृतीय नेत्राग्नि से भस्मीभूत कामदेव के लिये प्रलाप करती रति को सान्त्वना देने के लिये आकाशवाणी कह रही है—) एक बार प्रजापति ब्रह्मा जी काम से प्रेरित होकर

संविधानकभूः—

"क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥"

आख्यानकवान्—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥"

किञ्च—

संस्कृतवत्सर्वास्वपि भाषासु यथासामर्थ्यं यथारुचि यथाकौतुकं चावहितः स्यात् । शब्दार्थयोश्चाभिधानाभिधेयव्यापारप्रगुणतामवबुध्येत ।

अपनी पुत्री सरस्वती के प्रति ही अनुरक्त हो गये पर उन्होंने अपने इस मानसिक विकार को रोक लिया और कामदेव को कुपित होकर (जल जाने का) शाप दे दिया । उसी शाप का यह परिणाम है कि काम हर-नेत्र-वह्नि से दग्ध हुआ ।' इसमें प्राचीन कथा का उल्लेख है अतः यह कथोत्थ का उदाहरण है ।

संविधानकभू का उदाहरण—(कुमारसंभव ३.७२ में शिव जी के क्रोधानल से दग्ध हो रहे कामदेव का वर्णन है—) हे प्रभो ! क्रोध को रोकिये-रोकिये' ऐसे देवताओं के वचन जब तक आकाश में सुनाई ही पड़ रहे थे कि इसी बीच भगवान् शङ्कर के नेत्र से उत्पन्न उस अग्नि ने कामदेव को जलाकर भस्मीभूत कर दिया ।

आख्यानकवान् का उदाहरण—(कुमारसंभव ७.१९ में महावर लगाने के बाद परिहास करने वाली किसी सखी का वर्णन है–) उस सखी ने पार्वती के दोनों चरणों को रंग कर कहा 'हे सखि पार्वति ! इनसे अब पतिशङ्कर के शिर में अवस्थित चन्द्रकला को मारो ।' ऐसा सुनकर पार्वती ने बिना कुछ कहे ही उस सखी को माला से मारा ।'

और भी—कवि के लिये यह उचित है वह संस्कृत के ही समान (प्राकृतिक) सभी भाषाओं में सामर्थ्य रुचि तथा कुतूहल के अनुसार रचना

---

१. कुमार-सम्भव ४.४१

तदुक्तम्—

एकोऽर्थः संस्कृतोक्त्या स सुकविरचनः प्राकृतेनापरोऽस्मिन्
अन्योऽपभ्रंशगीर्भिः किमपरमपरो भूतभाषाक्रमेण ।
द्वित्राभिः कोऽपि वाग्भिर्भवति चतसृभिः किञ्च कश्चिद्विवेक्तुं
यस्येत्थं धीः प्रपन्ना स्नपयति सुकवेस्तस्य कीर्त्तिर्जगन्ति ॥

इत्थङ्कारं घनैरर्थैर्व्युत्पन्नमनसः कवेः ।
दुर्गमेऽपि भवेन्मार्गे कुण्ठिता न सरस्वती ॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
अर्थानुशासने (अर्थव्याप्तिः) नवमोऽध्यायः ॥

करे । शब्दार्थों के अभिधानाभिधेय अर्थात् वाच्यवाचकनिष्ठ प्रौढ़ता का उसे ध्यान रखना चाहिये ।

इस विषय में कहा भी है—

एक ही अर्थ को कोई सुकवि संस्कृत में निबद्ध करता है, कोई प्राकृत में, कोई अपभ्रंश में और कोई (पैशाची आदि) भूत भाषाओं में । कोई कवि दो तीन भाषाओं में अर्थ-विवेचन में समर्थ होता है तो कोई चार में । जिस कवि की बुद्धि इस प्रकार समर्थ होती है उस सुकवि की कीर्ति संसार में फैल जाती है ।

इस प्रकार सघन अर्थ में जिस कवि का मन (बुद्धि) व्युत्पन्न होता है उसकी वाणी दुर्गम पद्धति पर भी कुण्ठित नहीं होती ।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण
अर्थानुशासन में नवाँ अध्याय समाप्त

दशमोऽध्यायः

१० कविचर्या राजचर्या च ।

गृहीतविद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत । नामधातुपारायणे, अभिधानकोशः, छन्दोविचितिः, अलङ्कारतन्त्रं च काव्यविद्याः । कलास्तु चतुःषष्टिरुपविद्याः । सुजनोपजीव्यकविसन्निधिः, देशवार्ता, विदग्धवादो, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठ्यश्च काव्यमातरः पुरातनकविनिबन्धाश्च ।

किञ्च—

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता ।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य ॥

अपि च नित्यं शुचिः स्यात् । त्रिधा च शौचं वाक्शौचं, मनः-शौचं, कायशौचं च । प्रथमे शास्त्रजन्मनी । तार्तीयीकं तु सनखच्छेदौ पादौ, सताम्बूलं मुखं, सविलेपनमात्रं वपुः,

---

कवियों (अथवा काव्य-कर्म की इच्छावालों) को चाहिये कि वे (काव्य) विद्याओं तथा उपविद्याओं का सम्यक् अध्ययन कर काव्य-क्रिया में प्रयत्नशील हों। नामधातुपारायण अर्थात् व्याकरण, कोष, छन्दःसंग्रह तथा अलङ्कारशास्त्र—ये काव्यविद्यायें हैं । चौंसठ कलायें ही उपविद्यायें हैं । बड़े व्यक्ति द्वारा सेव्य कवि का सामीप्य, देश का समाचार, चतुर विद्वानों की सूक्तियाँ, देशाटन, विद्वद्गोष्ठी तथा प्राचीन कवियों के प्रबन्धों का अध्ययन—ये काव्य की जननी हैं। कहा भी है—

स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति की दृढ़ता, और अग्लानि (उत्साह)—ये आठ कवित्व की मातायें हैं ।

और भी (कवि के लिये आवश्यक ये हैं—) सदा पवित्र रहे । शौच (शुद्धि) तीन प्रकार का है—वाणी का शौच, मन का शौच तथा शरीर का शौच । प्रथम अर्थात् वाणी की शुद्धि शास्त्राभ्यास से आती है । तीसरी अर्थात् शारीरिक शुद्धि के लिये (हाथ) पैर के नाखून कटे हों, मुख में ताम्बूल हो,

महार्हमनुल्बणं च वासः, सकुसुमं शिर इति ।

शुचिशीलनं हि सरस्वत्याः संवननमामनन्ति । स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम् । यादृशाकारश्चित्रकारस्तादृशाकारमस्य चित्रमिति प्रायोवादः । स्मितपूर्वमभिभाषणं, सर्वत्रोक्तिगर्भमभिधानं, सर्वतो रहस्यान्वेषणं, परकाव्यदूषणवैमुख्यमनभिहितस्य अभिहितस्य तु यथार्थमभिधानम् ।

तस्य भवनं सुसंमृष्टं, ऋतुषट्कोचितविविधस्थानम्, अनेकतरुमूलकल्पितापाश्रयवृक्षवाटिकं, सक्रीडापर्वतकं, सदीर्घिकापुष्करिणीकं, ससरित्समुद्रावर्त्तकं, सकुल्याप्रवाहं, सबर्हिणहरिणहारीतं, ससारसचक्रवाकहंसं, सचकोरक्रौञ्चकुररशुकसारिकं, घर्मक्लान्तिचौरं, सभू(ति)मिधारागृहयन्त्रलतामण्डपकं, सदोला-

---

शरीर पर चन्दनादि का लेप हो, वस्त्र स्वच्छ तथा मूल्यवान् हों तथा शिर पर फूल (की माला) हो ।

पवित्र चरित्र वा स्वभाव ही सरस्वती का वशीकरण है। अतः कवि जिस स्वभाव का होगा तदनुकूल काव्य भी होगा। यह प्रायः कहा जाता है कि जैसा चित्रकार होगा वैसा ही (अर्थात्, उसके कौशल के अनुरूप ही) उसका चित्र होगा। कवि को मुस्कराकर बातें करनी चाहिये। कवि के सभी कथन वक्रोक्तिगर्भ अर्थात् शक्तिपूर्ण होने चाहियें। उसे सभी कामों में रहस्य का अनुसन्धान करना चाहिये, दूसरे के काव्य के दोष-दर्शन से यदि कोई पूछे न तो पराङ्मुख होना चाहिये और पूछने पर यथार्थ बात बतानी चाहिये (अर्थात् पूछने पर सम्यक् गुण-दोष का विवेचन करना चाहिये)।

कवि का गृह लिपा-पुता तथा स्वच्छ होना चाहिए, उसमें, षड्ऋतुओं के अनुकूल विविध स्थान निर्मित हों, अनेकों तरु-मूलों से निर्मित आश्रय-हीन वाटिकायें हो, क्रीडापर्वत हो, वापी तथा पुष्करिणी (चौंकोर तालाब) हो, नदी तथा समुद्र के भँवर से युक्त हो (अर्थात् कृत्रिम नदी तथा समुद्र भी उसमें निर्मित हों), छोटी कृत्रिम नदी हो, मयूर तथा हरिण से रमणीय हो, सारस, चक्रवाक एवं हंस से युक्त हो, चकोर, क्रौञ्च, कुररी, शुक तथा सारिका से समन्वित हो, धूप की खिन्नता को हरने वाला हो, गुफा फव्वारे तथा लतामण्डप से मण्डित हो और उसमें

प्रेङ्खं च स्यात् । काव्याभिनिवेशखिन्नस्य मनसस्तद्विनिर्वेदच्छेदाय आज्ञामूकपरिजनं विजनं वा तस्य स्थानम् । अपभ्रंशभाषणप्रवणः परिचारकवर्गः, समागधभाषाभिनिवेशिन्यः परिचारिकाः । प्राकृतसंस्कृतभाषाविद आन्तःपुरिकाः, मित्राणि चास्य सर्वभाषाविन्दि भवेयुः ।

सदःसंस्कारविशुद्धयर्थं सर्वभाषाकुशलः, शीघ्रवाक्, चार्वक्षरः, इङ्गिताकारवेदी, नानालिपिज्ञः, कविः, लाक्षणिकश्च लेखकः स्यात् । तदसन्निधात्रतिरात्रादिषु पूर्वोक्तानामन्यतमः । स्वभवने हि भाषानियमं यथा प्रभुर्विदधाति तथा भवति ।

श्रूयते हि मगधेषु शिशुनागो नाम राजा । तेन दुरुच्चारानष्टौ वर्णानपास्य स्वान्तःपुर एव प्रवर्त्तितो नियमः, टकारादयश्चत्वारो मूर्द्धन्यास्तृतीयवर्जमूष्माणस्त्रयः क्षकारश्चेति ।

झूला भी लगा हो । काव्य-निर्माण करते-करते खिन्न-चित्त वाले कवि की खिन्नता को दूर करने के लिये सेवक ऐसे हों जो विना आज्ञा के न बोलें अथवा कवि के लिये उस समय एकान्त ही हो । कवि का परिचारक-वर्ग अपभ्रंश भाषा-भाषण कुशल हो, तथा परिचारिकायें मागधी बोलने में कुशल हों, अन्तःपुरचारी रानियाँ संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं में निष्णात हों तथा कवि के मित्र सभी भाषाओं के ज्ञाता होने चाहिये ।

सभा के संस्कार की विशुद्धि के लिये कवि का लिपिकार (लेखक वा क्लर्क) भी सभी भाषाओं में कुशल, शीघ्रवादी, सुन्दर अक्षरों को लिखने वाला, इशारे से समझने वाला, नाना लिपियों को जानने वाला, कवि तथा लाक्षणिक होना चाहिये । रात्रि के समय उस लिपिकार के न होने पर पूर्वोक्त परिचारकों में से कोई भी (लिख सकता है) । अपने घर में मालिक जैसा भाषा नियम बनावे वैसा ही चलता है अर्थात् घर में भाषा का प्रयोग घर के स्वामी की इच्छा के अनुसार चलता है ।

सुना जाता है कि मगध में शिशुनाग नाम का राजा था उसने अन्तःपुर में यह नियम प्रचलित कर दिया कि कठिनाई से बोले जाने वाले आठ वर्णों को छोड़कर अन्य वर्णों का प्रयोग हो । वे आठ दुरुच्चारित वर्ण है टकार आदि चार मूर्द्धन्य (ट, ठ, ड, ढ), तीन ऊष्मसंज्ञक वर्ण (श, ष, ह) और क्ष । (उस राजा ने यह नियम केवल अपने घर तक ही सीमित रखा) ।

श्रूयते च सूरसेनेषु कुविन्दो नाम राजा । तेन परुषसंयोगाक्षरवर्जमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण ।

श्रूयते च कुन्तलेषु सातवाहनो नाम राजा । तेन प्राकृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण ।

श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसाङ्को नाम राजा । तेन च संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण ।

तस्य मञ्जुटिका सफलकखटिका, समुद्गकः, सलेखनीकमषीभाजनानि ताडिपत्राणि भूर्जत्वचो वा, सलोहकण्टकानि तालदलानि, सुसम्मृष्टा भित्तयः, सततसन्निहिताः स्युः । "तद्धि काव्यविद्यायाः परिकरः" इति आचार्याः । "प्रतिभैव परिकरः" इति यायावरीयः ।

कविः प्रथममात्मानमेव कल्पयेत् ! कियान्मे संस्कारः, क्व भाषाविषये शक्तोऽस्मि, किं रुचिर्लोकः, परिवृढो वा, कीदृशि गोष्ठ्यां विनीतः, क्वास्य वा चेतः संसजत इति बुद्ध्वा भाषा-

---

सुना जाता है कि सूरसेन देश में कुविन्द नाम का राजा था उसने परुष-संयोगवाले अक्षरों का व्यवहार अपने घर में बन्द कर दिया था ।

सुना जाता है कि कुन्तल देश में सातवाहन नामका राजा था जिसने अपने घर में प्राकृत भाषा प्रचलित की थी ।

सुना जाता है कि उज्जयिनी में साहसाङ्क नामक राजा था जिसने अपने घर में संस्कृत भाषा का प्रयोग चलाया था ।

उस कवि के पास ये पदार्थ सर्वदा समीप रहने चाहिये—स्लेट-पेन्सिल, सामान रखने के डब्बे, कलम तथा स्याही, ताडपत्र या भूर्जपत्र, लोह-कांटे के साथ ताल-पत्र और लिपी-पुती भित्तियाँ । आचार्यों का कथन है ये समग्र पदार्थ काव्य-विद्या के परिकर (सहायक) हैं । पर राजशेखर का कथन है कि ये परिकर नहीं अपितु, 'प्रतिभा' परिकर हैं ।

कवि को पहले अपना ही संस्कार करना चाहिये । मेरा संस्कार कितना है, किस भाषा में मैं समर्थ हूँ, लोगों की रुचि किस विषय की ओर है, मेरा संरक्षक (स्वामी) किस गोष्ठी में शिक्षित है अथवा उसका मन कहाँ लगता है, यह जानकर काव्यरचना के लिए भाषाविशेष का आश्रय लेना चाहिये ।"

विशेषमाश्रयेत" इति आचार्याः। "एकदेशकवेरियं नियमतन्त्रणा, स्वतन्त्रस्य पुनरेकभाषावत्सर्वा अपि भाषाः स्युः" इति यायावरीयः। देशविशेषवशेन च भाषाश्रयणं दृश्यते।

तदुक्तम्—

"गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्येमध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥
जानीयाल्लोकसाम्मत्यं कविः कुत्र ममेति च।
असम्मतं परिहरेन्मतेऽभिनिविशेत च॥
जनापवादमात्रेण न जुगुप्सेत चात्मनि।
जानीयात्स्वयमात्मानं यतो लोको निरङ्कुशः॥
गीतासूक्तिरतिक्रान्ते स्तोता देशान्तरस्थिते।

ऐसी आचार्यों की राय है। किन्तु यायवरीय राजशेखर की राय यह है कि "यह सारी नियमाधीनता एकदेशीय कवि के लिये है। स्वतंत्र कवि के लिये तो एक भाषा की ही तरह सभी भाषायें हैं।" देश-विरोध के कारण भाषा-विशेष का कविजनों के द्वारा आश्रय देखा जाता है।

इस विषय में कहा है—

"गौड़ादि देशवासी संस्कृत वाले होते हैं, लाट (गुर्जर) देशवासी प्राकृत में विशेष रुचि प्रदर्शित करते हैं। सारे मरुदेश के वासी अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं तथा टकार, ककार, झकार का उपयोग करते हैं, अवन्ती, पारियात्र तथा दशपुर के निवासी भूतभाषा पैशाची का सेवन करते हैं किन्तु जो मध्यदेशीय कवि हैं वे सभी भाषाओं में निपुण होते हैं।

कवि को चाहिये कि वह यह जाने कि लोक-सम्मत क्या है तथा उसका सम्मत (अर्थात् उसके अनुकूल) क्या है? जो बात लोक-असम्मत हो उसे छोड़ दे तथा जो सम्मत हो उसमें प्रविष्ट हो।

किन्तु (कवि को केवल) लोक-निन्दा के कारण अपनी विगर्हा नहीं करनी चाहिये। उसे स्वयं अपने को देखना चाहिये कि क्या उचित वा अनुचित है, क्योंकि संसार तो निरङ्कुश है (और किसी की भी निन्दा-स्तुति कर सकता है)। महान् भी कवि के प्रत्यक्ष होने पर संसार अवज्ञा करता है। उसके काव्य

प्रत्यक्षे तु कवौ लोकः सावज्ञः सुमहत्यपि ॥
प्रत्यक्षकविकाव्यं च रूपं च कुलयोषितः ।
गृहवैद्यस्य विद्या च कस्मैचिद्यदि रोचते ॥

इदं महाहासकरं विचेष्टितं परोक्तिपाटच्चरतारतोऽपि यत् ।
सदुक्तिरत्नाकरतां गतान् कवीन् कवित्वमात्रेण समेन निन्दति ॥

वचः स्वादु सतां लेह्यं लेशस्वाद्वपि कौतुकात् ।
बालस्त्रीहीनजातीनां काव्यं याति मुखान्मुखम् ॥

कार्यावसरसञ्ज्ञानां परिव्राजां महीभुजाम् ।
काव्यं सद्यः कवीनां च भ्रमत्यह्ना दिशो दश ॥

पितुर्गुरोर्नरेन्द्रस्य सुतशिष्यपदातयः ।
अविविच्यैव काव्यानि स्तुवन्ति च पठन्ति च ॥

"किञ्च नार्द्धकृतं पठेदसमाप्तिस्तस्य फलम्" इति कविरह-

(गीति-सूक्ति) की प्रशंसा तो तब होती है जब वह मर जाय या प्रशंसक विदेश में स्थित हो ।

प्रत्यक्ष कवि का काव्य, कुलस्त्री का सौन्दर्य और घर के वैद्य की विद्या ये (तीनों) किसी-किसी को ही पसन्द आते हैं ।

सबसे बड़ी हास्यास्पद बात तो यह है कि दूसरे की उक्तियों को चुराने में प्रवीण कवि भी महती सदुक्तियों की रचना करने वाले कवियों की केवल कवि होने के नाते निन्दा करता है (अर्थात् और तो और चोरी की कविता करने वाले कवि भी अपने को कवि मानते हैं और महान् कवियों का विनिन्दन करते हैं) ।

सज्जन लोग श्रुति-मधुर (स्वादु) काव्य का अल्प-मनोहर होने पर भी आस्वाद करते हैं । अल्प मनोहर काव्य बालकों, स्त्रियों तथा छोटी जातियों में शीघ्र फैल जाता है ।

समयानुकूल कार्य करने को उद्यत लोगों, संन्यासियों, राजाओं तथा (आशु) कवियों की कविता दिन भर में ही सर्वत्र फैल जाती है ।

पिता की कविता को पुत्र, गुरु की कविता को शिष्य तथा राजा की कविता को सेवक बिना सोचे ही पढ़ते तथा प्रशंसा करते हैं ।

और भी बात यह है कि आधी बनायी कविता को नहीं पढ़ना

स्यम् । न नवीनमेकाकिनः पुरतः । स हि स्वीयं ब्रुवाणः कत-रेण साक्षिणा जीयेत । न च स्वकृतिं बहुमन्येत । पक्षपातो हि गुणदोषौ विपर्यासयति । न च दृप्येत् । दर्पलवोऽपि सर्वसंस्कारानुच्छिनत्ति । परैश्च परीक्षयेत् । यदुदासीनः पश्यति न तदनुष्ठातेति प्रायोवादः । कविमानिनं तु छन्दोऽनुवर्त्तनेन रञ्जयेत् । कविम्मन्यस्य हि पुरतः सूक्तमरण्यरुदितं स्याद्विप्लवेत च ।

तदाह—

"इदं हि वैदग्ध्यरहस्यमुत्तमं पठेन्न सूक्तिं कविमानिनः पुरः ।
न केवलं तां न विभावयत्यसौ स्वकाव्यबन्धेन विनाशयत्यपि ॥"

अनियतकालाः प्रवृत्तयो विप्लवन्ते तस्माद्दिवसं निशां च यामक्रमेण चतुर्द्धा विभजेत् । स प्रातरुत्थाय कृतसन्ध्यावरि-

---

चाहिये क्योंकि उसके परिणामस्वरूप कविता पूरी नहीं होती । यह कवि-रहस्य है । नवीन कविता को किसी अकेले के सामने नहीं सुनानी चाहिये (क्योंकि) यदि उसे वह स्वयं अपनी बताने लगें तो गवाह कौन मिलेगा । अपनी रचना को बड़ी नहीं समझनी चाहिये क्योंकि पक्षपात गुण-दोष को उलटा कर देता है अर्थात् अपने दोष पक्षपात-वश नहीं दिखायी पड़ते । कभी घमण्ड नहीं करना चाहिये । दर्प का अंश-मात्र भी सभी सत्संस्कारों को उखाड़ देता है । दूसरे के द्वारा परीक्षा करानी चाहिये । तटस्थ व्यक्ति जिस दृष्टि से देखता है, कर्ता उस तटस्थ दृष्टि से नहीं देखता-ऐसा तो सर्व-प्रचलित ही है । कविम्मन्य (जो मूर्ख स्वयं को कवि मानते हों ऐसों) को उनके मनके अनुकूल प्रसन्न रखना चाहिये (अर्थात् उनकी चाटुकारी ही उचित है) । (छन्दानुवर्तन के बिना उन) कविम्मन्यों के सामने सत्काव्य अरण्य-रोदन के समान व्यर्थ है और नष्ट हो जाता है । कहा भी है—

"सबसे बड़ा चातुर्य यही है कि अपने को कवि मानने वाले अहंकारी के सामने कविता ही न पढ़े क्योंकि न केवल यह उसकी आलोचना करता है अपितु अपने काव्य-निर्माण से उसे नष्ट भी कर देता है । (अर्थात् कविता सुनाते समय अपने भी उसमें सुधार करता है ।)"

बिना समय के काम विनष्ट हो जाते हैं अतः दिन-रात का प्रहार के क्रम से चार विभाग करना चाहिये । प्रातः उठकर सन्ध्या-पूजा करके सरस्वती-स्तोत्र

वस्यः सारस्वतं सूक्तमधीयीत। ततो विद्यावसथे यथासुखमासीनः काव्यस्य विद्या उपविद्याश्चानुशीलयेदाप्रहरात्। न ह्येवंविधोन्यः प्रतिभाहेतुर्यथा प्रत्यग्रसंस्कारः। द्वितीये काव्यक्रियाम्। उपमध्याह्नं स्नायादविरुद्धं भुञ्जीत च। भोजनान्ते काव्यगोष्ठी प्रवर्त्तयेत्। कदाचिच्च प्रश्नोत्तराणि भिन्दीत। काव्यसमस्याधारणा, मातृकाभ्यासः, चित्रा योगा इत्यायामत्रयम्। चतुर्थ एकाकिनः परिमितपरिषदो वा पूर्वाह्णभागविहितस्य काव्यस्य परीक्षा। रसावेशतः काव्यं विरचयतो न च विवेक्त्री दृष्टिस्तस्मादनुपरीक्षेत। अधिकस्य त्यागो, न्यूनस्य पूरणम्, अन्यथास्थितस्य परिवर्त्तनं, प्रस्मृतस्यानुसन्धानं चेत्यहीनम्।

सायं सन्ध्यामुपासीत सरस्वतीं च। ततो दिवा विहितपरीक्षकस्याभिलेखनमाप्रदोषात्। यावदार्त्ति स्त्रियमभिमन्येत। द्वितीयतृतीयौ साधु शयीत। सम्यक्स्वापो वपुषः परमारोग्याय।

का पाठ करना चाहिये। तदन्तर विद्यास्थान में सुखपूर्वक बैठकर प्रहर दिन तक काव्य की विद्या तथा उपविद्याओं का अनुशीलन करना चाहिये। प्रतिभा दूसरा कोई ऐसा हेतु नहीं जैसा प्रत्यग्र (नवीन) संस्कार। दूसरे प्रहर में काव्याभ्यास करना चाहिये। मध्याह्न के करीब (अर्थात् दूसरे प्रहर के अंतिम भाग में) स्नान करना चाहिए तथा प्रकृति के अनुकूल भोजन करना चाहिये। भोजन के बाद काव्य-गोष्ठी करे। कभी-कभी प्रश्नोत्तरों का भी उत्तर दे। काव्य-समस्याओं की पूर्ति, सुन्दराक्षरों का अभ्यास तथा चित्रबन्धों के निर्माण द्वारा तृतीय प्रहर बितावे। चौथे प्रहर में अकेले या सीमित आदमियों के साथ पूर्वाह्न में बनाये काव्य की परीक्षा करे। काव्य-करते समय रस-बाहुल्य से विवेचिका शक्ति लुप्त हो जाती है इसी से निर्माण के बाद परीक्षा करना चाहिये। अधिक का त्याग, न्यून की पूर्ति, अन्यथास्थित का परिवर्तन, भूले को ठीक करना इस प्रकार चौथा प्रहर बितावे।

सायंकाल संध्या तथा सरस्वती की उपासना करनी चाहिये। तदनन्तर दिन में बनाये तथा परीक्षा किये काव्य को प्रहर रात तक लिखे। (इसके बाद) श्रम-निवृत्ति-पर्यन्त स्त्री के साथ रमण करे। रात्रि के दूसरे तथा तीसरे प्रहरों में भलीभांति सोवे। अच्छी नींद शरीर के आत्यन्तिक आरोग्य के लिये

चतुर्थे सप्रयत्नं प्रतिबुध्येत। ब्राह्मे मुहूर्ते मनः प्रसीदत्ताँस्तानर्थानध्यक्षयतीत्याहोरात्रिकम्।

चतुर्विधश्चा स। असूर्यम्पश्यो, निषण्णो, दत्तावसरः, प्रायोजनिकश्च। यो गुहागर्भभूमिगृहादिप्रवेशान्नैष्ठिकवृत्तिः कवते, असाव्रसूर्यम्पश्यस्तस्तः सर्वे कालाः। यः काव्यक्रियायामभिनिविष्टः कवते न च नैष्ठिकवृत्तिः, स निषण्णस्तस्यापि त एव कालाः।

यः सेवादिकमविरुन्धानः कवते, स दत्तावसरस्तस्य कतिपये कालाः। निशायास्तुरीययामार्द्धः, स हि सारस्वतो मुहूर्त्तः। भोजनान्तः, सौहित्यं हि स्वास्थ्यमुपस्थापयति। व्यवायोपरमः, यदार्त्तिविनिवृत्तिरेकमेकाग्रतायतनम्।

याप्ययानयात्रा, विषयान्तरविनिवृत्तं हि चित्तं यत्र यत्र

आवश्यक हैं। चौथे प्रहर में प्रयत्न पूर्वक उठ जाना चाहिये। ब्राह्म मुहूर्त में मन प्रसन्न रहता है अतः अलौकिक अर्थों की स्फूर्ति कराता है। यह दिन-रात की कवि-चर्या है।

कवि चार प्रकार के होते हैं—१. असूर्यम्पश्य २. निषण्ण ३. दत्तावसर तथा ४. प्रायोजनिक। असूर्यम्पश्य वह है जो गुफा या भूमि में निश्चल वृत्ति वाला होकर काव्य करे। उसके लिये काव्य-निर्मिति के सभी समय हैं। जो व्यक्ति काव्य-निर्मिति अभिनिवेश (प्रवल इच्छा या काव्य शक्ति के आवेश) होने पर करता है नियमित रूप से नहीं करता उसे अभिनिषण्ण कवि कहते हैं। उसके लिये भी सभी समय काव्य का काल है।

जो व्यक्ति सेवादि कार्यों को करता हुआ भी कविता करता है वह दत्तावसर कवि है। उसके लिये कुछ ही समय हैं। रात्रि का चौथा प्रहर का अर्ध भाग सारस्वत मुहूर्त कहा जाता है (वह उपयुक्त समय है)। भोजन के उपरान्त (भी अच्छा समय है क्योंकि) तृप्ति स्वस्थ बनाती है। व्यवाय (श्रम) की निवृत्ति के बाद भी अच्छा समय है, (क्योंकि) दुःख का शमन मन को एकाग्र करता है।

शिविकादि की यात्रा भी उपयुक्त अवसर है क्योंकि उस समय अन्य विषयों से विरत मन जहां लगाया जाता है वहीं लग जाता है, उस समय

प्रणिधीयते तत्र तत्र गुडूचीलागं लगति। यदा यदा चात्मनः क्षणिकतां मन्यते स स काव्यकरणकालः।

यस्तु प्रस्तुतं किञ्चन संविधानकमुद्दिश्य कवते, स प्रायोजनिकस्तस्य प्रयोजनवशात्कालव्यवस्था। बुद्धिमदाहार्यबुद्ध्योरियं नियममुद्रा। औपदेशिकस्य पुनरिच्छैव सर्वे कालाः, सर्वाश्च नियममुद्राः।

पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमवेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्रदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च।

सिद्धं च प्रबन्धमनेकादर्शगतं कुर्यात्। यदित्थं कथयन्ति—

"निक्षेपो विक्रयो दानं देशत्यागोऽल्पजीविता।
त्रुटिको वह्निरम्भश्च प्रबन्धोच्छेदहेतवः॥

अभीष्ट विषयों में मन उसी भाँति लगता है जैसे गुरच। अथवा (दत्तावसर कवि) जब-जब कार्यों से छुट्टी पाता है तभी काव्य-रचना करता है।

जो व्यक्ति किसी प्रासङ्गिक विषय को उद्दिष्ट कर काव्य-रचना करता है उसे प्रायोजनिक कहते हैं। उसके लिये समय की व्यवस्था उसका प्रयोजन ही है (अर्थात् प्रयोजन उपस्थित होने पर वह किसी भी समय काव्य-निर्मिति करता है)। उपर्युक्त नियम-व्यवस्था केवल बुद्धिमान् तथा आहार्य बुद्धि वाले कवियों के लिये हैं। औपदेशिक कवि के लिये यह काल-व्यवस्था नहीं है। उसके लिये इच्छा ही सभी समय और नियम है।

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। आत्मा में संस्कार तो दोनों के समान ही हैं—वे स्त्री या पुरुष के कवि भेद की अपेक्षा नहीं रखते। राज-पुत्रियाँ, मंत्री-पुत्रियाँ, वेश्यायें और नटों की स्त्रियाँ भी शास्त्रज्ञ तथा कवियित्रियाँ देखी-सुनी जाती हैं।

कवि के लिये उचित है कि वह काव्य के निर्माण हो जाने पर उसे प्रचारित करे। इस विषय में ऐसा कहा भी जाता है :—

प्रबन्ध को किसी के यहाँ रखना, बेंचना, दान करना, कवि का देश त्याग, उसका अल्पजीवी होना, प्रबन्ध का त्रुटिपूर्ण होना, जल में अथवा अग्नि में गिरना—ये सभी प्रबन्ध के नष्ट होने के कारण हैं।

दारिद्र्यं व्यसनासक्तिरवज्ञा मन्दभाग्यता ।
दुष्टे द्विष्टे च विश्वासः पञ्च काव्यमहापदः ।।"

पुनः समापयिष्यामि, पुनः संस्करिष्यामि, सुहृद्भिः सह विवेचयिष्यामीति कर्तुराकुलता राष्ट्रोपप्लवश्च प्रबन्धविनाश-कारणानि ।

"अहर्निशाविभागेन य इत्थं कवते कृती ।
एकावलीव तत्काव्यं सतां कण्ठेषु लम्बते ।।
यथा यथाभियोगश्च संस्कारश्च भवेत्कवेः ।
तथा तथा निबन्धानां तारतम्येन रम्यता ।।
मुक्तके कवयोऽनन्ताः सङ्घाते कवयः शतम् ।
महाप्रबन्धे तु कविरेको द्वौ दुर्लभास्त्रयः ।।"

अत्राह स्म—

"बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ।।

काव्य के लिये पांच महती आपत्तियां हैं—दरिद्रता, दुष्कर्मों में आसक्ति, काव्य-क्रिया का तिरस्कार, भाग्यहीनता, एवं दुष्ट तथा द्वेषी व्यक्ति में विश्वास करना ।"

काव्य-रचना के समय बाद में समाप्त करूंगा, बाद में शुद्ध करूंगा, और बाद में मित्रों के साथ पर्यालोचित करूंगा, कवि के ये विचार भी तथा राष्ट्र-विप्लव भी प्रबन्ध-विनाश के कारण हैं ।

"उपर्युक्त क्रम से रात-दिन का सम्यक् विभाग कर जो बुद्धिमान् कवि कविता करता है उसका काव्य माला की भांति सज्जनों के कण्ठ में शोभित होता है ।

जैसे-जैसे कवि का काव्यमें अभिनिवेश तथा परिष्कार होता जाता है उसी क्रम से उसके काव्य में भी रमणीयता आती जाती है ।

मुक्तक-काव्य-रचना वाले कवि असंख्य हैं; किसी एक विषय (अथवा संकलन) की रचना वाले भी सैकड़ों होते हैं पर महाकाव्य की रचना करने वाले तो एक, दो ही हैं या तीन कठिनता से मिलते हैं ।

इस विषय में कहा भी है—प्रकीर्ण (अर्थात् मुक्तक) विषयों पर स्वेच्छा से पर्याप्त बातें कही जा सकती हैं पर-अर्थ-सम्बन्ध-युक्त प्रबन्ध का निर्माण कठिन है ।[1]

---

१. माघ २. ८२

रीतिं विचिन्त्य विगणय्य गुणान्विगाह्य
शब्दार्थसार्थमनुसृत्य च सूक्तिमुद्राः ।
कार्यो निबन्धविषये विदुषा प्रयत्नः
के पोतयन्त्ररहिता जलधौ प्लवन्ते ।।

लीढाभिधोपनिषदां सविधे बुधाना-
मभ्यस्यतः प्रतिदिनं बहुदृश्वनोऽपि ।
किञ्चित्कदाचन कथञ्चन सूक्तिपाकाद्
वाक्-तत्त्वमुन्मिषति कस्यचिदेव पुंसः ।।

इत्यनन्यमनोवृत्तेर्निःशेषेऽस्य क्रियाक्रमे ।
एकपत्नीव्रतं धत्ते कवेर्देवी सरस्वती ।।

सिद्धिः सूक्तिषु सा तस्य जायते जगदुत्तरा ।
मूलच्छायां न जानाति यस्याः सोऽपि गिरां गुरुः ।।"

राजा कविः कविसमाजं विदधीत । राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात् । स काव्यपरीक्षायै सभां कारयेत् । सा

विद्वान् (कवि) के लिये यह उचित है कि वह (वैदर्भी आदि) रीतियों का विचार कर, तथा (ओज माधुर्य आदि) गुणों को सम्यक् जानकर, शब्दार्थ-समूह का अनुसरण कर तथा सूक्तियों का अनुशीलन कर काव्य-निबन्धन में प्रयत्नशील हो । ऐसे कौन हैं जो बिना पोत के समुद्र में तैर जाँय ।

व्याकरण-शास्त्र में निष्णात विद्वज्जनों के समीप सतत अभ्यास करने वाले एवं बहुदृश्वा (बहुश्रुत) व्यक्तियों को ही कभी कभी किसी प्रकार थोड़ा सा सुन्दर काव्य-जन्य-वाक्यतत्त्व विकसित होता है (अर्थात् किसी विरले को ही सुन्दर काव्य-शक्ति सुलभ होती है ।)

इस प्रकार अनन्यवृत्ति वाले कवि के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों (काव्य-निर्माण) में सरस्वती देवी एक पत्नीव्रत को धारण करती है, अर्थात् उसकी वाणी सिद्ध होती है ।

इस प्रकार के कवि की सूक्तियों में वह अलौकिक सिद्धि सम्प्राप्त हो जाती है जिसके तत्त्व को बृहस्पति भी नहीं आँक सकते ।

राजा को कवि होना चाहिये तथा उसे कवि-समाज की संस्थापना करनी चाहिये । राजा के कवि होने पर सारा समाज ही कवि बन जाता है । उस

षोडशभिः स्तम्भैश्चतुर्भिर्द्वारैरष्टभिर्मत्तवारणीभिरुपेता स्यात्। तदनुलग्नं राज्ञः केलिगृहम्। मध्येसभं चतुःस्तम्भान्तरा हस्त-मात्रोत्सेधा समणिभूमिका वेदिका। तस्यां राजासनम्। तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो नविशेरन्। बहुभाषाकवित्वे यो यत्राधिकं प्रवीणः स तेन व्यपदिश्यते। यस्त्वनेकत्र प्रवीणः स सङ्क्रम्य तत्र तत्रोपविशेत्। ततः परं वेदविद्याविदः प्रामा-णिकाः पौराणिकाः स्मार्त्ता भिषजो मौहूर्त्तिका अन्येऽपि तथा-विधाः। पूर्वेण प्राकृताः कवयः ततः परं नटनर्त्तकगायन-वादकवाग्जीवनकुशीलवतालावचरा अन्येऽपि तथाविधाः।

पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः, ततः परं चित्रलेप्यकृतो माणिक्य बन्धका वैकटिकाः स्वर्णकारवर्द्धकिलोहकारा अन्येऽपि तथाविधाः।

दक्षिणतो भूतभाषाकवयः; ततः परं भुजङ्गगणिकाः प्लव-

राजा को काव्य-परीक्षा के लिए सभा करनी चाहिये। वह सभा सोलह खम्भों, चार द्वारों तथा आठ मत्त हाथियों से युक्त होनी चाहिये। उसी से लगा हुआ राजा का क्रीडा-गृह होना चापिए। सभा के बीच चार स्तम्भों के मध्य हाथ भर ऊँची मणि-युक्त वेदिका होनी चाहिए। उसी पर राजा का आसन हो। उस (आसन) के उत्तर ओर संस्कृत के कवियों को बैठाना चाहिए। (सस्कृत का कवि यदि अन्य भाषाओं का भी कवि हो तो कहाँ बैठे इस शङ्का का समाधान करते हुए कह रहे हैं—) यदि कोई बहुत-सी भाषाओं का कवि हो तो जिस भाषा में वह अधिक प्रवीण हो उसी नाम से वह पुकारा जाता है। जो अनेकों भाषाओं की कविता में प्रवीण हो वह समयानुसार उन-उन स्थानों पर बैठे (जिन भाषाओं में वह प्रवीण है।) तदनन्तर वेद-विद्या-विशारद, तार्किक (वा मीमांसक), पौराणिक, धर्मशास्त्र के विशेषज्ञ, वैद्य, ज्योतिषी तथा अन्य एतादृश व्यक्ति बैठें। राजा के आसन के पूर्व भाग में प्राकृत भाषा के कवि तथा उनके बाद नट, नर्तक, गायक, बाजा-बजाने वाले, कत्थक, नाटक करने वाले चरण-ताली बजाकर नाचने वाले तथा अन्य ऐसे व्यक्ति बैठें।

राजासन के पश्चिम तरफ अपभ्रंश भाषा के कवि तथा उनके बाद दीवार रंगने वाले, शिल्पकार, जौहरी, सोनार, बढ़ई, लोहार तथा अन्य ऐसे लोग बैठें। राजासन के दक्षिण ओर भूत-भाषा पैशाची के कवि तथा उनकी बगल

कशौभिकजम्भकमल्लाः शस्त्रोपजीविनोऽन्येऽपि तथाविधाः।

तत्र यथासुखमासीनः काव्यगोष्ठीं प्रवर्त्तयेद् भावयेत् परीक्षेत च। वासुदेवसातवाहनशूद्रकसाहसाङ्कादीन्सकलान्सभापतीन्दानमानाभ्यामनुकुर्यात्। तुष्टपुष्टाश्चास्य सभ्या भवेयुः स्थाने च पारितोषिकं लभेरन्। लोकोत्तरस्य काव्यस्य च यथार्हा पूजा कवेर्वा। अन्तरान्तरा च काव्यगोष्ठीं शास्त्रवादाननुजानीयात्। मध्वपि नानवदंशं स्वदते।

काव्यशास्त्रविरतौ विज्ञानिष्वभिरमेत। देशान्तरागतानां च विदुषामन्यद्वारा सङ्गं कारयेदौचित्याद्यावत्स्थितिं पूजां च। वृत्तिकामांश्चोपजपेत्। सङ्गृह्णीयाच्च। पुरुषरत्नानामेक एव राजोदन्वान्भाजनम्। राजचरितं च राजोपजीविनोऽप्यनुकुर्युः। राज्ञ एव ह्यसावुपकारो यद्राजोपजीविनां संस्कारः।

में विट, वेश्या, तैराक, जादूगर, दन्तोपजीवी, पहलवान तथा अन्य भी ऐसे शस्त्र से जीविका चलाये वाले लोग बैठें।

उस सभा में सुख-पूर्वक बैठा हुआ राजा काव्य-गोष्ठी कराये, कविताओं का आस्वादन करावे तथा परीक्षण करावे। वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक तथा साहसाङ्क आदि सभी प्राचीन नृपतियों को दान-मान से पीछे कर दे (अर्थात् इन प्राचीन राजाओं से भी बढ़ कवियों का सत्कर्ता हो)। इस राजा के सभी सभ्य (सभासद) तुष्ट-पुष्ट हों तथा उचित पारितोषिक पावें। लोकोत्तर काव्य अथवा कवि की योग्य पूजा होनी चाहिए। कविगोष्ठी के बीच-बीच में राजा को शास्त्रार्थ की भी आज्ञा देते रहनी चाहिये। मीठा पदार्थ भी (सतत रूप में) बिना जल के (अर्थात् रसान्तर के) अच्छा नहीं लगता।

काव्य-शास्त्र से विरक्त होने पर वैज्ञानिकों में समय बितावे। विदेश से आये विद्वानों को अन्यों से मिलावे तथा उनकी उचित पूजा करे। जो वृत्ति (नौकरी) के लिये आये हों उनसे भेंट करे और उनका (यदि संग्राह्य हों तो) संग्रह करे। पुरुष-रत्नों का एक मात्र राजा ही समुद्र रूपी आस्पद है। राजा के चरित्र का राजा के उपजीवी भी अनुकरण करें। राजा के उपजीवियों के संस्कार (सद्गुणों) से राजा की ही भलाई होती है।

महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत्। तत्र परीक्षोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पट्टबन्धश्च। श्रूयते चोज्ज्ञयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

"इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥"

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

"अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥"

इत्थं सभापतिर्भूत्वा यः काव्यानि परीक्षते।
यशस्यस्य जगद्व्यापि स सुखी तत्र तत्र च॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
कविचर्या राजचर्या च दशमोऽध्यायः॥

—:०:—

राजा को बड़े-बड़े नगरों में काव्य-शास्त्र परीक्षण के लिए ब्रह्म-सभा (विद्वत्सभा) करनी चाहिये। उस परीक्षा में उत्तीर्ण कवियों को ब्रह्मरथ की सवारी तथा पट्टबन्ध (तगमा अथवा रेशमी वस्त्र) दें। उज्जैनी में कवियों की परीक्षा सुनी जाती है—

इस विशाला (उज्जैनी) नगरी में कालिदास, भर्तृमेण्ठ, अमर, रूप, आर्यसूर, भारवि, हरिश्चन्द्र तथा गुप्त की परीक्षा हुई थी।

और पाटलिपुत्र में भी शास्त्र (व्याकरण-शास्त्र) के निर्माताओं की परीक्षा सुनी जाती है—

"यहीं आचार्य उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिङ्गल, व्याडि, वररुचि तथा पतञ्जलि परीक्षित हुये तथा कीर्ति को पाये।"

जो (राजा) इस प्रकार सभाध्यक्ष बनकर काव्य की परीक्षा करता है उसका यश समस्त संसार में व्याप्त हो जाता है तथा वह सर्वत्र सुखी होता है।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में
कविचर्या तथा राजचर्या नामक दसवाँ अध्याय समाप्त

११ शब्दार्थहरणोपायाः कविविशेषाः तत्र शब्दहरणोपायाः ।

परप्रयुक्तयोः शब्दार्थयोरुपनिबन्धो हरणम् तद् द्विधा परित्याज्यमनुग्राह्यं च । तयोः शब्दहरणमेव तावत्पञ्चधा-पदतः, पादतः, अर्द्धतः, वृत्ततः, प्रबन्धतश्च । "तत्रैकपदहरणं न दोषाय" इति आचार्याः । "अन्यत्र द्व्यर्थपदात्" इति यायावरीयः । तत्र श्लिष्टस्य श्लिष्टपदेन हरणम्—

"दूराकृष्टशिलीमुखव्यतिकरान्नो किं किरातानिमा-
नाराद्व्यावृतपीतलोहितमुखान्किं वा पलाशानपि ।
पान्थाः केसरिणं न पश्यत पुरोप्येनं वसन्तं वने
मूढा रक्षत जीवितानि शरणं यात प्रियां देवताम् ॥"

दूसरे द्वारा प्रयोग किये हुये शब्द तथा अर्थ का उपनिबन्धन (अर्थात् काव्य में प्रयोग) हरण कहा जाता है । वह दो प्रकार का है: १. परित्याज्य, और २. अनुग्राह्य । इनसे शब्दहरण ही पद, पाद, अर्थ, वृत्त तथा प्रबन्ध की दृष्टि से पाँच प्रकार का है । इस विषय में आचार्यों की राय है कि एक पद का हरण दोषकारक नहीं । पर, यायावरीय राजशेखर की राय में वह पद अन्यत्र यदि द्व्यर्थी हो तो दोष नहीं अन्यथा दोष है । श्लिष्टपद का श्लिष्ट पद के द्वारा हरण का उदाहरण निम्नलिखित है :

हे पथिको ! क्या तुम इन किरातों (म्लेच्छविशेष और वृक्षविशेषों) को जिन्होंने दूर से ही शिलीमुखों (बाणों और भ्रमरों) को आकृष्ट किया है, नहीं देखते ? क्या तुम इन पलाशों (पलाशवृक्ष और राक्षसों) को नहीं देखते, जिन्होंने समीप ही अपने मुखों की पीतिमा तथा लालिमा को प्रकट किया है ? क्या तुम सामने खड़े इस केशरी (सिंह तथा नागकेसर) को नहीं देखते । अरे मूर्खो ! अपने प्राणों की रक्षा करो और अपनी इष्ट देवता प्रिया (पत्नी और रक्षिका देवी) की शरण में जाओ ।[1]

---

१. पद्य को क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण में उद्धृत किया है ।

यथा च—

"मा गाः पान्थ प्रियां त्यक्त्वा दूराकृष्टशिलीमुखम् ।
स्थितं पन्थानमावृत्य किं किरातं न पश्यसि ॥"

शिलष्टपदैकदेशेन हरणम्—

"नाश्चर्यं यदनार्याप्तावस्तप्रीतिरियं मयि ।
मांसोपयोगं कुर्वीत कथं क्षुद्रहितो जनः ॥"

यथा च—

"कोपान्मानिनि किं स्फुरत्यतितरां शोभाधरस्तेऽधरः
किं वा चुम्बनकारणाद्दयित नो वायोर्विकारादयम् ।

(इस पद्य में शिलीमुख, किरात तथा केसरि पद श्लिष्ट हैं। इन्हीं के आधार पर निम्नलिखित पद्य में किसी कवि ने 'मा गाः' जोड़कर दूसरे पद्य का निर्माण कर दिया है—)

जैसे—हे पथिक ! प्रिया को छोड़कर मत जाइये। क्या दूर से ही आकृष्ट शिलीमुख (बाण और भ्रमर) वाले किरात (राक्षस और किंशुक) को नहीं देखते ?

(भाव यह है कि समय कामोद्दीपक है तथा मार्ग भयावह है अतः पथिक का जाना ठीक नहीं)।

श्लिष्टपद के एक देश के द्वारा हरण का उदाहरण—'इसमें आश्चर्य की क्या बात कि अनार्य से सङ्ग हो जाने पर उसने मेरे प्रति प्रेम को छोड़ दिया। क्षुधा-हीन व्यक्ति मांस खायेगा ही क्योंकर ?'

(मांसोपयोगं तथा क्षुद्रहितं में श्लेष होने से उनका विग्रह इस प्रकार है। मांसोपयोगं (मांस का उपयोग) और मां सोपयोगं (उपयोगी मुझको) तथा क्षुत् रहितः एवं क्षुद्र-हितः (ओछा हितवाला), जिससे दूसरा श्लिष्ट अर्थ होगा क्षुद्रहितवाला मेरा उपयोग क्यों करेगा !"

और भी—"हे मानिनि ! क्या तुम्हारा यह सुन्दर अधर क्रोध से या चुम्बन के कारण फड़क रहा है" इस प्रकार नायक से पूछे जाने पर नायिका ने कहा 'प्रिय ! यह अधर वायु-विकार के कारण फड़क रहा है' नायिका

तस्मात्सुभ्रु सुगन्धिमाहितरसं स्निग्धं भजस्वादरा-
न्मुग्धे मांसरसं ब्रुवन्निति तया गाढं समालिङ्गितः ॥"

शिलष्टस्य यमकेन हरणम्—

"हलमपारपयोनिधिविस्तृतं प्रहरता हलिना समराङ्गणे ।
निजयशश्च शशाङ्ककलामलं निरवधीरितमाकुलमासुरम् ॥"

यथा च—

"दलयता विशिखैर्बलमुन्मदं निरवधीरितमाकुलमासुरम् ।
दशसु दिक्षु च तेन यशः सितं निरवधीरितमाकुलमासुरम् ॥"

शिलष्टस्य प्रश्नोत्तरेण हरणम्—

"यस्यां भुजङ्गवर्गः कर्णायतेक्षणं कामिनीवदनं च ॥"

की बात सुनकर नायक ने कहा—'हे सुभ्रु ! हे मुग्धे ! यदि ऐसी बात है तो आनन्द-युक्त, शृङ्गार-रस-युक्त, स्निग्ध एवं सरस मुझ प्रियतम का सेवन करो'। नायक के इस प्रकार कहने पर नायिका ने दृढ़ता से उसका आलिङ्गन कर लिया।'

इस पद्य में मांसरसम्' में श्लेष है जिसका एक अर्थ तो मांस-रसम् (मांस-रस का सेवन करो') है और दूसरा 'मां सरसम्' (प्रेमयुक्त मेरा सेवन करो) है।

यमक के द्वारा श्लिष्ट पाद के हरण का उदाहरण—अपार पयोनिधि के समान विस्तृत हल से प्रहार करते हुए समर में बलराम जी ने असुर सेना को अत्यन्त चञ्चल कर दिया तथा चन्द्रकला के समान अपने श्वेत यश को पृथ्वी तथा स्वर्ग तक पहुँचा दिया।

और भी—उन्होंने (विष्णु) ने अपने बाणों से असुरों के उन्मत्त बल का दमन करते हुए अत्यन्त व्याकुल कर दिया तथा अपने श्वेत यश को भी दशों दिशाओं, भू-लोक तथा स्वर्ग में पहुँचा दिया।

(श्लिष्ट पद होने से आकुलम् का एक अर्थ व्याकुल तथा दूसरा 'कुलाचल पर्यन्तम् अर्थात् पृथिव्याम्' है और आसुरम् का एक अर्थ असुर वा राक्षस एवं दूसरा 'सुरलोक पर्यन्त' है।)

श्लिष्ट पद के प्रश्नोत्तर द्वारा हरण का उदाहरण—जिस नगरी में भुजङ्गवर्ग (विट, कामी) कर्म के समान दानी तथा रमणियों के वदन कान तक फैली आँखों वाले होते हैं।'

यथा च—

"किं करोति कियत्कालं वेश्यावेश्मनि कामुकः ।
कीदृशं वदनं वीक्ष्य तस्याः कर्णायतेक्षणम् ॥"

यमकस्य यमकेन हरणम्—

"वरदाय नमो हरये पतति जनोऽयं स्मरन्नपि न मोहरये ।
बहुशश्चक्रन्द हता मनसि दितिर्येन दैत्यचक्रं दहता ॥"

यथा च—

चक्रं दहतारं चक्रन्द हतारं खड्गेन तवाजौ राजन्नरिनारी ।
एवमन्योन्यसमन्वयेऽन्येऽपि भेदाः । नन्विदमुपदेश्यमेव न भवति ।
यदित्थं कथयन्ति—

और भी—प्रश्न—वेश्या के घर में कैसा मुख देखकर कामुक कितनी देर तक क्या करता है ?' उत्तर—कानों तक फैली आँखों वाले उसके मुख को देखकर वह कर्ण के समान (दानी) बन जाता है ।

(इस दूसरे उदाहरण में पहले वाक्य के श्लिष्टपद कर्णायतेक्षणम् का प्रश्नोत्तर के रूप में उपनिबन्धन किया गया है ।)

यमक के द्वारा यमक के हरण का उदाहरण—वरदान देनेवाले उन हरि (भगवान् विष्णु) को नमस्कार है जिनको स्मरण करने पर मानव मोह-प्रवाह में नहीं पड़ता और जिनके द्वारा दैत्य-समूह के निहत होने से कष्टापन्ना दिति ने विलाप किया ।[1]

और भी—हे राजन् । युद्ध में शत्रु (आरं)—मण्डल का संहार करते हुये तेरे खड्ग से प्रताड़ित शत्रु-स्त्रियाँ अत्यन्त जोर से रोने लगीं ।[2]

इसी प्रकार अन्योन्य (परस्पर एक दूसरे के) समन्वय से अन्य भी भेद होते हैं (जिनका विस्तार भय से अनुल्लेख है) । (यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि हरण (चोरी) तो उपदेश देने की वस्तु नहीं इसी शङ्का को उठाते हैं—) यह (हरण) तो उपदेश देने की वस्तु नहीं क्योंकि (इस विषय में) लोग ऐसा कहते हैं कि—

---

१. यह पद्य मानाङ्क के वृन्दावनयमककाव्य में उपलब्ध होता ।

२. रुद्रट, काव्यालंकार ३-४ ।

पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद्विशीर्यति ।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्यं च न शीर्यति ॥"

"अयमप्रसिद्धः प्रसिद्धिमानहम्, अयमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठावानहम्, अप्रक्रान्तमिदमस्य संविधानकं प्रक्रान्तं मम, गुडूचीवचनोऽयं मृद्वीकावचनोऽहम्, अनादृतभाषाविशेषोऽयमहमादृतभाषाविशेषः, प्रशान्तज्ञातृकमिदं, देशान्तरितकर्तृकमिदम्, उच्छिन्ननिबन्धनमूलमिदं, म्लेच्छितकोपनिबन्धमूलमिदमित्येवमादिभिः कारणैः शब्दहरणेऽर्थहरणे चाभिरमेत" इति अवन्तिसुन्दरी । "त्रिभ्यः पदेभ्यः प्रभृति त्वश्लिष्टेभ्यो हरणम्" इति आचार्याः—

यथा—

"स पातु वो यस्य जटाकलापे स्थितः शशाङ्कः स्फुटहारगौरः ।
नीलोत्पलानामिव नालपुञ्जे निद्रायमाणः शरदीव हंसः ॥"

मनुष्य की दूसरी चोरियां तो समय बीतने पर नष्ट हो जाती हैं (भूल जाती हैं) पर वाणी की चोरी पुत्र-पौत्रों तक नहीं मिटती ।

इस शङ्का का उत्तर अवन्तिसुन्दरी (राजशेखर की पत्नी) इस प्रकार से दे रही हैं—कवि को निम्नलिखित कारणों के आधार पर दूसरे के शब्द तथा अर्थहरण में संलग्न होना चाहिये—वह सोचे कि (जिसका वह शब्द वा अर्थहरण कर रहा है) 'वह अप्रसिद्ध है तथा मैं प्रसिद्ध हूँ, वह अप्रतिष्ठित है तथा मैं प्रतिष्ठित हूँ, उसका विषय पूर्व प्रचलित तथा मेरा नया है, उसका वचन कटु तथा मेरा मधुर है, वह अनादृत भाषा का कवि है तथा मैं आदृत भाषा का, इसका ज्ञाता नहीं है, इसका रचयिता विदेश में है, इसकी रचना का मूल नष्ट हो गया है, इसके रचना का मूल म्लेच्छ भाषा में है ।' आचार्यों का कथन है कि 'श्लेषहीन तीन पदों तक हरण हो सकता है ।'

जैसे—

'वे शङ्कर भगवान् आप लोगों की रक्षा करें जिनके जटा-समूह पर विराजमान श्वेत चन्द्रमा शरत्काल में नील-कमलों के नालपुञ्ज में सोते हुये हंस की शोभा को धारण करता है ।'

यथा च—

"स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु ।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु ॥"

"न" इति यायावरीयः । उल्लेखवान्पदसन्दर्भः परिहरणीयो नाप्रत्यभिज्ञायातः पादोऽपि । तस्यापि साम्ये न किञ्चन दुष्टं स्यात् ।

यथा—

"इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः ॥"

यथा च—

"इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं रामानुजन्मा विरराम मानी ।
संक्षिप्तमाप्तावसरं च वाक्यं सेवाविधिज्ञैः पुरतः प्रभूणाम् ॥"

और भी—

मारने से बचे हुये दैत्यगण अपनी प्रियाओं के सुन्दर नयन-कमलों में लगे अञ्जन को भी देखकर (भगवान् विष्णु के रंग के उस अञ्जन के होने से) समान वर्ण के कारण डरते हैं (भाव यह है कि काले अञ्जन को देख कर दैत्यों को समान रूप के कारण भगवान् विष्णु की स्मृति हो जाती है । (सुभाषितावलि में इसे चन्द्रककृत कहा गया है ।)

किन्तु राजशेखर के अनुसार त्रिपाद-हरण वाला आचार्यों का उपर्युक्त सिद्धान्त ठीक नहीं, क्योंकि उल्लेखवान् (प्रतिभानवान् = जिसके हरण में प्रतिभा का क्षय हो ऐसे) पद का हरण ठीक नहीं किंतु जो अत्यन्त प्रसिद्ध है उसका स्वीकरण (हरण) करना चाहिये । उसमें साम्य होने पर भी कोई दोष नहीं । जैसे—

'मन का समाधान करके जय के लिये उदारचेता महाराज युधिष्ठिर से इस प्रकार पूछे जाने पर द्वैपायन व्यास ने उनसे इस प्रकार उदार वाणी कही ।' (किरात, ३-१०)

और भी—रामानुज लक्ष्मण इस प्रकार रमणीय उक्ति कह कर चुप हो गये । सेवा-विधि के जानकार लोग स्वामियों के सामने संक्षिप्त तथा समयानुकूल बातें कहते हैं ।

उल्लेखवान्यथा—

"नमः संसारनिर्वाणविषामृतविधायिने ।
सप्तलोकोर्मिभङ्गाय शंकरक्षीरसिन्धवे ॥

यथा च—

"प्रसरद्बिन्दुनादाय शुद्धामृतमयात्मने ।
नमोऽनन्तप्रकाशाय शंकरक्षीरसिन्धवे ॥

"पाद एवान्यथात्वकरणकारणं न हरणम्, अपि तु स्वीकरणम्" इति आचार्याः ।

यथा—

"त्यागाधिकाः स्वर्गमुपाश्रयन्ते त्यागेन हीना नरकं व्रजन्ति ।
न त्यागिनां किञ्चिदसाध्यमस्ति त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥"

यथा च—

त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्तीत्यलीकमेतद्भुवि सम्प्रतीतम् ।
जातानि सर्वव्यसनानि तस्यास्त्यागेन मे मुग्धविलोचनायाः ॥"

उल्लेखवान् का उदाहरण—उस शङ्कररूपी क्षीरसागर को नमस्कार है जिसने संसाररूपी विष तथा मोक्षरूपी अमृत उत्पन्न किया है तथा सातों लोक जिसकी तरंगे हैं।

और भी—उस शङ्कर-स्वरूप-क्षीर-सागर को नमस्कार है जिसमें विन्दु तथा नाद सदा प्रसृत होते हैं और जो शुद्ध अमृतमय है तथा जिसमें अनन्त-प्रकाश है।

आचार्यों की राय है कि जहाँ एक पाद के द्वारा ही वैपरीत्य का कारण हो वहाँ इसे हरण न कहकर पूर्ववर्ती का स्वीकरण कहना चाहिये। जैसे—

उत्कृष्ट त्याग (दान) वाले व्यक्ति स्वर्ग जाते हैं तथा त्याग-हीन व्यक्ति नरक को जाते हैं। त्यागियों के लिये असाध्य कुछ भी नहीं है और त्याग के द्वारा सभी विपत्तियाँ नष्ट होती हैं।

और भी—'त्याग से सभी विपत्तियाँ दूर होती हैं' यह बात इस समय पृथ्वी पर असत्य मालूम पड़ती है, क्योंकि इस सुन्दरनयनी के त्याग से ही तो मेरे सभी व्यसन उत्पन्न हुये।

तदिदं स्वीकरणापरनामधेयं हरणमेव (इति यायावरीयः)। तद्वदर्द्धप्रयोगेऽपि। यथा—

"पादस्ते नरवर दक्षिणे समुद्रे
पादोऽन्यो हिमवति हेमकूटलग्ने।
आक्रामत्यलघु महीतलं त्वयीत्थं
भूपालाः प्रणतिमपास्य किन्नु कुर्युः॥"

यथा चोत्तरार्द्धे—

"इत्थं ते विधृतपदद्वयस्य राज-
न्नाश्चर्यं कथमिव सीवनी न भिन्ना॥"

एवं व्यस्तार्द्धप्रयोगेऽपि। यथा—

"तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महीयो
यावन्न तिग्मरुचिमण्डलमभ्युदेति।
अभ्युद्गते सकलधामनिधौ तु तस्मि-
न्निन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः॥"

तो यह हरण ही है जिसका दूसरा नाम स्वीकरण है। इसी प्रकार आधे श्लोक के हरण पर भी मानना चाहिये। जैसे—

हे राजन्! जब तुमने एक पैर दक्षिण सागर तथा दूसरा पैर हिमालय पर रखकर विस्तृत महीतल को आक्रान्तकर लिया तो अन्य राजा प्रणति के सिवा और क्या कर सकते थे?

और जैसी उत्तरार्ध में—हे राजन्! इस प्रकार आपके दो पैरों के रखे जानें पर आश्चर्य है कि सीवनी (दो जंघाओं की जोड़) कैसे फट न गयी।

इस प्रकार आधे के व्यस्त (अस्तव्यस्त=छिटफुट) प्रयोग होने पर भी (हरण ही होता है।) जैसे—

चन्द्रमा का प्रकाश तभी तक बड़ा है जब तक कि सूर्य-मण्डल उदित नहीं हो जाता। सम्पूर्ण तेजों की राशिभूत उस सूर्यमण्डल के उदित होने पर सफेद बादल के टुकड़े और चन्द्रमा में क्या भेद रह जाता है अर्थात् दोनों समान हो जाते हैं।[1]

---

१. यह प्रकाशदत्त का बताया जाता है।

यथा च—

"तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महीयो
यावन्न किञ्चिदपि गौरितरा हसन्ति।
ताभिः पुनर्विहसिताननपङ्कजाभि-
रिन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः॥"

पाद एवान्यथात्वकरणं न स्वीकरणं पादोनहरणं वा। यथा—

"अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे।
न्यासापह्नवने चैव दिव्या सम्भवति क्रिया[1]॥"

यथा चोत्तरार्द्धे—

"तन्वङ्गी यदि लभ्येत दिव्या सम्भवति क्रिया।"

यथा वा—

"यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः॥"

और जैसे—चन्द्रमा का प्रकाश तभी तक महत्त्व रखता है जब तक अत्यन्त गौरवर्ण वाली नायिकायें नहीं हँसती। उन ललनाओं के मुखकमलों में हास्य आने पर चन्द्रमा तथा बादल के स्वच्छ टुकड़े में अन्तर नहीं रह जाता।

जहाँ केवल एक पाद को ही हटा कर नया श्लोक गढ़ दिया गया है वह स्वीकरण नहीं अपितु हरण ही है और वह एक पाद-रहित हरण है। जैसे—

वन में, निर्जन स्थान में, रात्रि में, घर में, साहस[1] में और धरोहर (न्यास) के गोपन में अलौकिक क्रिया होती है।

और जैसे इसी के उत्तरार्ध में परिवर्तन करने पर—'यदि सुन्दरी मिल जाय तो दिव्य क्रिया होती है।'

अथवा जैसे—जिन भगवान् के केशों में मेघ, अंगों की सभी सन्धियों में नदियाँ और कुक्षि में चारों समुद्र हैं उन जलरूप भगवान् को नमस्कार है।

---

१. यह पद्य नारदस्मृति २.३० से उद्धृत है। साहस का विवरण नारदस्मृति में इस प्रकार है:

सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चित् बलदर्पितैः। तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते
मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्शनम्। पारुष्यं द्विविधं ज्ञेयं साहसं च चतुर्विधम्॥

नारदस्मृति १४. १–२

यथा चोत्तरार्द्धे—

"कुक्षौ समुद्राश्चत्वारः स सहेत स्मरानलम् ।"

भिन्नार्थानां तु पादानामेकेन पादेनान्वयनं कवित्वमेव ।

यथा—

"किमिह किमपि दृष्टं स्थानमस्ति श्रुतं वा
व्रजति दिनकरोऽयं यन्न नास्तं कदाचित् ।
भ्रमति विहगसार्थानित्थमापृच्छमानो
रजनिविरहभीतश्चक्रवाको वराकः ॥"

यथा च—

"जयति सितविलोलव्यालयज्ञोपवीती
　　घनकपिलजटान्तर्भ्रान्तगङ्गाजलौघः ।
अविदितमृगचिह्नामिन्दुलेखां दधानः
　　परिणतशितिकण्ठश्यामकण्ठः पिनाकी ।"

और जैसे उत्तरार्ध में परिवर्तन करने पर—और जिनकी कुक्षि में चारों समुद्र हैं वही कामदेव की अग्नि को सह सकते हैं।

जहाँ भिन्न-भिन्न अर्थों में अन्वित होने वाले पदों से एक पाद लेकर उससे एक नया वाक्य अन्वित कर दिया जाय वहाँ कवित्व ही है (भाव यह है कि जहाँ कई वाक्यों के एक-एक पद को नये वाक्य तथा अर्थ में संघटित कर दिया जाय वहाँ हरण न मानकर कवित्व ही मानना चाहिये।) जैसे—

रात्रि-जन्य विरह से भीत बेचारा चकवा पक्षिगणों से पूछता फिर रहा है कि क्या आप लोगों ने ऐसा भी कोई स्थान देखा वा सुना है जहाँ सूर्य अस्त नहीं होता।

और जैसे—उन शङ्कर भगवान् की जय हो जो सफेद सर्पों के दोलायमान यज्ञोपवीत को धारण करते हैं, जिनकी घनी तथा पिङ्गल जटाओं में गंगा की जलराशि भ्रमित होती रहती है तथा जो मृग-चिह्न से रहित चन्द्रलेखा को धारण करते हैं।

यथा च—

"कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिललितानां ही विचित्रो विपाकः ॥"

यथा च—

"किमिह किमपि दृष्टं स्थानमस्ति श्रुतं वा
घनकपिलजटान्तर्भ्रान्तगङ्गाजलौघः ।
निवसति स पिनाकी यत्र यायां तदस्मिन्
हतविधिललितानां ही विचित्रो विपाकः ॥"

पादोनवत्कतिपयपदप्रयोगोऽपि यथा—

"या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।

और जैसे—प्रातःकाल सूर्य उदित होते हैं चन्द्रमा अस्त हो जाते हैं; कुमुद-वन की शोभा जाती रहती है, कमलों की श्री-वृद्धि होती है; उल्लू दुःखी हो जाते हैं; चकवे प्रसन्न हो जाते हैं; भाग्य से मारे गये लोगों का फल बड़ा विचित्र होता है ।[1]

और जैसे (इन्हीं उपर्युक्त तीन वाक्यों के एक-एक पदों के हरण से इस वाक्य की संघटना की गयी है)—क्या किसी ने ऐसे भी स्थान को यहाँ देखा वा सुना है जहाँ जिनकी सघन जटाओं में गंगा की जलराशि घूमा करती है वे पिनाकधारी महादेव रहते हैं। उसी स्थान पर मैं जाऊँगा। यहाँ दुर्दैव की चेष्टा बड़ी विचित्र है ।

एक पाद-रहित के समान (पादोनवत्) ही पतिपय पदों के प्रयोग होने पर भी न तो हरण ही होता है और न स्वीकरण । जैसे—

हे क्षीरसागरशायी भगवन् ! संसार में दो दृष्टियाँ होती हैं—एक तो कवियों की रसास्वादन करने वाली नवीन वाणी तथा दूसरी परिनिष्ठित अर्थ विषयों के विवेचन में व्यस्त वैदुषी । परन्तु हे भगवन् ! इन दोनों

---

१. माघ ११. ६४ ।

ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥"

यथा च चतुर्थपादे—
"श्रान्तां नैव च लब्धमुत्पलदृशां प्रेम्णः समानं सुखम् ॥"

पादैकदेशग्रहणमपि पदैकदेशोपलक्षणपरम्। यथा—

"असकलहसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥"

यथा चोत्तरार्धे—
"पिबतु मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
मयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः।"

दृष्टियों का आश्रयण लेकर विश्व का सतत अन्वीक्षण करते-करते हम थक गये किन्तु आपकी भक्ति के समान सुख (इन दोनों में से किसी के द्वारा भी) नहीं मिला।

टिप्पणी—यह श्लोक ध्वन्यालोक-लोचन में उद्धृत है।

और जैसे (इसी के) चतुर्थ पाद में परिवर्तन करके (यह बना दिया) हम थक गये पर कमलनयनियों के प्रेम के समान सुख नहीं पाया।

पाद के एक अंश का ग्रहण भी पद के एक अंश के ग्रहण का उपलक्षण (चिह्न वा प्रतिनिधि) है। जैसे—

(कोई व्यक्ति कुन्तल देश के मंत्री से कह रहा है—) हे अमात्य ! कुन्तलाधीश आप पर राज्य का सम्पूर्ण भार सौंप कर प्रियाओं के मधु-सुगन्धित मुखों का पान कर रहा है, जो मुख अस्पष्ट हास्य से निकली कान्ति से मार्जित-से हैं तथा जिनमें लगे कर्णोत्पल आँखों के अधखुली होने से स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं अर्थात् यदि आँख रूपी कमल भी खुल जांय तो उनके सामने कर्णोत्पल श्री-हीन हो जायेंगे।

और इसी के उत्तरार्द्ध में परिवर्तन करके यह बन गया—मेरे ऊपर भार सौंप कर कुन्तलेश्वर प्रियाओं के मधु-सुगन्धित मुख का पान करें।

वाक्यस्यान्यथा व्याख्यानमपि न स्वीकरणं हरणं वा ।

यथा—

"सुभ्रु ! त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ता कथा योषितां
दूरादेव मयोज्झिताः सुरभयः स्रग्दामधूपादयः ।
कोपं रागिणि मुञ्च मय्यवनते दृष्टे प्रसीदाधुना
सद्यस्त्वद्विरहाद्भवन्ति दयिते सर्वा ममान्धा दिशः ॥"

एतच्च कान्ताप्रसादनपरं वाक्यं कुपितदृष्टिपरतया व्याख्यातं, न स्वीकृतं हृतं वा । यत्तु परकीयं स्वीयमिति प्रोक्तानामन्यतमेन कारणेन विलपन्ति, तन्न केवलं हरणम्, अपि तु दोषोदाहरणम् । मुक्तकप्रबन्धविषयं तत् । मूल्यक्रयोऽपि हरणमेव । वरमप्राप्तिर्यशसो न पुनर्दुर्यशः ।

(सभापतिस्तु द्विधा, उपजीव्य, उपजीवकश्च । तत्रोप-

वाक्य (अर्थात् पूरे श्लोक के वाक्य) का अन्य रूपेण व्याख्यान भी, न तो स्वीकरण है न हरण ही । जैसे—

हे सुन्दर भौंहों वाली प्रिये ! तुम क्रुद्ध हो ऐसा जानकर मैंने भोजन छोड़ दिया, युवतियों की चर्चा छोड़ दी, सुगन्धित मालायें गन्ध-धूपादि को भी दूर से ही त्याग दिया । मुझे पैरों पड़ा देख कर अब तो मुझ पर प्रसन्न हो जा । तुम्हारे विना सारी दिशायें शून्य हो गयी हैं ।

टिप्पणी—यहाँ ईर्ष्या-मान-विषण्ण प्रिया को प्रसन्न करने की चेष्टा प्रतीत हो रही है पर वस्तुतः यह अक्षि-रोग-पीड़ित किसी व्यक्ति का अपनी दृष्टि से कथन है, द्रष्टव्य-कुवलयानंद कारिका १५५ से आगे की वृत्ति । सरस्वतीकण्ठाभरण में भी यह पद्य व्याख्यात है ।

नायिका को प्रसन्न करने के लिये प्रयुक्त इस वाक्य की ही व्याख्या क्रुद्ध दृष्टि के लिये भी किया गया है पर वह दृष्टि-परक व्याख्या भी न तो स्वीकरण है और न हरण ही । जो लोग (उपरि) वर्णित कारणों में से किसी कारणवश परकीय काव्य को अपना बताते हैं वह केवल हरण ही नहीं है अपितु अपने दोष को भी दर्शाना है । यह मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों पर समान रूपेण लागू होता है । मूल्य देकर किसी कृति को खरीदना भी हरण है । यश की अप्राप्ति अच्छी है पर अपयश की प्राप्ति अच्छी नहीं ।

(सभापति दो प्रकार का होता है—उपजीव्य और उपजीवक । केवल

जीवनमात्रेण न कश्चिद्दोषः। यतः सर्वोऽपि परेभ्य एव व्युत्पद्यते, केवलं तत्र समुदायो गुरुः[1]) "तद्वदुक्तिहरणम्" इति आचार्याः।

यथा—

"ऊरुद्वयं[2] सरसकदलीकाण्डसब्रह्मचारि।"

यथा च—

"ऊरुद्वयं कदलकन्दलयोः सवंशं[3]
श्रोणिः शिलाफलकसोदरसन्निवेशा।
वक्षः स्तनद्वितयताडितकुम्भशोभं
सब्रह्मचारि शशिनश्च मुखं मृगाक्ष्याः॥"

उक्तयो ह्यर्थान्तरसङ्क्रान्ता न प्रत्यभिज्ञायन्ते, स्वदन्ते च; तदर्थास्तु हरणादपि हरणं स्युः" इति यायावरीयः।

उपजीवन (पराश्रयण) से कोई दोष नहीं क्योंकि सभी दूसरे से ही व्युत्पन्न होते हैं केवल अन्तर यही है कि वहां समुदाय गुरु होता है) आचार्यों का कथन है कि खरीदने के समान ही किसी की उक्ति का हरण भी दोशावह है।

जैसे—'कामिनी के ऊरु-द्वय सरस कदली के समान हैं।'

और जैसे—मृगाक्षी का ऊरुयुग्म (दोनों जांघें) केले की कोंपलों के समान हैं, श्रोणि (नितम्ब) शिलापट्ट के समान निर्मित हैं, वक्ष ने स्तनद्वय के द्वारा कुम्भों की शोभा को जीत लिया है तथा मुख चन्द्रमा के समान है।

यायावरीय राजशेखर का मत है कि प्राचीन कवियों की उक्तियां यदि अर्थान्तर में नियोजित की जायें तो पहचानी तो नहीं ही जाती, साथ ही साथ स्वाद-जनक भी होती है, किन्तु उक्तियों के अर्थ का हरण तो हरण से हरे गये के समान है अर्थात् उक्त्यर्थ का हरण ठीक नहीं।

---

१. अन्य प्रतियों में कोष्ठाङ्कित शब्दों का अभाव है।
२. ऊरुद्वन्द्व पाठान्तर।
३. सदंश-पाठान्तर।

"नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः ।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥
उत्पादकः कविः कश्चित्कश्चिच्च परिवर्त्तकः ।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः ॥
शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम् ।
उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः ॥"

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे एकादशोऽध्यायः शब्दहरणानि ॥

कवि और व्यापारी चौर न हों-ऐसी बात नहीं (अर्थात् ये दोनों चोर तो होते ही हैं) पर जो कवि वा वणिक्) छिपाना जानता है वह अनिन्दित होकर आनन्द उठाता है ।

कोई कवि (अर्थ वा वृत्तान्त का) उत्पादक होता है, कोई परिवर्तन-कारी होता है, कोई आच्छादाक होता है और दूसरा संवर्गक (वा अनेक काव्यार्थ-ग्राही) ।

जो शब्दार्थोक्तियों में कुछ नवीनता देखे तथा पहले कोई नई बात उल्लि-खित करे उसे महाकवि मानना चाहिये ।

टिप्पणी—काव्य-चौर्य के विषय में बाणभट्ट की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी तुलनीय है :

सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे गृहे ।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव ॥

अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्धचिह्ननिगूहनैः ।
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते ॥

—हर्षचरित १.६-७

काव्यमीमांसा का ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।

द्वादशोऽध्यायः ।

१२. अर्थहरणोपायाः, कविप्रभेदाः, प्रतिबिम्ब-कल्पविकल्पस्य समीक्षा च ।

"पुराणकविक्षुण्णे वर्त्मनि दुरापमस्पृष्टं वस्तु, ततश्च तदेव संस्कर्तुं प्रयतेत" इति आचार्याः । "न" इति वाक्पतिराजः ।

"आसंसारमुदारैः कविभिः प्रतिदिनगृहीतसारोऽपि ।
अद्याप्यभिन्नमुद्रो विभाति वाचां परिस्यन्दः ॥"

तत्प्रतिभासाय च परप्रबन्धेष्ववदधीत । "तदवगाहने हि तदेकयोनयोऽर्थाः पृथक् पृथक् प्रथन्ते" इत्येके । "तत्रत्यानामर्थानां छायया परिवृत्तिः फलम्" इत्यपरे । महात्मनां हि

(पूर्व अध्याय में शब्द-हरण का निर्देश कर अब इस अध्याय में अर्थ-हरणादि का विवेचन प्रारम्भ कर रहे हैं—) प्राचीन आचार्यों का मत है कि काव्य-मार्ग का प्राचीन कवियों ने सम्यक् अभ्यास किया है अतः उनसे अछूती वस्तु कठिनता से मिल सकती है अतः कवियों का कर्त्तव्य है कि वे प्राचीन कवियों से अभ्यस्त वस्तु का ही संस्कार करें (भाव यह है कि कुछ प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से प्राचीन कवियों से अछूता कोई विषय ही न रहा अतः नवीन कवि को उसी प्राचीन-चर्चित वस्तु का संस्कार करना चाहिये) । किन्तु (गौडवध के कर्त्ता) वाक्पतिराज (इस विचार के विरोधी हैं और वे) कहते हैं कि 'नहीं' ।

यह वाग्देवी का स्रोत असीमित है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से ही कवि-जन प्रतिदिन इसका सार-ग्रहण करते रहे, पर आज तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ ।

अतः उसकी प्राप्ति के लिए दूसरे के प्रबन्धों का मनन करना चाहिये । कुछ लोगों की राय है कि दूसरे के प्रबन्ध का अध्ययन करने से एक ही अर्थ पृथक्-पृथक् रूप से ख्यात होते हैं । कुछ लोगों की राय में इस अध्ययन से इन भावों की छाया अध्येता पर पड़ जाती है और उनका परिवर्तन हो जाता है ।

संवादिन्यो बुद्धय एकमेवार्थमुपस्थापयन्ति, तत्परित्यागाय तानाद्रियेत" इति च केचित्। "न" इति यायावरीयः। सारस्वयं चक्षुरवाङ्मनसगोचरेण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातं स्वयं विभजति।

तदाहुः—सुप्तस्यापि महाकवेः शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति। तदितरस्य तत्र जाग्रतोऽप्यन्धं चक्षुः। अन्यदृष्टचरे ह्यर्थे महाकवयो जात्यन्धास्तद्विपरीते तु दिव्यदृशः। न तत् त्र्यक्षः सहस्राक्षो वा यच्चर्मचक्षुषोऽपि कवयः पश्यन्ति। मतिदर्पणे कवीनां विश्वं प्रतिफलति। कथं नु वयं दृश्यामह इति महात्मनामहम्पूर्विकयैव शब्दार्थाः पुरो धावन्ति। यत्सिद्धप्रणिधाना योगिनः पश्यन्ति, तत्र वाचा विचरन्ति कवयः इत्यनन्ता महाकविषु सूक्तयः (इति)।

कुछ लोगों के विचार में महात्माओं की बुद्धियाँ समान होती हैं और एक ही अर्थ को प्रकट करती हैं। इस एकार्थता को न आने देने के लिये पर-प्रबन्धों का अध्ययन जरूरी है। पर राजशेखर कहते हैं कि 'नहीं'। सारस्वत दृष्टि मन-वाणी से अगोचर ध्यान के द्वारा दृष्ट-अदृष्ट सभी पदार्थों का विभाग कर देती है।

इस विषय में कहा भी है—महाकवि की सुषुप्त्यवस्था में भी सरस्वती देवी उसे शब्दार्थ का दर्शन करा देती हैं किन्तु काव्य-शक्ति विहीन पुरुष के जागते रहने पर भी दृष्टि अन्धी रहती है। दूसरे कवियों द्वारा दृष्ट (वर्णित) विषय में महाकवि अन्धे होते हैं अर्थात् दूसरे द्वारा वर्णित विषय की ओर वे देखते तक नहीं, पर अन्य लोगों द्वारा अदृष्ट विषयों में दिव्यदृष्टि वाले होते हैं अर्थात् वे उसी का वर्णन करते हैं। अपनी चर्म-चक्षुओं से कविगण जिन-जिन पदार्थों को देखते हैं उसे त्र्यक्ष (शङ्कर) और सहस्राक्ष (इन्द्र भी) नहीं देखते। कवियों के बुद्धिरूपी दर्पण पर विश्व का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उन महात्मा कवियों के सामने सभी शब्दार्थ 'मैं पहले देखा जाऊँ इस प्रकार होड़ लगाकर आते हैं। जिस वस्तु को योगिजन समाधि के द्वारा देखा करते हैं वहाँ कविजन वाणी द्वारा विचरण करते हैं'—ऐसी असंख्यों सूक्तियाँ महाकवियों के विषय में प्रसिद्ध हैं।

"समस्तमस्ति" किन्तु त्रिपथमर्थमध्यगीष्महि। इति यायावरीयः। यदुतान्ययोनिर्निह्नुतयोनिरयोनिश्च। तत्रान्ययोनिर्द्विधा प्रतिबिम्बकल्पः, आलेख्यप्रख्यश्च। निह्नुतयोनिरपि द्विधा तुल्यदेहितुल्यः परपुरप्रवेशसदृशश्च।

अयोनिः पुनरेकादृश एव। तत्र—

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात् ॥

यथा—

"ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः
　　कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः।
चन्द्रामृताम्बुकणसेकसुखप्ररूढै-
　　र्यैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः ॥"

राजशेखर का कथन है कि महाकवियों में उपर्युक्त सभी वैशिष्टय तो हैं ही; किन्तु अर्थ को हम तीन प्रकार से पढ़ते हैं। अर्थात् प्रामुख्येन अर्थ तीन प्रकार का है, १ अन्ययोनि (दूसरे द्वारा उत्पादित); २. निह्नुत-योनि (जिसको उत्पत्ति का ज्ञान न हो) और ३. अयोनि (जिसे स्वयं कवि ने उद्भावित किया है[1])। इनमें अन्ययोनि भी दो प्रकार का है: १. प्रतिबिम्बकल्प, और २. आलेख्यप्रख्य। निह्नुत-योनि भी दो प्रकार का है: १. तुल्यदेहितुल्य; और पर-पुर-प्रवेशसदृश। अयोनि एक प्रकार का ही है[2]। इनमें प्रत्येक का लक्षण उदाहरण देते हुये कहते हैं:

जहाँ प्राचीन कवि का सभी अर्थ ले लिया गया हो और भेद केवल वाक्य-विन्यास में हो तथा तात्त्विक भेद विहीन हो उसे प्रतिबिम्बकल्प कहते हैं।

जैसे--भगवान् शङ्कर के कण्ठ-प्रदेश में विराजित काले भ्रमरों की कान्ति वाले वे सर्प आपलोगों की रक्षा करें जिनके द्वारा चन्द्रकिरणों के सिञ्चनों के सुख से उत्पन्न अङ्कुर जैसा कालकूट-विष शोभित होता है।

---

१. वामन के अनुसार यह दो प्रकार का है—अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिश्च। अयोनिरकारणः अवधानमात्रकारण इत्यर्थः। अन्यस्य काव्यस्य छाया तद्योनिः॥ —काव्यालङ्कार सूत्र ३. २. ७।

२. इसका अर्थ एकादृते भी किया गया है।

यथा च—

"जयन्ति नीलकण्ठस्य कण्ठे नीला महाहयः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव ।।"

क्रियताऽपि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद्भाति ।
तत्कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ।।

तत्रैवार्थे यथा—

"जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दाङ्कुरा इव ।।"

विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात् ।
तत्तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽत्र ।।

यथा—

"अवीनादौ कृत्वा भवति तुरगो यावदवधिः
पशुर्धन्यस्तावत्प्रतिवसति यो जीवति सुखम् ।
अमीषां निर्माणं किमपि तद्भूद्दग्धकरिणां
वनं वा क्षोणीभृद्भवनमथवा येन शरणम् ।।"

और जैसे—नीलकण्ठ शङ्कर के गले में स्थित काले महासर्पों की जय हो जो टपकते हुए गंगाजलों से सिक्त कालकूट के अङ्कुर जैसे हैं ।

जहां प्राचीन कवि द्वारा उद्भावित वस्तु कुछ संस्कार कर देने से प्राचीन से भिन्न प्रतीत हो उसे अर्थ-चतुर लोग आलेख्य-प्रख्य कहते हैं ।

उसी अर्थ में जैसे—शङ्कर के जटा-जूट में रहने वाले श्वेत सर्पों की जय हो जो प्रवाहित गंगा-जल से सिक्त होकर चन्द्रमा-रूपी कन्द के अङ्कुर प्रतीत होते हैं ।

जिस काव्य में विषय के भेद-रहने पर भी अत्यन्त सादृश्यवशात् अभेद प्रतीत हो उसे तत्तुल्यदेहितुल्य नाम से अभिहित किया गया है और ऐसे काव्य की रचना विद्वान् भी करते हैं । जैसे—

वह घोड़ा धन्य है जो भेड़ आदि पशुओं को आगे रख कर सुख से जीता है । इन दुष्ट हाथियों का आविर्भाव तो व्यर्थ ही है क्योंकि इनका वास-स्थल या तो वन है या राज-महल ।

अत्रार्थे—

"प्रतिगृहमुपलानामेक एव प्रकारो
　　मुहुरुपकरणत्वादर्घिताः पूजिताश्च ।
स्फुरति हतमणीनां किन्तु तद्धाम येन
　　क्षितिपतिभवने वा स्वाकरे वा निवासः ॥"

मूलैक्यं यत्र भवेत्परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः ।
तत्परपुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम् ॥

यथा—

"यस्यारातिनितम्बिनीभिरभितो वीक्ष्याम्वरं प्रावृषि
स्फूर्जद्गर्जितनिर्जिताम्बुधिरवस्फाराभ्रवृन्दाकुलम् ।
उत्सृष्टप्रसभाभिषेणनभयस्पष्टप्रयौदाश्रुभिः
किञ्चित्कुञ्चितलोचनाभिरसकृद् घ्राताः कदम्बानिलाः ॥"

अत्रार्थे—

"आच्छिद्य प्रियतः कदम्बकुसुमं यस्यारिदारैर्नवं
यात्राभङ्गविधायिनो जलमुचां कालस्य चिह्नं महत् ।

इसी अर्थ में—प्रत्येक घरों में पत्थरों का एक ही प्रकार है और वे सतत उपयोग से सम्मानित तथा पूजित होते हैं। किन्तु इन मणियों का प्रकाश या तो खान में ही या राजगृहों में होता है।

जहाँ मूल में तो एकता हो पर प्रबन्ध रचना पर्याप्तरूपेण भिन्न हो उसे परपुर–प्रवेश–सदृश कहा जाता है। यह काव्य सत्कवि-ग्राह्य है।

जैसे—जिस राजा की शत्रु-वनिताओं ने वर्षा-काल में अपने चारों ओर फैलती गर्जनाओं से समुद्र के गर्जन को भी परास्त करने वाले मेघ-वृन्द से व्याप्त आकाश को देखकर बलपूर्वक सेनाभिगमन-जन्य भय को छोड़कर आनन्दाश्रुओं को बरसाया तथा उन वामनयनियों ने बार-बार कदम्ब-सुवासित वायु को सूंघा।

(भाव यह है कि वर्षा-काल में विजय–प्रयाण नहीं होता अतः वर्षाकाल आ जाने पर शत्रु–नारियां युद्ध की आशंका छोड़ प्रसन्न हो जाती हैं।)

इसी अर्थ में—जिस राजा की शत्रु–रमणियों ने रण-यात्रा को समाप्त करने वाले वर्षाकाल के महान् चिह्न-भूत नवीन कदम्ब-कुसुम को प्रियतमों

हृष्यद्भिः परिचुम्बितं नयनयोर्न्यस्तं हृदि स्थापितं
सीमन्ते निहितं कथञ्चन ततः कर्णावतंसीकृतम् ॥"

तदेतच्चतुष्टयनिबन्धनाश्च कवीनां द्वात्रिंशद्धरणोपायाः। अमीषां चार्थानामन्वर्था अयस्कान्तवच्चत्वारः कवयः पञ्चमश्चादृष्टचरार्थदर्शी। तदाहुः—

"भ्रामकश्चुम्बकः किञ्च कर्षको द्रावकश्च यः।
स कविर्लौकिकोऽन्यस्तु चिन्तामणिरलौकिकः॥

तन्वानोऽनन्यदृष्टत्वं पुराणस्यापि वस्तुनः।
योऽप्रसिद्ध्यादिभिर्भ्राम्यत्यसौ स्याद् भ्रामकः कविः॥

यश्चुम्बति परस्यार्थं वाक्येन स्वेन हारिणा।
स्तोकार्पितनवच्छायं चुम्बकः स कविर्मतः॥

परवाक्यार्थमाकृष्य यः स्ववाचि निवेशयेत्।
समुल्लेखेन केनापि स स्मृतः कर्षकः कविः॥

के हाथों से छीन कर प्रसन्नतापूर्वक चूमा, आँख में लगाया, हृदय पर रखा, सीमन्त में रखा तथा किसी प्रकार कर्णावतंस बनाया।

इन उपर्युक्त चार प्रकार के कवियों के हरण के ३२ हरण-प्रकार हैं। इन चारों अर्थों के अनुकूल ही चार प्रकार के कवि उसी भाँति होते हैं जैसे चुम्बक लोहा को आकृष्ट करता है और उसी नाम से पुकारा जाता है और पाँचवाँ अदृष्ट विषयों का दर्शक होता है। इस विषय में कहते हैं—

भ्रामक, चुम्वक, कर्षक और द्रावक—ये चार प्रकार के लौकिक कवि होते हैं; इनके अतिरिक्त पाँचवे प्रकार का अलौकिक कवि है जिसे चिन्तामणि कहते हैं।

भ्रामक कवि वह है जो प्राचीन वस्तु को भी दूसरे द्वारा न कही गयी बताता है और अप्रसिद्ध आदि कारणों से लोगों को भ्रम में डाले रहता है।

जो कवि अपने नये मनोहर वाक्य के द्वारा दूसरे के अर्थ को अंगीकार कर लेता है तथा उसमें किञ्चित् नवीनता का भी पुट दे देता है उसे चुम्बक कवि कहते हैं।

जो व्यक्ति किसी उल्लेख-वश दूसरे से वाक्यार्थ को लेकर नवीन काव्य गढ़ता है उसे कर्षक कवि कहते हैं।

अप्रत्यभिज्ञेयतया स्ववाक्ये नवतां नयेत् ।
यो द्रावयित्वा मूलार्थं द्रावकः स भवेत्कविः ॥
चिन्तासमं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः ।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः ॥"

तस्य चायोनिरर्थः । स च त्रिधा लौकिकालौकिकभेदेन, तयोर्मिश्रत्वेन च । तत्र लौकिकः—

"मा कोशकारलतिके वह वर्णगर्वं
किं डम्बरेण चणिके तव कौसुमेन ।
पुण्ड्रेक्षुयष्टिरियमेकतरा चकास्तु
या स्यन्दते रसमृतेऽपि हि यन्त्रयोगात् ॥"

अलौकिकः—

"देवी पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्युद्भुजे
हर्षाद् भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डयालिङ्गिते ।

द्रावक कवि वह है जो किसी दूसरे के मूल वाक्य को पिघला कर नवीनता का सञ्चार करते हुए अपने काव्य में मिला ले तथा किसी दूसरे को पता न चले ।

जिसके सोचते ही एकमात्र रसभरी तथा विचित्र अर्थ वाली कविता जिसे पुराने अच्छे कवियों ने भी न देखा था प्रादुर्भूत होती है उसे चिन्तामणि कवि कहते हैं । वह अद्वितीय होता है ।

इस चिन्तामणि कवि का अर्थ (भाव, कल्पना) मौलिक (अयोनि) होता है । अयोनि अर्थ तीन प्रकार का होता है, यह भेद लौकिक, अलौकिक और लौकिकालौकिक तीन प्रकार का होता है । लौकिक का उदाहरण निम्नलिखित है ।

हे कोशकारलते ! (यह गन्ने का एक भेद है) अपने रूप का गर्व मत ढोवो; हे चणिके ! तेरा पुष्पाडम्बर व्यर्थ है । तुम लोगों से तो यह पुण्ड्र ईख ही भली है जो मशीन के बिना भी रस-स्राव करती है । (यह तीनों कोशकारलतादि भौतिक जगत् से सम्बद्ध हैं अतः यह लौकिक का उदाहरण है ।)

अलौकिक का उदाहरण देखिये—"देवी (पार्वती) ने पुत्र उत्पन्न किया है, हे गणों ! बैठे क्या हो, उठो और नाचो" इस प्रकार भृंगिरिटि नामक गण ने कहा । इसी समय चामुण्डा ने (हर्षातिरेक से) इसका आकर आलिङ्गन

पायाद्वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानप्रवृत्तिस्तयो-
रन्योन्याङ्कनिपातजर्जरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः ।।"

मिश्रः—

"स्थिते कुक्षेरन्तर्मुरजयिनि निःश्वासमरुतो
जनन्यास्तन्नाभीसरसिजपरागोत्करमुचः ।
निपीताः सानन्दं रचितफणचक्रेण हलिना
समन्तादस्यासुः प्रतिदिवसमेनांसि भवतः ।।"

तेषां च चतुर्णामर्थानाम्—

चत्वार एते कथिता मयैव येऽर्थाः कवीनां हरणोपदेशे ।
प्रत्येकमष्टत्ववशाद्भवन्ति द्वात्रिंशता तेऽनुगताः प्रभेदैः ।।

तत्र प्रतिबिम्बकल्पविकल्पाः । स एवार्थः पौर्वापर्यविपर्यासाद् व्यस्तकः ।

किया। इस प्रकार उन दोनों के शरीर में लगी सूखी अस्थि-मालाओं की रगड़ से जो ध्वनि हुई उसने देव-दुन्दुभि-रव को भी दबा दिया। ऐसी ध्वनि आप लोगों की रक्षा करे।[1]

टिप्पणी—यह श्लोक सदुक्तिकर्णामृत में योगेश्वरकृत कहा गया है; भोजदेव ने सरस्वती-कण्ठाभरण में इसे उद्धृत किया है और सूक्तिमुक्तावली में इसे त्रिविक्रमभट्टकृत कहा गया है।

मिश्र का उदाहरण—मुर राक्षस को जीतने वाले भगवान् श्रीकृष्ण की गर्भावस्था में उनकी नाभि-कमल के पराग से सुवासित जो वायु माता देवकी के श्वास से निकला उसे फणाटोप करने वाले बलराम जी ने पी लिया, वे निःश्वास-वायु आप लोगों के पापों को सभी ओर से काटें।

(यह मिश्रण इसलिये है कि इसमें कृष्ण दैवी तथा देवकी लौकिक प्राणी हैं)

पहले जो चार प्रकार के भेद योनि के (प्रतिबिम्बकल्प, आलेख्यप्रख्य, तुल्यदेहितुल्य, परपुरप्रवेशसदृश) कहे गये हैं--इन मेरे द्वारा कहे गये चारों भेदों में से प्रत्येक आठ-आठ उपभेद हैं। इस प्रकार भेदोपभेद ३२ (बत्तीस) हो जाते हैं।

इन चारों में प्रथम प्रतिबिम्बकल्प के भेदों का वर्णन किया जाता है। प्रथम भेद व्यस्तक नाम का है। इसमें पूर्व अर्थ को उत्तर (बाद) में और उत्तर अर्थ को पूर्व में कर दिया जाता है। जैसे—

---

१. भृङ्गिरिटि गण का आख्यान वामनपुराण में सविस्तर वर्णित है।

यथा—

"दृष्ट्वान्येभं छेदमुत्पाद्य रज्ज्वा
यन्तुर्वाचं मन्यमानस्तृणाय ।
गच्छन्दध्रे नागराजः करिण्या
प्रेम्णा तुल्यं बन्धनं नास्ति जन्तोः ॥"

अत्रार्थे—

"निर्विवेकमनसोऽपि हि जन्तोः प्रेमबन्धनमश्रृङ्खलदाम ।
यत्प्रति प्रतिगजं गजराजः प्रस्थितश्चिरमधारि करिण्या ॥"

बृहतोऽर्थस्यार्द्धप्रणयनं खण्डम् ।

"पुरा पाण्डुप्रायं तदनु कपिशिम्ना कृतपदं
ततः पाकोद्रेकादरुणगुणसंवर्गितवपुः ।
शनैः शोषारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमं
वने वीतामोदं बदरमरसत्वं कलयति ॥"

जब गजराज ने अपने सामने दूसरे हाथी को देखा तो रस्सी का बन्धन तोड़ डाला और महावत की आज्ञा की अवहेलना कर उसी ओर दौड़ा। उस समय हथिनी ने उसे रोका। प्राणियों का प्रेम के समान अन्य कोई बन्धन नहीं है।

इसी अर्थ में देखिये—विवेक-हीन प्राणियों के लिये भी प्रेम-बन्धन शृङ्खला-विहीन रस्सी है अर्थात् वस्तुतः वह रस्सी न होते हुये भी रस्सी है क्योंकि प्रतिपक्षी गजराज के प्रति प्रस्थित गजराज को हथिनी ने देर तक रोक दिया।

(इस परवर्ती उदाहरण में पहली रचना के ही भाव को कुछ हेर-फेर के साथ प्रतिष्ठित किया है।)

(दूसरे खण्ड नामक भेद को वर्णित करते हुए कह रहे हैं—)

किसी विशाल अर्थ में से आधे का वर्णन खण्ड कहा जाता है। जैसे—

बेर पहले पाण्डु रङ्ग का होता है, फिर कुछ कपिश रङ्ग उस पर आता है और तदनन्तर पकने पर लालिमा आ जाती है। फिर धीरे-धीरे सूखने लगने पर ऊँचा-नीचा तथा कृश हो जाता है और इस प्रकार वह रस समाप्त हो जाने पर वन में नीरसता को प्राप्त होता है।

अत्रार्थे—

"पाकक्रियापरिचयप्रगुणीकृतेन संवर्द्धितारुणगुणं वपुषा निजेन।
आपादितस्थपुटसंस्थितिशोषपोषादेतद्वने विरसतां बदरं बिभर्त्ति॥"

संक्षिप्तार्थविस्तरेण तैलबिन्दुः।

यथा—

"यस्य तन्त्रभराक्रान्त्या पातालतलगामिनी।
महावराहदंष्ट्राया भूयः सस्मार मेदिनी॥"

अत्रार्थे—

"यत्तन्त्राक्रान्तिमज्जत्पृथुलमणिशिलाशल्यवेल्लत्फणान्ते
क्लान्ते पत्यावहीनां चलदचलमहास्तम्भसम्भारसीमा।
सस्मार स्फारचन्द्रद्युति पुनरवनिस्तद्धिरण्याक्षवक्षः-
स्थूलास्थिश्रेणिशाणानिकषणसितमप्याशु दंष्ट्राग्रमुग्रम्॥"

अन्यतमभाषानिबद्धं भाषान्तरेण परिवर्त्यंत इति नटनेपथ्यम्।

यथा—

"नेच्छइ पासासंकी काओ दिण्णं पि पहिअघरिणीए।

इसी अर्थ में—पकने की क्रिया में वृद्धि होने पर बेर अपने शरीर में लाल रङ्ग को प्राप्त होता है फिर सूखने लगने पर ऊँचे-नीचे शरीर वाला हो जाता है और इस प्रकार वन में वैरस्य को प्राप्त होता है।

संक्षिप्त अर्थ को विस्तृत करने पर तैलविन्दु नामक भेद होता है। जैसे—

जिस राजा के सैन्य-भार से पाताल को जाने वाली पृथिवी ने पुनः भगवान् वराह के दाढ़ों को याद किया।

इसी अर्थ में यह है—

जिस राजा की सेना के भार से दबती हुई मणियों की शिला-रूपी कीलों के फण के अग्रभाग में चुभने से भगवान् शेष नाग के श्रान्त हो जाने पर चलायमान पर्वतों को धारण करने वाली पृथ्वी ने पुनः हिरण्याक्ष के कठोर वक्षःस्थल की अस्थियों के समूहरूपी शाण पर भगवान् वराह के उग्र दाँतों को स्मरण किया।

जब कोई परवर्ती किसी भाव को पूर्ववर्ती कवि से लेता है पर अपनी भाषा को बदल देता है तो उसे नटनेपथ्य की संज्ञा दी गई है। जैसे—

पथिक की गृहिणी (प्रोषितपतिका नायिका) के द्वारा दिये गये पिण्ड को जो कि उसके हाथ से गिरे कङ्कण के मध्य में स्थित है कौआ जाल की

ओहत्तकरयलोग्गलियवलयमज्झदिट्ठिअं पिण्डं ।

अत्रार्थे—

"दत्तं पिण्डं नयनसलिलक्षालनाधौतगण्डं
द्वारोपान्ते कथमपि तया सङ्गमाशानुबन्धात् ।
वक्रग्रीवश्चऊनतशिराः पार्श्वसञ्चारिचञ्चुः
पाशाशङ्की गलितवलयं नैनमश्नाति काकः ॥"

छन्दसा परिवृत्तिश्छन्दोविनिमयः ।

यथा—

"कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनात्
तद्वासः श्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम् ।
एतावत्सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः ॥"

आशङ्का से ग्रहण नहीं करता । भाव यह है कि जब प्रोषितभर्तृका नारी कौए को पिण्ड दे रही थी उसी समय कृशता-वश उसका कङ्कण नीचे गिर गया और उसी के बीच पिण्ड पड़ा । उस कङ्कण को कौआ जाल समझने लगा ।

टिप्पणी—इस पद्य का संस्कृत रूपान्तर निम्नलिखित है—

"नेच्छति पाशाशङ्की काको दत्तमपि पथिकगृहिण्या ।
अनवरतकरतलोद्गतवलयमध्यस्थितं पिण्डम् ।"

इसी अर्थ में यह भी है—उस नायिका ने पति-मिलन की आशा से आँखों से आँसू ढाल कर कपोल को भिगोते हुये द्वार के समीप ही कौए के लिये पिण्ड दिया । इस समय उसका कङ्कण जमीन पर गिर गया जिसे बन्धन समझकर कौआ गर्दन झुकाकर, शिर को नीचा तथा चञ्चल कर एवं नजर को इधर-उधर दौड़ाते हुये नहीं खाता ।

एक ही अर्थ को केवल छन्द को परिवर्तन करके उपन्यस्त करना छन्दो विनिमय कहा गया है । जैसे—

कोई सखी अपनी सखी से प्रिय-मिलन-कालिक अवस्था का वर्णन करते हुये कह रही है—हे सखि ! प्रियतम के शय्या पर आते ही मेरी नीवी (वस्त्र की गांठ) स्वयं खुल गयी और वस्त्र शिथिल-मेखला की रस्सी में फँस कर कुछ नितम्ब पर रुक गये । हे सखि ! उसके मिलन में केवल इतना

अत्रार्थे—

"धन्यास्तु याः कथयथ प्रियसङ्गमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥"

कारणपरावृत्त्या हेतुव्यत्ययः ।

यथा—

'ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतरुचिः शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥"

अत्रार्थे—

"समं कुसुमचापेन गर्भिणीगण्डपाण्डुना ।
उदयाद्रिशिरःसीम्नि निहितं पदमिन्दुना ॥"

ही मैं जान सकी। वह कौन है, मैं कौन हूँ, क्या मैंने रमण किया और कैसे किया इसकी मुझे जरा भी याद नहीं।[1]

टिप्पणी—कुछ पाठान्तर के साथ शृङ्गार-शतक में यह पद्य उपलब्ध है।

इसी अर्थ में यह है—हे सखियो! वे प्रियतमायें धन्य हैं जो प्रिय-मिलन होने पर रमण-काल के बीच में विश्वासपूर्वक चापलूसियाँ किया करती हैं। मैं तो शपथ खाकर कहती हूँ कि ज्योंही प्रियतम ने नीवी पर हाथ रखा कि सब भूल गयी।

टिप्पणी—सूक्तिसंग्रहों में यह पद्य विज्जकाकृत कहा गया है। पहला छन्द शार्दूल-विक्रीडित है और दूसरा वसन्ततिलका।

कारण को उलट देने पर हेतु-व्यत्यय हुआ करता है। जैसे तदनन्तर सूर्य-सारथि अरुण के सञ्चार से मन्दीकृत तेज वाले चन्द्रमा ने काम-परिक्षीणा नायिका के गण्डस्थल की पाण्डुता को धारण किया।[2]

इसी अर्थ में देखिये—गर्भिणी स्त्री के गण्ड की पाण्डुता के समान पीले चन्द्रमा ने कामदेव के साथ उदयाचल पर पैर रक्खा।[3]

---

१. अमरुक शतक १०१

२. यह वाल्मीकिकृत माना जाता है।

३. तुलना०

ततः कुमुदनाथेन गर्भिणीगण्डपाण्डुना ।
उदयाद्रिशिरःसीम्नि निहितं पदमिन्दुना ॥ —महाभारत, द्रोणपर्व

दृष्टस्य वस्तुनोऽन्यत्र संक्रमितिः सङ्क्रान्तकम् । यथा—

"स्नानार्द्रार्द्रैर्विधुतकबरीबन्धलोलैरिदानीं
श्रोणीभारः कृतपरिचयः पल्लवैः कुन्तलानाम् ।
अप्येतेभ्यो नभसि पततः पङ्क्तिशो वारिबिन्दून्
स्थित्वोद्ग्रीवं कुवलयदृशां केलिहंसाः पिबन्ति ॥"

अत्रार्थे—

"सद्यःस्नातजपत्तपोधनजटाप्रान्तस्रुताः प्रोन्मुखैः
पीयन्तेऽम्बुकणाः कुरङ्गशिशुभिस्तृष्णाव्यथाविक्लवैः ।
एतां प्रेमभरालसां च सहसा शुष्यन्मुखीमाकुलः
श्लिष्यन् रक्षति पक्षसम्पुटकृतच्छायः शकुन्तः प्रियाम् ॥"

उभयवाक्यार्थोपादानं सम्पुटः । यथा—

"विन्ध्यस्याद्रेः परिसरनदी नर्मदा सुभ्रु सैषा
यादोभर्त्तुः प्रथमगृहिणीं यां विदुः पश्चिमस्य ।

किसी एक स्थान पर देखी वस्तु का अन्यत्र (विषयान्तर में) संक्रमण करना संक्रान्त नामक भेद है । यथा—

कमलनयनियों की केश-ग्रंथि स्नान करने से सिक्त होने के कारण छूट गयी है और चञ्चल बाल कमर तक लटक आये हैं इन बालों से टपकते हुये जल-बिन्दुओं को केलि-हंस गर्दन ऊपर उठाकर आसमान में ही पी जाते हैं ।

इसी अर्थ में यह है—तृष्णा की व्यथा से व्याकुल हिरणों के बच्चे तुरन्त नहाकर जप कर रहे तपस्वियों की जटाओं की कोरों से चू रहे जल-कणों को ऊपर मुख उठा कर पी रहे हैं । पक्षी प्रेमोन्मत्ता अपनी प्रिया की जिसका मुख सूख रहा है आलिङ्गन करते हुये पंखों की छाया में कर रक्षा कर रहा है ।

इस उदाहरण में प्रथम श्लोक में कहे भाव को कुछ परिवर्तन के साथ दूसरे उदाहरण के पूर्वार्धं में संक्रामित कर दिया गया है ।

दो विभिन्न वाक्यों के भावों का एक वाक्य में उपादान करना सम्पुट कहा गया है । यथा—

हे सुन्दर भौंहोंवाली प्रिये ! यह वही नर्मदा नदी है जो विन्ध्याचल की तलहटी में बहती है और जिसे पश्चिम सागर की प्रथम गृहिणी (पटरानी)

यस्यामन्तः स्फुरितशफरत्रासहासाकुलाक्षी
स्वैरं स्वैरं कथमपि मया तीरमुत्तारितासि ॥"

यथा—

'नाभीगुहाबिलविशच्चलवीचिजात-
मञ्जुध्वनिश्रुतिकणत्कलकुक्कुभानि ।
रेवाजलान्यविरलं ग्रहिलीक्रियन्ते
लाटाङ्गनाभिरपराह्णनिमज्जनेषु ॥"

अत्रार्थे—

"यद्वग्र्याभिर्जगाहे गुरुशकुलकुलास्फालनत्रासहास-
व्यस्तोरुस्तम्भिकाभिर्दिशि दिशि सरितां दिग्जयप्रक्रमेषु ।
अम्भो गम्भीरनाभीकुहरकवलनोन्मुक्तिपर्यायलोलत्-
कल्लोलाबद्धमुग्धध्वनिचकितरणत्कुक्कुभं कामिनीभिः ॥"

सोऽयं कवेरकवित्वदायी सर्वथा प्रतिबिम्बकल्पः परि-
हरणीयः ।

के रूप में लोग जानते हैं। इसी नदी को मछली के फुदकने से जब तुझे भय तथा हंसी हुई थी मैंने धीरे-धीरे किसी प्रकार पार कराया था।

और जैसे—लाट देश की ललनायें अपराह्ण-स्नान के समय रेवा के जल को जो उनकी नाभि में जाकर मधुर ध्वनि करता है और उसे सुनकर जल-मुर्गियाँ शब्द करती हैं गन्दा कर डालती हैं।

इसी अर्थ में यह है—

हे राजन् ! आप के दिग्विजय के उद्यम में समान अवस्था की नायिकायें प्रत्येक दिशाओं की नदियों में बड़ी-बड़ी मछलियों के फुदकने से डर जाती हैं और हँसने लगती हैं और उनकी जाँघें थक जाती हैं। और उनके गम्भीर नाभि-गह्वरों में जल जाकर इधर-उधर चञ्चल होकर भटकने लगता है जिससे मधुर ध्वनि होती है और उसे सुनकर कुक्कुट चकित होकर शब्द करने लगते हैं।

यह प्रतिबिम्बकल्प कवि को अकवित्वदायी है और इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

यतः—

"पृथक्त्वेन न गृह्णन्ति वस्तु काव्यान्तरस्थितम् ।
पृथक्त्वेन न गृह्णन्ति स्ववपुःप्रतिबिम्बितम् ॥"

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे शब्दार्थहरणोपायाः कविप्रभेदाः प्रतिबिम्बकल्पविकल्पस्य समीक्षा द्वादशोऽध्यायः ॥

क्योंकि—

दूसरे काव्य में स्थित वस्तु का पार्थक्य के साथ ग्रहण नहीं करना चाहिये अर्थात् उसे मूल लेखककृत मानना चाहिये । अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को पृथक् रूपेण नहीं लेते अर्थात् अपना ही मानते हैं ।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में शब्दार्थहरणोपाय, कविप्रभेद प्रतिबिम्बकल्पविकल्प की समीक्षा नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त ।

त्रयोदशोऽध्यायः

१३ अर्थहरणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदाः

आलेख्यप्रख्यपरिसङ्ख्याः । सदृशश्चारणं समक्रमः ।

यथा—

"अस्ताद्रिवेश्मनि दिशो वरुणप्रियाया-
स्तिर्यक्कथश्चिदपयन्त्रणमास्थितायाः ।
गण्डैकपार्श्वमिव कुङ्कुमपङ्कचुम्बि
बिम्बं रुचामधिपतेरगुणं रराज ॥ १ ॥"

यथा च—

"प्राग्दिशः प्रतिकलं विलसन्त्या कुङ्कुमारुणकपोलतलेन ।
साम्यमेति कलितोदयरागः पश्य सुन्दरि तुषारमयूखः ॥"

(पूर्व के अध्याय में अर्थहरण के प्रसङ्ग में अन्ययोनि अर्थ के दो भेद बताये गये हैं—प्रतिबिम्बकल्प तथा आलेख्यप्रख्य । प्रतिबिम्बकल्प तथा उसके उपभेदों का वर्णन बारहवें अध्याय में हो चुका है । अब इस अध्याय में अन्ययोनि के दूसरे भेद आलेख्यप्रख्य का विवेचन करते हैं ।)

अब आलेख्यप्रख्य की गणना (अर्थात् भेदों की विवेचना) की जाती है । (आलेख्यप्रख्य के आठ भेद हैं—१. समक्रम, २. विभूषण–मोष, ३. व्युत्क्रम, ४. विशेषोक्ति ५. उत्तंस ६. नट–नेपथ्य, ७. एक–परिकार्य और ८. प्रत्यापत्ति । इन आठों का क्रमशः विवेचन प्रारम्भ करते हैं ।) समक्रम का अर्थ है सदृशसञ्चार अर्थात् समान अर्थ का संक्रमण करना । जैसे—

'किसी प्रकार तिरछी बैठी हुई वरुणप्रिया पश्चिमदिशा-रूपी नायिका के कुंकुम–लिप्त एक कपोलमात्र की भाँति अस्ताचल-रूपी घर में चन्द्र (या सूर्य) का बिम्ब बिना किसी गुण (कान्ति) के शोभित हुआ ।'

और जैसे—'हे सुन्दरि ! देखो चन्द्रमा उदयकालिक राग की वृद्धि से कुंकुम–युक्त कपोल के द्वारा प्रतिक्षण विकसित होती हुई पूर्व दिशा की समानता को प्राप्त करता है ।'

(इन उदाहरणों की क्रमिक साम्यता स्पष्ट ही है ।)

अलङ्कृतमनलङ्कृत्याभिधीयत इति विभूषणमोषः ।

यथा—

"कुवलयसिति मूले बालचन्द्राङ्कुराभं
तदनु खलु ततोऽग्रे पाकपीताम्रपीतम् ।
अभिनवरविरोचिर्धूमधूम्रं शिखाया-
मिति विविधविकारं दिद्युते दैपमर्चिः ॥"

अत्रार्थे—

"मनाङ् मूले नीलं तदनु कपिशोन्मेषमुदरे
ततः पाण्डु स्तोकं स्फुरदरुणलेखं च तदनु ।
शिखायामाधूम्रं धृतविविधवर्णक्रममिति
क्षणादर्चिर्दैपं दलयति तमःपुञ्जितमपि ॥"

क्रमेणाभिहितस्यार्थस्य विपरीताभिधानं व्युत्क्रमः ।

अलङ्कार-युक्त अर्थ को अनलङ्कृतरूप में उपन्यस्त करना विभूषण-मोष कहा जाता है । जैसे—

दीपक की ज्योति नाना प्रकार के विकारों को प्रदर्शित करती है । वह प्रारम्भ (मूल) में नीलकमल के समान, उसके अनन्तर नवोदित चन्द्रमा की आभावाली, उसके बाद पक्व आम्र के समान पीतवर्ण की, तदनन्तर सद्यः उद्भूत सूर्य की कान्ति के समान और शिखा पर धूम्र के समान मलिन वर्ण वाली प्रकाशित है ।

इसी अर्थ में यह है—'दीपक की लौ क्षणमात्र में अन्धकार की राशि को नष्ट कर देती है । वह मूल में किञ्चित् काली उसके बाद उदर-देश में कपिश वर्ण की, उसके अनन्तर किञ्चित् पाण्डुवर्ण की उसके बाद लालवर्ण की तथा शिखा-प्रदेश में धूम्र वर्ण की है । इस प्रकार वह नाना वर्णों को धारण करती है ।"

(यहाँ पूर्व के पद्य में कवि दीपक की लौ का बहुत सी उपमाओं के साथ वर्णन करता है । दूसरे पद्य में केवल लौ का स्वभाव वर्णित है और यहाँ उपमाओं का आश्रय नहीं लिया गया है । यह प्रतिबिम्ब-कल्प के खण्ड नामक भेद से बहुत भिन्न नहीं है ।)

किसी क्रम से कहे अर्थ का उसके विपरीत क्रम से कथन व्युत्क्रम कहा जाताहै ।

यथा तत्रैव—

"श्यामं शिखाभुवि मनागरुणं ततोऽधः
स्तोकावपाण्डुरघनं च ततोऽप्यधस्तात् ।
आपिञ्जरं तदनु तस्य तले च नील-
मन्धं तमःपटलमर्हति दैवमर्चिः ॥"

सामान्यनिबन्धे विशेषाभिधानं विशेषोक्तिः ।

यथा—

"इत्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती-
संलापसंचलितलोचनमानसाभिः ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥"

जैसे उसी वर्णन में—

दीपक की ज्योति तमःपटल का विनाश करती है। वह शिखाग्र-प्रदेश में श्याम वर्ण की, उसके नीचे ईषद् रक्त वर्ण की, उसके नीचे किञ्चित् पाण्डु वर्ण की, उसके वाद पीत वर्ण की तथा सवसे नीचे नील वर्ण की होती है।

(इस उदाहरण में पूर्वोद्धृत पद्य में वर्णित अर्थ के क्रम को उलट दिया गया है। अतः यह व्युत्क्रम का उदाहरण है व्युत्क्रम नामक भेद प्रतिविम्व कल्प के व्यत्यस्तक से भिन्न नहीं प्रतीत होता।)

जहाँ सामान्य अर्थ का विशेष रूप से उल्लेख हो वहाँ विशेषोक्ति होती है (यहाँ भी यह टांकने योग्य है कि विशेषोक्ति प्रतिविम्बकल्प के भेद तैलबिन्दु से अधिक भिन्न नहीं। इन भेदों के उदाहरणों में भी याथातथ्य साम्य द्रष्टव्य है।)

जैसे—

प्रियतम की दूतियों के साथ (प्रिय के विषय में) वार्तालाप करते रहने के कारण मन तथा आँखों के चञ्चल रहने से रमणियाँ चन्दनादि लेप तथा वस्त्रादि को विपरीत क्रम से धारण कर लेती हैं और चन्द्रोदय होने पर सखियों के हास्य का कारण बनती हैं।[1]

---

१. यह पद्य दशरूपकावलोक २ में उपलब्ध होता है।

अत्रार्थे—

"चकार काचित्सितचन्दनाङ्के काञ्चीकलापं स्तनभारपृष्ठे ।
प्रियं प्रति प्रेषितचित्तवृत्तिर्नितम्बबिम्बे च बबन्ध हारम् ॥"

उपसर्जनस्यार्थस्य प्रधानतायामुत्तंसः ।

यथा—

"दीपयन्नथ नभः किरणौघैः कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः ।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधेरुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः ॥"

अत्रार्थे—

"ततस्तमः श्यामलपङ्ककञ्चुकं विपाटयत्किञ्चिद्दृश्यतान्तरा ।
निशातरुण्याः स्थितशेषकुङ्कुमस्तनाभिरामं सकलं कलावतः ॥"

इसी अर्थ में यह भी है—

किसी नायिका ने प्रियतम के पास चित्तवृत्ति को भेज देने के कारण श्वेतचन्दन के आस्पद-भूत स्तनप्रदेश में काञ्ची (करधनी) को पहन लिया तथा नितम्ब-प्रदेश में हार पहन लिया ।

(यहाँ पूर्वोद्धृत पद्य में प्रिय-प्रेम-प्रवणा नायिकाओं के सामान्य मतिविभ्रम का वर्णन है । पर, दूसरे उदाहरण में इसी सामान्य अर्थ का किसी विशेष नायिका से सम्बद्ध वर्णन किया गया है । अतः यह विशेषोक्ति का उदाहरण है ।)

उपसर्जन अर्थ अर्थात् गौण अर्थ को मुख्य रूप देना उत्तंस कहा जाता है । जैसे—

कुङ्कुम-रंजित स्तन की भांति गौरवर्ण का चन्द्रमा अपने किरणसमूहों से आकाश को प्रकाशित करता हुआ पूर्व सागर से स्वर्ण-कलश की भाँति धीरे-धीरे उदित हुआ ।[1]

इसी अर्थ में यह है—

तदनन्तर तमरूपी श्यामलवस्त्र की चोली को खोलता हुआ चन्द्रमा का टुकड़ा आकाश में निशा-नायिका के किञ्चित् कुङ्कुमावशिष्ट स्तन की भाँति सुन्दर प्रतीत हुआ ।

(प्रथम उदाहरण में चन्द्रमा की नायिका के उरोजों से उपमा स्वर्ण पात्र के साथ चन्द्रमा की उपमा से गौण है । पर, दूसरे उदाहरण में पहले

---

१. किरात, ९. २३

तदेव वस्तूक्तिवशादन्यथा क्रियत इति नटनेपथ्यम् ।

यथा—

"आननेन्दुशशलक्ष्मकपोले सादरं विरचितं तिलकं यत् ।
तत्प्रिये विरचितावधिभङ्गे धौतमीक्षणजलैस्तरलाक्ष्याः ॥"

अत्रार्थे—

"शोकाश्रुभिर्वासरखण्डितानां सिक्ताः कपोलेषु विलासिनीनाम् ।
कान्तेषु कालात्ययमाचरत्सु स्वल्पायुषः पत्रलता बभूवुः ॥"

परिकरसाम्ये सत्यपि परिकार्यस्यान्यथात्वादेकपरिकार्यः ।

उदाहरण की गौण उपमा को ही प्रधान बना दिया गया है । अतः यह उत्तंस का उदाहरण है)।

जहाँ एक ही अर्थ कथन-परिपाटी से अन्यथा अर्थात् भिन्नरूप में कर दिया जाय वहाँ नट-नेपथ्य होता है ।

'मुखरूपी चन्द्रमा के लक्ष्य (चिह्न, कालिमा) के समान नायिका के कपोल पर प्रिय ने जो काला तिलक लगाया था उसे उस चञ्चलाक्षी नायिका ने प्रियतम के निश्चित समय पर न आने पर आँखों के आँसुओं से धो डाला ।'

इसी अर्थ में यह उदाहरण है—

वासरखण्डिता (भ्रष्टावसरा) नायिकाओं के कपोलों पर चिह्नित पत्रलतायें प्रियतमों के निश्चित समय पर न आने पर शोकाश्रुओं से सींची जाकर स्वल्प आयुवाली हो गयी ।[1]

(यहाँ दोनों पद्यों में एक ही भाव है, यद्यपि पहले में तिलक का शोकाश्रुसे घुलना वर्णित है, जबकि दूसरे में पत्रालय का स्वल्प जीवन बताया गया है ।)

उपाय अर्थात् अलङ्कार के एक रहने पर भी अलंकार्य में भेद होने पर एकपरिकार्य नामक भेद होता है । जैसे—

---

१. यद्यपि इस पद्य में नायिका का विशेषण खण्डिता दिया गया है पर यहाँ वर्णित नायिका खण्डिता न होकर विप्रलब्धा या वञ्चिता ही है । दोनों के लक्षण ये हैं—

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंयोगचिह्नितः ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥
प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति सन्निधिम् ।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता ॥

अव्याद् गजेन्द्रवदनः स इमां त्रिलोकीं
यस्योद्गतेन गगने महता करेण ।
मूलावलग्नसितदन्तबिसाङ्कुरेण
नालायितं तपनबिम्बसरोरुहस्य ॥"

अत्रार्थे—

"सरलकरदण्डनालं गजवपुषः पुष्करं विभोर्जयति ।
मूलबिसकाण्डभूमौ यत्राभूदेकदंष्ट्रैव ॥"

विकृतेः प्रकृतिप्रापणं प्रत्यापत्तिः ।

यथा—

"रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥"

वे गजानन (गणेश जी) इस त्रिलोकी की रक्षा करें जिनकी आकाश में उठी हुई सूंड़ सूर्य बिम्बरूपी कमल की नाल जैसी है और इस सूंड़ रूपी नाल के मूल में अवस्थित दन्त बिस (कमल तन्तु) जैसा लगता है ।'

और इसी अर्थ में यह है—

'विभु भगवान् गजानन के शुण्डाग्र रूपी कमलकी जय हो जिसमें सीधी सूंड ही कमल नाल के समान है और जिनका एक दन्त ही बिसकाण्ड के स्थान पर है ।

(पूर्व का पद्य सुभाषितावली में उद्‌धृत है । यह गणपतिकृत बताया जाता है । कुछ लोग इसे विद्यापति का भी मानते हैं । प्रथम श्लोक में सूर्य-बिम्ब में कमल का आरोप है जबकि दूसरे में शुण्डाग्र में ही कमल का आरोप है । रूपक अलङ्कार दोनों में है । पर अलङ्कार्य—सूर्य-बिम्ब और शुण्डाग्र—दोनों में भिन्न-भिन्न है ।)

जहाँ विकृत अर्थात् अप्रकृत अर्थ को प्रकृत अर्थात् स्वाभाविक स्थिति में प्राप्त करा दिया जाय वहाँ प्रत्यापत्ति नामक भेद होता है । जैसे—

सूर्य में संक्रमित सौभाग्यवाला तथा हिमाच्छन्न मण्डल वाला चन्द्रमा उसी भांति प्रकाशित नहीं होता जैसे श्वास वायु से अन्धा दर्पण प्रकाश नहीं करता ।[1]

---

१. ध्वन्यालोकः २ में यह वाल्मीकि-कृत बताया गया है ।

अत्रार्थे—

"तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादा-
सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे ।
निःश्वासबाष्पापगमे प्रसन्नः
प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥"

ता इमा आलेख्यप्रख्यस्य भिदाः । सोऽयमनुग्राह्यो मार्गः ।

आहुश्च—

"सोऽयं भणितिवैचित्र्यात्समस्तो वस्तुविस्तरः ।
नटवद्वर्णिकायोगादन्यथात्वमिवाच्छति ॥"

अथ तुल्यदेहितुल्यस्य भिदाः । तस्यैव वस्तुनो विषयान्तरयोजनादन्यरूपापत्तिर्विषयपरिवर्त्तः ।

इसी अर्थ में यह है—

उसका मुख शत्रु से होने वाले विषाद से विमुक्त होकर उसी भाँति प्रकाशित हुआ जैसे श्वास-वाष्प से हट जाने पर दर्पण स्वतः निर्मल हो जाता है।[1]

(पूर्व पद्य में दर्पण का अन्यत्व विकृति है और उत्तरवर्ती पद्य में उसका निर्मल होना प्रकृति है) ।

ये ही आलेख्यप्रख्य के भेद हैं। यह मार्ग कवियों के लिये अनुग्राह्य है। कहा भी है—

यह समस्त वस्तु-विस्तार (पदार्थ) उक्ति की विचित्रता से उसी भांति भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करता है जिस प्रकार नट रूपादि की योग्यता से विभिन्न रूपों को धारण करता है।

टिप्पणी—यहाँ यह टांकने योग्य है कि इस ग्रहण की वृत्ति को राजशेखर मान्यता प्रदान करते हैं। पर ध्वनिकार का मत इसके विपरीत है। कवियों की ग्रहणप्रवृत्ति को वे तुच्छात्म कहते हैं—'तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यत्साम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम्'।

(आलेख्यप्रख्य के भेदों का वर्णन करने के बाद) अब तुल्यदेहितुल्य के भेद कहे जाते हैं। उसी वस्तु (अर्थात् एक ही वस्तु) की विषयान्तर से योजना करने पर जहाँ अन्य रूप की प्राप्ति हो, वहाँ विषय-परिवर्त होता है। (यहाँ तुल्य-

---

१. कालिदास : रघुवंश, सर्ग ७

यथा—

"ये सीमन्तिततगात्रभस्मरजसो ये कुम्भकद्वेषिणो
ये लीढाः श्रवणाश्रयेण फणिना ये चन्द्रशैत्यद्रुहः ।
ये कुप्यद्गिरिजाविभक्तवपुषश्चित्तव्यथासाक्षिणः
स्थाणोर्दक्षिणनासिकापुटभुवः श्वासानिलाः पान्तु वः ॥"

अत्रार्थे—

"ये कीर्णक्वथितोदराब्जमधवो ये म्लापितोरःस्रजो
ये तापाच्चरलेन तल्पफणिना पीतप्रतापोज्झिताः ।
ये राधास्मृतिसाक्षिणः कमलया साभ्यसूयमाकर्णिता
गाढान्तर्दवथोः प्रतप्तसरलाः श्वासा हरेः पान्तु वः ॥"

द्विरूपस्य वस्तुनोऽन्यतररूपोपादानं द्वन्द्वविच्छित्तिः ।

देहि तुल्य के आठ भेदों—१. विषयपरिवर्त, २. द्वन्द्व-विच्छित्ति, ३. रत्नमाला, ४. संख्योल्लेख, ५. चूलिका, ६. विधानापहार, ७. माणिक्यपुंज और ८. कन्द का क्रमशः वर्णन कर रहे हैं, जिसमें प्रथम भेद विषयपरिवर्त का लक्षण बताकर उदाहरण उपन्यस्त करते हैं।)

जैसे—स्थाणु भगवान् शङ्कर की दक्षिण नासा-रन्ध्र से निकलने वाले वे श्वास-वायु आप लोगों की रक्षा करें जो शरीर में पुती भस्म को केशवेश (अथवा धारासूत) बना देते हैं, जो कुम्भक नामक प्राणायाम के विरोधी हैं, जिसे कानों में लिपटे सर्प पीते हैं, जो चन्द्रमा की शीतलता के द्रोही हैं और जो क्रुद्ध पार्वती से विभक्त शरीर होने के कारण चित्त-व्यथा के साक्षी हैं।[1]

इसी अर्थ में यह है—भगवान् श्रीकृष्ण के श्वासवायु आप लोगों की रक्षा करें जो (भगवान् के हाथ में स्थित) कमल के भीतर का मधु बाहर कर देते हैं, जिनके द्वारा वक्षःस्थल की माला सुखायी जा रही है, जिन्हें पीकर भी शेषनाग उष्णता-वश उलटे बाहर निकाल देते हैं, जो राधा की स्मृति के साक्षी हैं, जिन्हें लक्ष्मी ईर्ष्या के साथ सुनती हैं और जो गाढ़ अन्तर्दाह के कारण उष्ण होकर लंबे-लंबे निकल रहे हैं।'

पहले उदाहरण में शिव का श्वास-वायु ही दूसरे उदाहरण में कृष्ण के साथ संयुक्त कर दिया गया है अतः यह विषय-परिवर्त का उदाहरण है।

दुहरे रूपवाली किसी वस्तु को एक रूप दे देना द्वन्द्व-विच्छित्ति कहा जाता है। जैसे—

---

१. बालभारत १:२

यथा—

"उत्क्लेशं केशबन्धः कुसुमशररिपोः कल्मषं वः स मुष्या-
द्यत्रेन्दुं वीक्ष्य गङ्गाजलभरलुलितं बालभावादभूताम् ।
क्रौञ्चारातिश्च फाण्टस्फुरितशफरिकामोहलोलेक्षणश्रीः
सद्यः प्रोद्यन्मृणालीग्रहणरसलसत्पुष्करश्च द्विपास्यः ॥"

अत्रार्थे—

"दिश्याद् धूर्जटिजूटकोटिसरिति ज्योत्स्नाछवोद्भासिनी
शाशाङ्की कलिका जलभ्रमिवशाद् द्राग् दृष्टनष्टा सुखम् ।
यां चञ्चत्शफरीभ्रमेण मुकुलीकुर्वन्फणालीं मुहु-
र्मुह्यल्लक्ष्यमहिर्जिघृक्षतितमामाकुञ्चनप्राञ्चनैः ॥"

कामारि भगवान् शङ्कर का वह केशबन्ध (जटाजूट) आप लोगों के दुःखोत्पादक पाप को नष्ट करे, जिसमें स्थित चन्द्रकला को जो कि गंगाजल में अनायास दोलायमान हो रही है, क्रौञ्चरिपु (स्वामी कार्तिकेय) अनायास बालस्वभाववश फुदकती हुई मछली समझकर चञ्चल नेत्रों से देख रहे हैं, तथा गजवदन गणेशजी सद्यः उद्गत मृणालिनी समझकर उसे ग्रहण करने के लिये शुण्ड-दण्ड को चलाते हुए शोभित हो रहे हैं।'

इसी अर्थ में यह है—

धूर्जटी भगवान् शङ्कर की जटा के एकदेश में स्थित चन्द्रकला जो ज्योत्स्ना से चमक रही है तथा जल के घूमने से क्षण में दिखाई पड़ती है तथा क्षण में नष्ट हो जाती है, आप लोगों को सुख दे। उस चन्द्रकला को (शङ्कर जी के गले में स्थित) सर्प मछली समझ कर फण को खोलकर फैलाते तथा सिकोड़ते हुये पकड़ना चाहता है।[1]

(पूर्व के पद्य में चन्द्रकला को मछली तथा मृणालिनी बताया गया है। पर इस पद्य में इस द्वन्द्व को हटा कर निश्चित रूपेण उसे मछली बताया गया है, अतः यह द्वन्द्व-विच्छित्ति का उदाहरण है।)

---

१. यह पद्य सरस्वतीकण्ठाभरण में उपलब्ध है।

पूर्वार्थानामर्थान्तरैरन्तरणं रत्नमाला ।

यथा—

"कपाले मार्जारः पय इति करांल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करेणुः कलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥"

अत्रार्थे—

"ज्योत्स्नार्चिर्दुग्धबुद्ध्या कवलितमसकृद्भाजने राजहंसैः
स्वांसे कर्पूरपांसुच्छुरणरभसतः सम्भृतं सुन्दरीभिः ।
पुम्भिर्व्यस्तं स्तनान्तात्सिचयमिति रहः सम्भ्रमे वल्लभानां
लीढं द्राक्सिन्धुवारेष्वभिनवसुमनोलम्पटैः षट्पदैश्च ॥"

संख्यावैषम्येणार्थप्रणयनं संख्योल्लेखः ।

किसी के द्वारा पहले कहे गये अर्थों का अर्थान्तर के द्वारा अन्तरण (व्यवहितीकरण) रत्नमाला है ।

जैसे—प्रभा से उन्मत्त चन्द्रमा संसार को विभ्रम में डाल रहा है । चन्द्र-किरणों को कपाल में पड़ा देख कर बिल्ली दूध समझ कर चाट रही है, उस किरण को जो वृक्ष के छिद्रों से नीचे लम्बायमान आ रही है हाथी कमल-दण्ड समझ रहा है, तथा सुरत-क्रीडा के अन्त में बिस्तरे पर पड़ी रमणी उसे वस्त्र समझ रही है ।[1]

इसी अर्थ में यह है—चाँदनी की किरणों को पात्र में पड़ा देख राजहंस अनेकों बार चोंचों से उठा रहे हैं; अपने कन्धे पर पड़ी ज्योत्स्ना को सुन्दरियाँ कर्पूर की धूल समझ कर शरीर पर प्रसन्नता से लेप कर रही हैं, कामीजन प्रियाओं के एकान्त मिलन में उनके स्तनों पर पड़ी चांदनी को वस्त्र समझ कर हटा रहे हैं और नवीन पुष्पों के प्रेमी भ्रमर सिन्धुवार वृक्ष पर पड़ी ज्योत्स्ना को पुष्प समझ कर झटपट चाट रहे हैं ।

(इस पद्य में पूर्वोक्त पद्य के अर्थ को नवीन अर्थ में व्यवहित कर दिया गया है । अतः यह रत्नमाला का उदाहरण है) ।

संख्या-वैषम्य अर्थात् एक रचना में जो संख्या बतायी गयी है उसे बदल कर अर्थ की रचना करने पर संख्योल्लेख नामक भेद होता है । जैसे—

---

१. यह भासकृत बताया जाता है।

यथा—

"नमन्नारायणच्छायाच्छुरिताः पादयोर्नखाः।
त्वच्चन्द्रमिव सेवन्ते रुद्र रुद्रेन्दवो दश ॥"

अत्रार्थे—

"उमैकपादाम्बुरुहे स्फुरन्नखे
कृतागसो यस्य शिरः समागमे
षडात्मतामाश्रयतीव चन्द्रमाः
स नीलकण्ठः प्रियमातनोतु वः ॥"

सममभिधायाधिकस्योपन्यासश्चूलिका । द्विधा च सा संवादिनी विसंवादिनी च ।

तयोः प्रथमा यथा—

"अङ्गणे शशिमरीचिलेपने सुप्तमिन्दुकरपुञ्जसन्निभम् ।

हे रुद्रदेव ! नमस्कार करते हुए नारायण की छाया (कान्ति) से शोभित आप के पैर के दसों नख ऐसे प्रतीत होते हैं मानों आपके शिरश्चन्द्र की दश रुद्रों के चन्द्रमा सेवन करते हैं ।

(भाव यह है कि भगवान् विष्णु के झुकने से भगवान् शङ्कर के नखों पर उनकी छाया पड़ती है जो चन्द्रमा के समान प्रतीत हो रही है) ।

इसी अर्थ में यह है—चमकते हुये नखों वाले पार्वती के एक चरण-कमल पर जिस अपराधी शिव के शिर के मिलने पर चन्द्रमा छह रूपों वाला विभक्त हो जाता है, वे नीलकण्ठ आप लोगों की रक्षा करें ।

(तात्पर्य यह है कि भगवान् शङ्कर उमा के पैर पर उन्हें मनाने के लिये शिर रखते हैं । शिर रखने पर चन्द्रमा पार्वती के पांचों नखों में प्रतिविम्बित होता है, अतः एक अपने असली रूप के साथ छह रूपों में कल्पित किया गया है । पूर्व पद्य में चन्द्रमा के दश रूप बताये गये, पर इसमें छह में वदल दिये गये हैं । इस रूप में यह संख्योल्लेख है) ।

किसी अर्थ के समान अर्थ को कहकर फिर उससे अधिक अर्थ का कथन चूलिका है । यह दो प्रकार की होती है--

उनमें पहली का उदाहरण—चन्द्रकिरणों से स्वच्छ लिपे हुये आंगन में

राजहंसमसमीक्ष्य कातरा राति हंसवनिताश्रुगद्गदम् ॥"

अत्रार्थे—

"चन्द्रप्रभाप्रसरहासिनि सौधपृष्ठे
दुर्लक्ष्यपक्षतिपुटां न विवेद जायाम् ।
मूढश्रुतिर्मुखरनूपुरनिःस्वनेन
व्याहारिणीमपि पुरो गृहराजहंसः ॥"

द्वितीया तत्रैवार्थे यथा—

"ज्योत्स्नाजलस्नायिनि सौधपृष्ठे
विविक्तमुक्ताफलपुञ्जगौरम् ।
विवेद हंसी दयितं कथञ्चि-
च्चलत्तुलाकोटिकलैर्निनादैः ॥"

चन्द्रकिरणों के पुञ्ज के समान गौर वर्ण के सोये राजहंस को न देखकर कातर हंसिनी अश्रु-गद्गद होकर रो रही है[1] ।

इसी अर्थ में यह है—फैली हुई चन्द्रकिरणों से धुले हुये प्रासाद पर रमणियों के नूपुर-शब्द से न सुनायी पड़ने के वाद राजहंस ने चन्द्रमा की चांदनी से न पहचानी जाने वाली पांखों वाली राजहंसिनी को जो सामने पुकार रही थी न पहचाना ।

(यहाँ दूसरे उदाहरण में प्रथम पद्य के भाव को यथावत् ग्रहण करते हुये भी नूपुर शब्द से मूढ़ राजहंस ने नहीं पहचाना कह कर 'नुपुर शब्द से मूढ़' इस अधिक अर्थ का उपन्यास किया है । अतः यह संवादिनी चूलिका का उदाहरण है) ।

द्वितीया अर्थात् विसंवादिनी चूलिका उसी पूर्वोक्त अर्थ में जैसे—

चन्द्रकिरणों से स्नात सौधपृष्ठ पर शुद्ध मुक्ताफल के समान गौर अपने प्रिय राजहंस को हंसिनी ने बजते हुये नूपुर के कल निनाद से पहचान लिया (अर्थात् 'यह नूपुरध्वनि है हंसध्वनि नहीं' तथा 'यह हंसध्वनि है नूपुर ध्वनि नहीं' इस प्रकार के ध्वनि-विवेक से ही उसने पहचान लिया) ।

इस पद्य का अर्थ पूर्व पदार्थों से विपरीत है क्योंकि यहाँ इष्ट-ज्ञान है जब कि पूर्व के पद्यों में ऐसी बात नहीं । अतः यह विसंवादिनी चूलिका का उदाहरण है ।

---

१. जानकीहरण ८. ८५

निषेधस्य विधिना निबन्धो विधानापहारः ।

यथा—

> "कुरवक कुचाघातक्रीडारसेन वियुज्यसे
> बकुलविटपिन् स्मर्त्तव्यं ते मुखासवसेचनम् ।
> चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक सशोकता-
> मिति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः ।"

अत्रार्थे—

> "मुखमदिरया पादन्यासैर्विलासविलोकितै-
> र्बकुलविटपी रक्ताशोकस्तथा तिलकद्रुमः ।
> जलनिधितटीकान्ताराणां क्रमात्ककुभां जये
> झगिति गमिता यद्वर्ग्याभिर्विकासमहोत्सवम् ।।"

जहाँ पर निषेध का विधिरूप से उल्लेख हो वहाँ विधानापहार होता है । जैसे—

जिस राजा के शत्रुओं की स्त्रियाँ अपने नगर से भागते समय इस प्रकार बोल उठीं—हे कुरवक वृक्ष ! अब तुम हम लोगों के कुचों के आघात-के क्रीड़ा से वियुक्त हो रहे हो, हे बकुल वृक्ष ! अब तुम हम लोगों के मुख-आसव के सेचन को याद करना तथा हे अशोक ! अब तुम हम लोगों के चरणाघात के संयोग से वियुक्त हो जावोगे ।[1]

इसी अर्थ में यह है—जिस राजा की समुद्र के तटीय वनप्रदेशों के विजय करने पर उसकी सैन्यस्त्रियों द्वारा मुख की मदिरा से बकुल वृक्ष, पादन्यास से रक्ताशोक, तथा कटाक्षपूर्ण अवलोकनों से तिलक वृक्ष तुरत विकसित हो उठे ।'

यह कविप्रसिद्धि है कि रमणियों के पदाघात से अशोक, मुखासव से बकुल तथा कटाक्षावलोकनों से तिलक वृक्ष प्रफुल्लित हो उठते हैं । पूर्व के पद्य में विजय के समय स्त्रियों द्वारा प्रदत्त तत्तद् दोहदों के अभाव में जिनके विकास का अभाव है वहाँ दूसरे पद्य में उनका सद्भाव है ! इस रूप में यह विधानापहार का उदाहरण है ।

---

१. सुभाषितावलि (२५६४) में यह रत्नाकर का बताया गया है ।

बहूनामर्थानामेकत्रोपसंहारो माणिक्यपुञ्जः ।

यथा—

"शैलच्छलेन स्वं दीर्घं भुजमुत्तम्य भूवधूः ।
निशासख्याः करोतीव शशाङ्कतिलकं मुखे ॥"

यथा च—

"फुल्लातिमुक्तकुसुमस्तबकाभिराम-
दूरोल्लसत्किरणकेसरमिन्दुसिंहम् ।
दृष्ट्वोदयाद्रिशिखरस्थितमन्धकार-
दुर्वारवारणघटा व्यघटन्त सद्यः ॥

यथा च—

"संविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः ।
यामिनीवनितयाततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः ॥"

यथा च—

उदयति पश्य कृशोदरि दलितत्व(क्)क्षीरकरणिभिः किरणैः ।

बहुत से अर्थों को एक स्थान पर इकट्ठा करना माणिक्यपुञ्ज होता है ।

जैसे—

पृथ्वी रूपी वधू पर्वतों के व्याज से अपनी दीर्घ भुजा को उठाकर मानो निशा रूपी सखी के मुख पर चन्द्रमा रूपी तिलक को लगा रही है ।

और जैसे—फूली हुई वासन्ती लता के स्तबक के समान अभिराम तथा दूर से ही उल्लसित होने वाले किरणों की केसर (सटा) से युक्त चन्द्ररूपी सिंह को उदयाचल पर देखकर अन्धकार रूपी अवारणीय हाथियों का समूह तुरन्त विघटित हो गया ।

और जैसे—कामदेव का अभिषेक करने के लिये शोभित किरणों रूपी जलौघ वाला, रात्रिरूपी स्त्री से चिह्नित चन्द्रमा कमलयुक्त रजतकुम्भ की भांति उदित हुआ ।[1]

और जैसे—हे कृशोदरि ! यह देखो, सद्यः उचेड़े गये वृक्ष-त्वक् के दूध

---

१. किरातार्जुनीयम्; ९.३२

उद्याचलचूडामणिरेष पुरा रोहिणीरमणः ॥"

यथा च—

"उद्यति नवनीतपिण्डपाण्डुः कुमुद्वनान्यवघट्टयन्कराग्रैः ।
उद्यगिरितटस्फुटाट्टहासो रजनिवधूमुखदर्पणः शशाङ्कः ॥"

यथा च—

"प्रोषितैकेन्दुहंसेऽस्मिन् सस्नाविव तमोऽम्बुभिः ।
नभस्तडागे मदनस्ताराकुमुदहासिनि ॥"

अत्रार्थे—

"रजनिपुरन्ध्रिरोध्रतिलकस्तिमिरद्विपयूथकेसरी
रजतमयोऽभिषेककलशः कुसुमायुधमेदिनीपतेः ।
अयमुद्याचलैकचूडामणिरभिनवदर्पणो दिशा-
मुद्यति गगनसरसि हंसस्य हसन्निव विभ्रमं शशी ॥"

के समान गौर किरणों वाला यह रोहिणीरमण, उदयाचल का चूड़ामणि चन्द्रमा सामने उदित हो रहा है।

और जैसे—यह चन्द्रमा उदित हो रहा है। यह मक्खन के पिण्ड के समान शुभ्र वर्ण का है, किरणों से कुमुदवनों को उल्लसित कर रहा है, उदयाचल के तट पर अट्टहास को प्रकट कर रहा है तथा रात्रिवधू के मुख का दर्पण है।

और जैसे—यह कामदेव ताराखपी कुमुदों से विकसित, जिससे चन्द्र-हंस हटा दिया गया है ऐसे इस नभ रूपी तडाग में मानों स्नान कर चुका है।

इन्हीं सब पद्यों के अर्थ में यह है—रात्रिरूपी नायिका का रोध्रतिलक, अन्धकाररूपी हाथियों के झुण्ड के लिये सिंह, कुसुमायुध कामदेव रूपी राजा के लिये रजतमय अभिषेक कलश, उदयाचल का एक चूड़ामणि, दिशाओं का दर्पण गगन रूपी सरोवर में हंस के विलास के समान यह चन्द्रमा हँसता हुआ उदित हो रहा है।[1]

(इसमें पूर्वोक्त समस्त पद्यों का एकत्र समाहार किया गया है, अतः यह तुल्यदेहितुल्य के सातवें भेद माणिक्यपुञ्ज का उदाहरण है)।

---

१. वामनालङ्का० ४. ३. ३२ में उद्धृत

कन्दभूतोऽर्थः कन्दलायमानैर्विशेषैरभिधीयत इति कन्दः ।

यथा च—

"विशिखामुखेषु विसरति पुञ्जीभवतीव सौधशिखरेषु ।
कुमुदाकरेषु विकसति शशिकलशपरिस्रुता ज्योत्स्ना ॥"

अत्रार्थे—

"वियति विसर्पतीव कुमुदेषु बहूभवतीव योषितां
प्रतिफलतीव जरठशरकाण्डेषु गण्डभित्तिषु ॥
अम्भसि विकसतीव लसतीव सुधाधवलेषु धामसु
ध्वजपटपल्लवेषु ललतीव समीरचलेषु चन्द्रिका ॥
स्फटिकमणिघट इवेन्दुस्तस्यामपिधानमाननमिवाङ्कः ।
क्षरति चिरं येन यथा ज्योत्स्ना घनसारधूलिरिव ॥

कन्द (मूल) भूत एक अर्थ को अङ्कुर के समान अनेकों प्रकारों से जहाँ उपनिबद्ध किया जाय वहाँ तुल्यदेहितुल्य का आठवां प्रकार 'कन्द' होता है ।

जैसे—चन्द्रमा-रूपी कलश से स्रवित चांदनी गलियों के मुखों पर फैल रही है, प्रासाद-शिखरों पर इकट्ठी हो रही है तथा कुमुदसमूहों में संचित हो रही है ।

इसी अर्थ में ये हैं—

चद्रिका आकाश में मानों फैल रही है; कुमुदों में बहुल हो रही है, पके सरकण्डे के समान स्त्रियों के पीतवर्ण के गालों पर प्रतिबिम्बित-सी हो रही है, जल में विकसित सी हो रही, सफेदी किये हुये स्वच्छ प्रासाद-भवनों पर शोभित सी हो रही है, और हवा से चञ्चल ध्वजाओं पर लहरा सी रही है ।[1]

चन्द्रमा स्फटिक मणि के घड़े के समान है, और उसके मुख से कर्पूर की धूलि के समान चन्द्रिका निकल रही है ।

---

१. यह पद्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में उद्धृत है, पर वहाँ जरठकाण्डविपाण्डुपु तथा हसतीव पाठ है ।

सितमणिकलशादिन्दोर्हरिणहरित्तृणपिधानतो गलितैः ।
रजनिभुजिष्या सिञ्चति नभोऽङ्गणं चन्द्रिकाम्भोभिः ॥
संविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः ।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः ॥

ता इमास्तुल्यदेहितुल्यस्य परिसंख्याः । "सोऽयमुल्लेखवानेनुग्राह्यो मार्गः" इति सुरानन्दः ।

तदाह—

"सरस्वती सा जयति प्रकामं देवी श्रुतिः स्वस्त्ययनं कवीनाम् ।
अनर्घतामानयति स्वभङ्ग्या योल्लिख्य यत्किञ्चिदिहार्थरत्नम् ॥"

अथ परपुरप्रवेशसदृशस्य भिदाः । उपनिबद्धस्य वस्तुनो युक्तिमती परिवृत्तिर्हुडुयुद्धम् ।

श्वेतमणि के कलश के समान चन्द्रमा के हरिणरूपी हरे घास के ढक्कन से निकल रहे चन्द्रिका रूपी जल से रात्रिरूपी दासी नभरूपी आँगन को सींच रही है ।

शोभित किरणों के जलौघवाला, रात्रिरूपी स्त्री से चिह्नित, कमलयुक्त रजतकुम्भ के समान चन्द्रमा कामदेव का अभिषेक करने के लिये उदित हुआ ।

(इन पद्यों में प्रथम पद्य के भावों का पृथक्-पृथक् उपन्यास किया गया है) ।

ये ही तुल्यदेहितुल्य के भेद हैं । सुरानन्द नामक आचार्य की राय है कि यह उल्लेखवान् (अर्थात् प्रतिभा से उद्भावित) मार्ग है अतः कवियों के लिये अनुग्राह्य है । जैसा कहा है[1]—

उस श्रुतिरूपा भगवती सरस्वती की जय हो जो कवियों के लिये मङ्गल-दायिनी हैं । वे भगवती सामान्य भी अर्थरत्न को अपनी भङ्गी से अमूल्य बना देती हैं ।

अब 'परपुरसदृश' नामक अपहरण के भेद कहे जायेंगे । (इसके भी आठ प्रकार है : १. हुड्डयुद्ध, २. प्रतिकञ्चुक, ३. वस्तु-सञ्चार, ४. धातुवाद, ५. सत्कार, ६. जीवजीवक, ७. भावमुद्रा और ८. तद्विरोधी । क्रमशः इनके

---

१. तदाह शब्द से यह प्रतीत होता है कि यह श्लोक सुरानन्द का है । ध्वन्यालोक में भी इसी प्रकार का श्लोक उपलब्ध है :

सरस्वती स्वादु तदीयवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम ॥ ध्वन्यालोक १.६

यथा—

"कथमसौ न भजत्यशरीरतां हतविवेकपदो हतमन्मथः ।
प्रहरतः कदलीदलकोमले भवति यस्य दया न वधूजने ॥"

अत्रार्थे—

"कथमसौ मदनो न नमस्यतां स्थितविवेकपदो मकरध्वजः ।
मृगदृशां कदलीललितं वपुर्यदभिहन्ति शरैः कुसुमोद्भवैः ॥"

प्रकारान्तरेण विसदृशं यद्वस्तु तस्य निबन्धः प्रतिकञ्चुकम् ।

यथा—

"माद्यच्चकोरेक्षणतुल्यधाम्नो धारां दधाना मधुनः पतन्तीम् ।
चञ्च्वग्रदष्टोत्पलनालहृद्या हंसीव रेजे शशिरत्नपात्री ॥"

अत्रार्थे—

"मसारपात्रेण बभौ ददाना काचित्सुरां विद्रुमनालकेन ।

लक्षण-उदाहरण उपनिबद्ध किये जाते हैं)। किसी प्राचीन उपनिबद्ध वस्तु का युक्तिपूर्वक परिवर्तन हुड्डयुद्ध कहा जाता है। जैसे—

विवेक-हीन यह दुष्ट कामदेव अशरीरी क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि कदली के समान कोमल वधूजनों पर प्रहार करते हुये इसे दया नहीं आती।'

इसी अर्थ में यह है—इस विवेकशील मकरध्वज कामदेव को क्यों नमस्कार न किया जाय, क्योंकि यह मृगाक्षी ललनाओं के कदलीदल के समान कोमल शरीर को फूल के बाणों से मारता है।

(पूर्व पद्य में जिस कारण से कामदेव की निन्दा की गई थी इस पद्य में उसी कारण-वश उसे नमस्कारार्ह बताया गया है। पर इस अर्थसिद्धि में 'कुसुमोद्भवैः शरैः' इस युक्ति का आश्रय लिया गया है)।

जो वस्तु कहीं एक रूप में वर्णित है अन्यत्र उसी को प्रकारान्तर में उपनिबद्ध करना प्रतिकंचुक है।

जैसे—मत्त चकोर की आँखों के समान कान्तिवाली गिरती हुई मद्यधारा को धारण करनेवाली चन्द्रकान्तमणि-निर्मित झाड़ी (पात्र) ऐसी शोभित हो रही है मानो हंसी अपनी चोंचों में कमल-नाल को पकड़े शोभित हो।

इसी अर्थ में यह है—विद्रुमनिर्मित नाली वाली इन्द्रनीलमणिनिर्मित

वल्लूरवल्लीं दधतेव चञ्च्वा केलीशुकेनाञ्जलिना धृतेन ॥"

उपमानस्योपमानान्तरपरिवृत्तिर्वस्तुसंचारः ।

यथा—

"अविरलमिव दाम्ना पौण्डरीकेण बद्धः
स्नपित इव च दुग्धस्रोतसा निर्भरेण ।
कवलित इव कृत्स्नश्चक्षुषा स्फारितेन
प्रसभममृतमेघेनेव सान्द्रेण सिक्तः ॥"

अत्रार्थे—

"मुक्तानामिव रज्जवो हिमरुचेर्मालाः कलानामिव
क्षीराब्धेरिव वीचयः क्लमसुषः पीयूषधारा इव ।
दीर्घापाङ्गनदीं विलङ्घ्य सहसा लीलानुभावाश्चिताः
सद्यः प्रेमभरोल्लसा मृगदृशो मामभ्यषिञ्चन्दृशः ॥"

झारी से सुरा देती हुई कोई नायिका ऐसी शोभित हुई जैसे उसकी अञ्जलि में पकड़ा केलिशुक अपनी चोंचों से शुष्क मांस पकड़े हो ।

(यहाँ दोनों उदाहरणों में समानरूपेण मद्यपात्र वर्णित है पर पात्रों के चन्द्रकान्त तथा इन्द्रनीलमणि से निर्मित होने से क्रमशः हंसी तथा शुक के सादृश्य की उद्भावना के रूप में प्रकारान्तर से वर्णन हुआ है ।)

उपमानभूत वस्तु की उपमानान्तर से परिवृत्ति (अर्थात् उस उपमान के स्थान पर अन्य उपमान का उपन्यास) 'परपुरप्रवेशसदृश' नामवाले अर्थहरण का तीसरा प्रकार 'वस्तुसंचार' है । जैसे—

किसी मित्र का अपने मित्र से कथन है—उस नायिका के मेरी ओर देखने से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं मानों कमल की रस्सी से सतत बद्ध हूँ, निर्भर दुग्ध-धारा से स्नान कर लिया हूँ, फैलायी गई आँख से पूरा ग्रास बनालिया गया हूँ और घने अमृतमेघ से बलात् सिक्त कर दिया गया हूँ ।[1]

इसी अर्थ में यह है—मोतियों की रस्सी के समान, चन्द्रमा की कलाओं की माला के समान, उस मृगननयनी की हाव-भावों से पूर्ण आँखें कटाक्ष रूपी नदी को पार कर सद्यः मुझे सींचने लगीं ।

(इन दोनों उदाहरणों में उपमेय आँखें हैं पर उपमान प्रथम में कमल आदि हैं जब कि दूसरे में मुक्ता आदि) ।

---

१. मालतीमाधव, तृतीय अङ्क ।

शब्दालङ्कारस्यार्थालङ्कारेणान्यथात्वं धातुवादः[1]।

यथा—

"जयन्ति वाणासुरमौलिलालिता
दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः ।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो
भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः ॥"

अत्रार्थे—

"सन्मार्गालोकनप्रौढिनीरजीकृतजन्तवः ।
जयन्त्यपूर्वव्यापाराः पुरारेः पादपांसवः ॥"

तस्यैव वस्तुन उत्कर्षेणान्यथाकरणं सत्कारः ।

यथा—

"स्नानार्द्रार्द्रैर्विधुतकबरीबन्धलोलैरिदानीं
श्रोणीभारः कृतपरिचयः पल्लवैः कुन्तलानाम् ।

शब्दालङ्कार को अर्थालङ्कार के रूप में बदल देना धातुवाद है। जैसे—

वाणासुर के मस्तक से लालित, दशानन रावण के मस्तक की चूणामणि को चूमने वाली, सुरों तथा असुरों के स्वामियों के मस्तक पर रहनेवाली भगवान् शङ्कर की पदधूलियों की जय हो।[1]

इसी अर्थ में यह है—सन्मार्ग को प्रदर्शित करने की प्रौढि के कारण संसार के प्राणियों को रजोगुण से हीन करने रूप अपूर्व व्यापार वाली पुरारि भगवान् शङ्कर की पदधूलियों की जय हो।

इन दोनों उदाहरणों में वर्ण्य पदार्थ शिवपादपांसु रूप एक ही है पर पहले जहाँ शब्दालङ्कार अनुप्रास है वहाँ दूसरे में अतिशयोक्ति अलङ्कार है। अतः यह धातुवाद का उदाहरण है (कुछ लोगों की राय में दूसरे में काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।)

किसी सामान्य वस्तु को उत्कर्ष के साथ बदलना सत्कार है। जैसे—

कमलनयनी नायिकाओं के केशपाश स्नानोपरान्त अत्यन्त भीगे हुए हैं तथा बन्धन खुल जाने से अत्यन्त चंचल हैं एवं कमर तक लटक रहे हैं।

---

१. कादम्बरी, द्वितीय श्लोक

अप्येतेभ्यो नभसि पततः पङि्क्तशो वारिबिन्दून्
स्थित्वोद्ग्रीवं कुवलयदृशां केलिहंसाः पिबन्ति ॥"

अत्रार्थे—

"लक्ष्म्याः क्षीरनिधेरुदक्तवपुषो वेणीलताग्रच्युता
ये मुक्ताग्रथनामसूत्रसुभगाः प्राप्ताः पयोबिन्दवः ।
ते वः पान्तु विशेषसस्पृहदृशा दृष्टाश्चिरं शार्ङ्गिणा
हेलोद्ग्रीवजलेशहंसवनितालीढाः सुधास्वादवः ॥"
पूर्वं सदृशः पश्चाद्भिन्नो जीवञ्जीवकः ।

यथा—

"नयनोदरयोः कपोलभागे रुचिमद्रत्नगणेषु भूषणेषु ।
सकलप्रतिबिम्बितेन्दुबिम्बा शतचन्द्राभरणैव काचिदासीत् ॥"

उन केशों से टपक रहे जलविन्दुओं को क्रीडाहंस गर्दन ऊपर उठा कर पी रहे हैं।

इसी अर्थ में यह है—क्षीरसमुद्र से निकली हुई लक्ष्मी के केशपाश के अग्रभाग से टपकते हुये, बिना सूत के ही गुंथी हुई मोतियों की माला के समान सुन्दर, भगवान् विष्णु के द्वारा सस्पृह नेत्रों से देर तक देखे जाते हुये, एवं अमृत के समान सुस्वादु होने से जल में रहने वाले हंसों की स्त्रियों से कुतूहलपूर्वक गर्दन उठाकर पिये जाने वाले जलविन्दु आप लोगों की रक्षा करें।

इस पद्य में पूर्वोक्त पद्य के भाव को ही उट्टङ्कित किया गया है, पर लक्ष्मी-नारायण के सम्बन्ध से इसमें विशेष चमत्कार का आधान किया गया है अतः यह सत्कार नामक हरण है।

जहाँ आरम्भ में तो समान पर अन्त में भिन्न अर्थ को उपन्यस्त किया जाय वहाँ 'जीवञ्जीवक' नामक अर्थ होता है। जैसे—

वह नायिका नेत्रों में, वक्षःस्थल में, गण्डस्थल में, रुचिर रत्नमय आभूषणों में—इन सबमें चन्द्रविम्ब के प्रतिविम्बित होने से सैकड़ों चन्द्रों के आभूषण वाली लगती थी।

अत्रार्थे—

"भास्वत्कपोलतलकुण्डलपारिहार्य-
सन्मेखलामणिगणप्रतिबिम्बितेन ।
चन्द्रेण भाति रमणी रमणीयवक्त्र-
शोभाभिभूतवपुषेव निषेव्यमाणा ॥"

प्राक्तनवाक्याभिप्रायनिबन्धो भावमुद्रा ।

यथा—

"ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥"

अत्रार्थे—

"निश्चेतनानामपि युक्तयोगदो नूनं स एनं मदनोऽधितिष्ठति ।
एला यदाश्लिष्टवतीह चन्दनं पूगद्रुमं नागलताधिरोहति ॥"

इसी अर्थ में यह है—चमकते कपोल में, कुण्डल में, कङ्कण में तथा मेखला की मणियों में प्रतिबिम्बित होता चन्द्रमा मानों उस नायिका की मुखशोभा से पराजित होकर उसकी सेवा कर रहा है ।

यहाँ प्रारम्भ में दोनों पद्यों में समानता है पर दूसरे पद्य के अन्त में चन्द्रमा उस नायिका की सेवा करता बताया गया है, क्योंकि वह उसकी मुख-शोभा से नीचा है ।

जहाँ प्राचीनों के वाक्यों के अभिप्राय को निबद्ध किया जाय वहाँ 'भाव-मुद्रा' होती है जैसे—

हे इन्दुमति ! मलयाचल की उन स्थलियों में इस राजा के साथ रमण करने के लिये प्रसन्न हो जाओ, जहाँ पूगफल पान की लताओं से संसक्त हैं, जहाँ चन्दन-वृक्ष एलालताओं से आलिङ्गित हैं और जिन पर तमालपत्रों के आस्तरण (बिछौने) लगे हुये हैं ।[1]

इसी अर्थ में यह है—अचेतनों को भी अलभ्य लाभ देने वाला कामदेव इस वसन्त ऋतु में निवास करता है, क्योंकि (इस वसन्त ऋतु में) एला-लता चन्दन-वृक्ष का आलिङ्गन करती है तथा नागलता (पान) पूग-वृक्ष पर चढ़ती है ।

---

१. रघुवंश, ६. ६४

पूर्वार्थपरिपन्थिनी वस्तुरचना तद्विरोधी (धिनी)।

यथा—

हारो वक्षसि दन्तपत्रविशदं कर्णे दलं कौमुदं
माला मूर्ध्नि दुकूलिनी तनुलता कर्पूरशुक्लौ स्तनौ ।
वक्त्रे चन्दनबिन्दुरिन्दुधवलं बालं मृणालं करे
वेषः किं सित एष सुन्दरि शरच्चन्द्रात्त्वया शिक्षितः ॥"

अत्रार्थे—

"मूर्तिर्नीलदुकूलिनी मृगमदैः प्रत्यङ्गपत्रक्रिया
बाहू मेचकरत्नकङ्कणभृतौ कण्ठे मसारावली ।
व्यालम्बालकवल्लरीकमलिकं कान्ताभिसारोत्सवे
यत्सत्यं तमसा मृगाक्षि विहितं वेषे तवाचार्यकम् ॥"

इस पद्य के उत्तरार्ध में कवि ने कालिदास के पद्य के पूर्वार्द्ध के भाव को निबद्ध किया है अतः यह भावमुद्रा का उदाहरण है ।

किसी पूर्व के कवि की रचना की विरोधिनी वस्तु की रचना 'तद्विरोधी' कही जाती है। जैसे--

(शुक्लाभिसारिका सें संबद्ध यह वर्णन है)--हे सुन्दरि ! वक्षःस्थल पर हार, कान में हाथीदाँत के समान श्वेत कुमुददल, शिर पर माला, शरीर पर दुपट्टा, कपूर से स्वच्छ स्तन, मुख पर चन्दन-तिलक, हाथ में चन्द्रमा के समान कोमल मृणाल,--क्या तूने यह श्वेत-वेष शरच्चन्द्र से तो नहीं सीखा है ?

इसी अर्थ में यह है--

(यह कृष्णाभिसारिका का वर्णन है)--हे मृगाक्षि ! प्रिय के साथ अभिसरण के उपयुक्त वेषरचना में अन्धकार ने तुम्हारा आचार्यत्व सम्पन्न किया है, क्योंकि तुम्हारा शरीर काले दुपट्टे से युक्त है, प्रत्येक अङ्ग में कस्तूरी की पत्ररचना है, भुजायें नीलमणि-खचित कङ्कण से युक्त हैं, गले में इन्द्रनील-मणि की माला है और ललाट पर झूलते हुये काले केश हैं ।

इस पद्य में पूर्वोक्त पद्य से ठीक विरोधी बातें हैं अतः यह 'तद्विरोधी' का उदाहरण है ।

इत्यर्थहरणोपाया द्वात्रिंशदुपदर्शिताः ।
हानोपादानविज्ञाने कवित्वं तत्र मां प्रति ।
किं चैते हरणोपाया ज्ञेयाः सप्रतियोगिनः ।
अर्थस्य वैपरीत्येन विज्ञेया प्रतियोगिता ॥

किञ्च—

शब्दार्थशासनविदः कति नो कवन्ते
यद्वाङ्मयं श्रुतिधनस्य चकास्ति चक्षुः ।
किन्त्वस्ति यद्वचसि वस्तु नवं सदुक्ति-
सन्दर्भिणां स धुरि तस्य गिरः पवित्राः ॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
अर्थहरणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदास्त्रयोदशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार अर्थ-हरण के बत्तीस भेद बताये गये (आठ भेद प्रतिबिम्ब-कल्प के, आठ भेद आलेख्य-प्रख्य के + आठ भेद तुल्यदेहितुल्य के तथा, आठ भेद परपुरप्रवेशसदृश के)। क्या छोड़ना चाहिये तथा क्या ग्रहण करना चाहिये जो इसे जानता है—मेरी राय में वही कवि है।

और--

इन सभी हरण के उपायों को सप्रतिद्वन्द्वी समझना चाहिये और प्रति-योगिता अर्थ की विपरीतता से समझना चाहिये।

कविता तो शब्दार्थ के शासन को जानने वाले (वैयाकरण, नैयायिक आदि) भी करते हैं पर जो शास्त्र जिस अध्ययनशील के चक्षुरूप से शोभित होता है तथा जिसके वचन में नवीन सदुक्ति रहती है वह ग्रन्थकारों का अग्रणी है तथा उसकी वाणियाँ पवित्र हैं।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में
अर्थहरण के अन्तर्गत आलेख्यप्रख्यादिभेद नामक
तेरहवाँ अध्याय समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

१४ कविसमयः

जातिद्रव्यक्रियासमयस्थापना ।

अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः ।

"नन्वेष दोषः । कथङ्कारं पुनरुपनिबन्धनार्हः ?" इति आचार्याः । "कविमार्गानुग्राही कथमेष दोषः ?" इति यायावरीयः । "निमित्तं तर्हि वाच्यम्" इति आचार्याः ॥

अशास्त्रीय (शास्त्रवहिर्भूत) अलौकिक (लोक में अज्ञात) तथा केवल परम्परा में प्रचलित जिस अर्थ का कवि लोग वर्णन करते हैं वह कविसमय है ।

यहाँ कुछ आचार्यों का मत है कि 'अशास्त्रीय तथा अलौकिक अर्थ का उपनिवन्धन तो दोष है फिर वह काव्य में उपनिवन्धन योग्य कैसे है ।' इस विषय में यायावरीय राजशेखर का उत्तर है कि 'ऐसा उपनिवन्धन तो कवि-मार्ग का उपकारक है फिर यह दोष कैसे हो सकता है ?' इस पर आचार्यों का कथन है कि 'यदि ऐसी बात है तो ऐसे लोक-शास्त्र-वहिर्भूत वर्णन का कोई हेतु अवश्य होगा, उसे बतलाइये ।'[1]

---

१. भामह, दण्डी तथा वामन अशास्त्रीय तथा अलौकिक वर्णन को दोष के अन्तर्गत मानते हैं । भामह का इस विषय में निम्न मन्तव्य है—

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टञ्च नेष्यते ॥ —काव्यालङ्कार ४.२

दण्डी का मत है कि—

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ॥ —काव्यादर्श, ४.३

इसी प्रकार वामन भी कहते हैं—

देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि ।
कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि विद्याविरुद्धानि ॥ वामन, २२३, २४

पर राजशेखर अलौकिक तथा अशास्त्रीय की भी स्वीकृति प्रदान करते हैं और ऐसे वर्णनों को 'कविसमय' की संज्ञा देते हैं ।

"इदमभिधीयते" इति यायावरीयः। पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः। कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च।

तत्र कश्चिदाद्यत्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः, कश्चित्परस्परोपक्रमार्थं स्वार्थाय धूर्त्तैः प्रवर्त्तितः। स च त्रिधा स्वर्ग्यो, भौमः, पातालीयश्च। स्वर्ग्यपातालीययोर्भौमः प्रधानः। स हि महाविषयकः। स च चतुर्द्धा जातिद्रव्यगुणक्रियारूपार्थतया। तेऽपि प्रत्येकं त्रिधा असतो निबन्धनात्, सतोप्यनिबन्धनात्, नियमतश्च।

राजशेखर कहते हैं कि उसे बताता हूँ, सुनिये। प्राचीन काल के विद्वानों ने सहस्र शाखावाले वेदों का अङ्गों सहित अध्ययन कर शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर तथा देशान्तर-द्वीपान्तर का परिभ्रमण कर जिन अर्थों को जान कर रचनायें कीं उन अर्थों का देश-काल के अन्तरवशात् भिन्न हो जाने पर उसी रूप में वर्णन करना कविसमय है। यह कविसमय शब्दमूल को न जानने वाले तथा केवल प्रयोग को देखने वालों के द्वारा प्रयुक्त हुआ और वाद में रूढ़ हो गया।

इसमें कोई अर्थ तो प्रारम्भ से ही कविसमय के रूप में प्रसिद्ध रहा और कुछ वाद में धूर्तों द्वारा परस्पर उपक्रमार्थवश (होड़ या प्रसिद्धि में लिये) गढ़ा गया। यह कविसमय तीन प्रकार का है—१. स्वर्ग्य, २. भौम (पार्थिव) और ३. पातालीय। स्वर्ग्य और पातालीय की अपेक्षा भौम प्रधान है। वह व्यापक विषय वाला है। वह १. जाति, २. गुण, ३. द्रव्य और ४. क्रियारूप अर्थवशात् चार प्रकार का है। इसमें प्रत्येक १ असत् के उल्लेख, २. सत् के अनुल्लेख तथा ३ नियम के द्वारा तीन प्रकार का है।

(जो पदार्थ लोक तथा शास्त्र में अदृष्ट हो उसका निबन्धन असत् का उल्लेख है, शास्त्र तथा लोक में दृष्ट पदार्थ का अनिबन्धन सत् का अनुल्लेख है, तथा पदार्थविषयक उल्लेख-अनुल्लेख से नियमन नियम है)।

तत्र सामान्यस्यासतो निबन्धनम्, यथा—नदीपु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हंसादयो, यत्र तत्र पर्वतेपु सुवर्णरत्नादिकं च।

नदीपद्मानि यथा—

"दीर्घीकुर्वन्पटुमदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥"

नदीनीलोत्पलानि—

"गगनगमनलीलालम्भितान्स्वेदबिन्दून्
मृदुभिरनिलवारैः खेचराणां हरन्तीम्।
कुवलयवनकान्त्या जाह्नवीं सोऽभ्यपश्यद्
दिनपतिसुतयेव व्यक्तदत्ताङ्कपालीम्॥"

उनमें सामान्य असत् का निबन्धन जैसे नदियों में कमल, कुमुद आदि वर्णन, सभी तालाबों हंसों का और जहाँ-कहीं भी पर्वतों पर सोने-रत्न आदि का वर्णन। नदियों में कमलों का उदाहरण—जैसे—

जिस उज्जयिनी नगरी में प्रातःकाल सारसों के सरस-मधुर कूजन को बढ़ाती हुई प्रस्फुटित कमल के सौरभ से सुगन्धित तथा शरीर के अनुकूल शिप्रा नदी की हवा प्रार्थना करने में कुशल प्रियतम की भाँति स्त्रियों की सम्भोगजन्य परिश्रान्ति को दूर करती है।[1]

(कालिदास यहाँ शिप्रा नदी में कमल का वर्णन करते हैं)।

नदी में नीलोत्पल के वर्णन का उदाहरण जैसे—उसने गंगा नदी को देखा जो मृदुल हवाओं के द्वारा आकाशचारियों के आकाश में चलने से उत्पन्न स्वेदबिन्दुओं को दूर कर रहीं थीं तथा कुवलय-वन की कान्ति से ऐसी प्रतीत हो रहीं थीं मानों यमुना के द्वारा गोद में ली गईं हों। इस उदाहरण में गंगा के जल में नील-कमल का वर्णन किया गया है)।

---

१. मेघदूत, १. ३०

एवं नदीकुमुदाद्यपि । सलिलमात्रे हंसा यथा—

आसीदस्ति भविष्यतीह स जनो धन्यो धनी धार्मिकः
यः श्रीकेशववत्करिष्यति पुनः श्रीमत्कुडुङ्गेश्वरम् ।
हेलान्दोलितहंससारसकुलक्रेंकारसम्मूर्च्छितै-
रित्याघोषयतीव तन्नवनदी यच्चेष्टितं वारिभिः[1] ॥"

पर्वतमात्रे सुवर्णं यथा—

"नागावासश्चित्रपोताभिरामः स्वर्णस्फीतिव्याप्तदिक्चक्रवालः ।
साम्यात्सख्यं जग्मिवानम्बुराशेरेष ख्यातस्तेन जीमूतभर्ता ॥"

रत्नानि यथा—

"नीलाश्मरश्मिपटलानि महेभमुक्त-
सूत्कारसीकरविसृञ्जि तटान्तरेषु ।

इसी प्रकार नदी में कुमुदादि का वर्णन भी होता है । जलमात्र में हंसों के वर्णन का उदाहरण यह है—

लीलावश चलित हंस-सारस समूहों के 'क्रें क्रें' शब्द से मुखरित जलों के शब्द द्वारा वह नवीन नदी मानों यह घोषित कर रही है कि जो मनुष्य श्री कुडुङ्गेश्वर को श्री केशव के समान बना देगा वह धन्य, धनी तथा धार्मिक था, है और रहेगा ।

पर्वत-मात्र पर स्वर्ण का उदाहरण जैसे—यह पर्वत समानतावश समुद्र की मित्रता को प्राप्त करता है इसीलिये यह जीमूतभर्ता (पर्वतपक्ष में जीमूतों–मेघों या पर्वतशृंगों) का वहनकर्ता और समुद्रपक्ष में मेघों का भरणकर्ता जल देने वाला) प्रसिद्ध हो क्योंकि यह पर्वत नागों (मेघों, या गजों या सर्पों) का आवासस्थल है और यह समुद्र भी नागों (जलगजों) का आवासस्थल है; समुद्र नाना प्रकार के पोतों (जलयानों) से सुशोभित है और यह पर्वत पोतों (पशुशावकों) से सुन्दर है तथा समुद्र विस्तृत जल से चारों ओर व्याप्त है । और पर्वत स्वर्ण की वृद्धि से चारों ओर प्रसिद्ध है ।

इस उदाहरण में पर्वत पर स्वर्ण-वृद्धि दर्शायी गयी है ।

पर्वतमात्र में रत्नों का उदाहरण जैसे—

इस नीलगिरि पर्वत के प्रदेशों में लम्बी ग्रीवाओं को ऊपर किये मयूर-

---

१. वीचिभिः पाठान्तरम् ।

आलोकयन्ति सरलीकृतकण्डनालाः
सानन्दमम्बुदधियाऽत्र मयूरनार्यः ॥'

एवमन्यदपि। सतोऽप्यनिबन्धनम्, तद्यथा—न मालती वसन्ते, न पुष्पफलं चन्दनद्रुमेषु, न फलमशोकेषु। तत्र प्रथमः—

"मालतीविमुखश्चैत्रो विकासी पुष्पसम्पदाम्।
आश्चर्यं जातिहीनस्य कथं सुमनसः प्रियाः॥"

द्वितीयः—

"यद्यपि चन्दनविटपी विधिना फलकुसुमवर्जितो विहितः।
निजवपुषैव परेषां तथापि सन्तापमपहरति॥"

तृतीयः—

"दैवायत्ते हि फले किं क्रियतामेतदत्र तु वदामः।

स्त्रियाँ हाथियों के सूंडों से सीत्कार के साथ ऊपर फेंके जाते हुये जलकणों के द्वारा प्रसृत होते नीलमणियों के रश्मिपटलों को बादल समझकर आनन्द-पूर्वक देख रहीं हैं।

इसी प्रकार असत् निबन्धन के अन्य उदाहरण हैं।

सत् के अनिबन्धन का उदाहरण जैसे—वसन्त में मालती का वर्णन न करना, इसी प्रकार चन्दन वृक्ष में फूल-फल का तथा अशोक में फल का वर्णन न करना।

इनमें पहले का उदाहरण यह है—पुष्पसम्पत्ति को विकसित करने वाला चैत्र मालती-पुष्प से विमुख रहता है अर्थात् उसे विकसित नहीं करता। आश्चर्य है कि जाति (मालती, पक्षान्तर में जाति—द्विजाति) विहीन वसन्त (पक्षान्तर में व्रात्य) पुष्पों (पक्षान्तर में देवताओं) का कैसे प्रिय है?

यहाँ जाति तथा सुमनसः के दुहरे अर्थ हैं। जाति का प्रथम अर्थ है मालती और दूसरा अर्थ है ब्राह्मणादि जाति। इसी प्रकार सुमनसः का प्रथम अर्थ है पुष्प और द्वितीय अर्थ है देवगण।

दूसरे का उदाहरण—यद्यपि चन्दन-वृक्ष को ब्रह्मा ने फल-फूल से विहीन बनाया तथापि यह अपने शरीर से ही दूसरों के दुःख को दूर करता है।[1]

तीसरे का उदाहरण—फल तो दैवाधीन है अतः इस विषय में क्या

---

१. यह पद्य शार्ङ्गधर-पद्धति में उपलब्ध है।

नाऽशोकस्य किसलयैर्वृक्षान्तरपल्लवास्तुल्याः ॥"

अनेकत्र प्रवृत्तवृत्तीनामेकत्राचरणं नियमः, तद्यथा—समुद्रे-ऽेव मकराः, ताम्रपर्ण्यामेव मौक्तिकानि ।

तयोः प्रथमः—

"गोत्राग्रहारं नयतो गृहत्वं स्वनाममुद्राङ्कितमम्बुराशिम् ।
दायादवर्गेषु परिस्फुरत्सु दंष्ट्रावलेपो मकरस्य वन्द्यः ॥".

द्वितीयः—

"कामं भवन्तु सरितो भुवि सप्रतिष्ठाः
स्वादूनि सन्तु सलिलानि च शुक्तयश्च ।
एतां विहाय वरवर्णिनि ताम्रपर्णीं
नान्यत्र सम्भवति मौक्तिककामधेनुः ॥"

असतोऽपि द्रव्यस्य निबन्धनम् । तद्यथा—मुष्टिग्राह्यत्वं सूचीभेद्यत्वं च तमसः, कुम्भापवाह्यत्वं च ज्योत्स्नायाः ।

किया जाय किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि अशोक के किसलयों के समान अन्य वृक्ष के पल्लव नहीं होते ।

अनेक स्थलों पर प्रचलित व्यवहारों का एक स्थान पर प्रदर्शन नियम है । जैसे समुद्र में ही घड़ियाल, ताम्रपर्णी नदी में ही मोतियाँ ।

उनमें से पहले अर्थात् समुद्र में ही मकर का उदाहरण । जैसे—पृथ्वी पर श्रेष्ठ हारभूत समुद्र को, जिसका कि नाम मकर के नाम पर मकरालय है, घर बनाने वाला मकर अपने दायादों अर्थात् अन्य जलचरों में यदि दाँतों का गर्व करे तो वह वन्दनीय ही है । अर्थात् मकर के महत्त्व के कारण ही समुद्र का नाम मकरालय पड़ा है अतः उसका गर्व सार्थक है ।

दूसरे का उदाहरण—हे सुन्दरि ! संसार में भले ही अनेकों प्रतिष्ठित नदियाँ तथा उनमें मीठे जल तथा शुक्तियाँ हों पर इस ताम्रपर्णी को छोड़कर अन्यत्र मोतियाँ नहीं होतीं ।

(जातिगत असत् के निबन्धन के अतिरिक्त) द्रव्यगत असत् का भी निबन्धन होता है । जैसे अन्धकार का मुट्ठी में पकड़ा जाना या सुई से भेदन होना और चन्द्रिका का घड़े में ढोया जाना ।

तत्र प्रथमम्—

"तनुलग्ना इव ककुभः भूवलयं चरणचारमात्रमिव ।
दिवमिव चालिकदघ्नीं मुष्टिग्राह्यं तमः कुरुते ॥"

यथा च—

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये ।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम् ॥"

द्वितीयम्—

"यन्त्रद्रावितकेतकोदरदलस्रोतःश्रियं बिभ्रती
येयं मौक्तिकदामगुम्फनविधेर्योग्यच्छविः प्रागभूत् ।
उत्सेच्या कलशीभिरञ्जलिपुटैर्ग्राह्या मृणालाङ्कुरैः
पातव्या च शशिन्यमुग्धविभवे सा वर्त्तते चन्द्रिका ॥"

द्रव्यस्य सतोऽनिबन्धनं, तद्यथा—कृष्णपक्षे सत्या अपि ज्योत्स्नायाः, शुक्लपक्षे त्वन्धकारस्य । तयोः प्रथमम्—

इनमें से पहले अर्थात् तमस के मुष्टिग्राह्यत्व का वर्णन—

मुठ्ठी में पकड़ने योग्य अन्धकार ने दिशाओं को शरीर से सटी हुई-सी बना दिया । पृथ्वी को पैरों से चलने मात्र भर बना दिया, आकाश को सर पर कर दिया । अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को संकुचित कर दिया ।[1]

और जैसे—कारागार के बन्द रहने पर भी, अन्धकार के सूची-भेद्य होने पर भी तथा मेरी आँखे बन्द रहने पर भी प्रियामुख स्पष्ट दिखाई पड़ता है ।

दूसरे का उदाहरण—जो चन्द्रिका पहले यन्त्र से निकाले गये केवड़े के दल से निकले रस के समान थी तथा मोतियों की माला के गुम्फन-विधि की शोभा को धारण करती थी वही आज चन्द्रमा के पूर्ण होने पर कलश में भरने योग्य, अञ्जलि में भरने योग्य तथा मृणालाङ्कुर से पीने योग्य हो गयी है ।[2]

सत् द्रव्य का भी अनिबन्धन होता है । जैसे कृष्णपक्ष होने पर चाँदनी का वर्णन और शुक्लपक्ष होने पर भी अन्धेरे का वर्णन । उनमें पहला यह है—

---

१. विद्धशालभञ्जिका ३. ६

२. सरस्वतीकण्ठाभरण में 'सद्यो द्रावित' पाठ है ।

"ददृशाते जनैस्तत्र यात्रायां सकुतूहलैः ।
बलभद्रहृषीकेशौ पक्षाविव सितासितौ ॥"

द्वितीयम्--

"मासि मासि समा ज्योत्स्ना पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ।
तत्रैकः शुक्लतां यातो यशः पुण्यैरवाप्यते ॥"

द्रव्यनियमः, तद्यथा--मलय एव चन्दनस्थानं, हिमवानेव भूर्जोत्पत्तिस्थानम् ।

तत्र प्रथमः--

"तापापहारचतुरो नागावासः सुरप्रियः ।
नाऽन्यत्र मलयादद्रेर्दृश्यते चन्दनद्रुमः ॥"

द्वितीयः--

"न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥"

उस यात्रा में लोगों को कुतूहल के साथ बलराम तथा श्रीकृष्ण शुक्ल तथा कृष्णपक्ष के समान प्रतीत हुये ।[1]

दूसरा उदाहरण--हर-एक मास में शुक्ल तथा कृष्णपक्ष में ज्योत्स्ना समान ही होती है, पर एक ही का नाम शुक्लपक्ष पड़ा । यश पुण्यशालियों को ही प्राप्त होता है ।

द्रव्यगत नियम के उदाहरण हैं--मलयाचल पर ही चन्दन का होना तथा हिमालय पर ही भूर्जपत्रों की उत्पत्ति ।

इनमें पहले का उदाहरण--सन्ताप दूर करने में विदग्ध, नागों की आवासभूमि तथा देवताओं का प्रिय चन्दन-द्रुम मलयाद्रि के अतिरिक्त अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ता ।

दूसरे का उदाहरण--जिस हिमालय पर गैरिक आदि धातुओं से जिन पर अक्षर लिखा जाता है ऐसे, और हाथी के शरीर पर लगे लाल-बिन्दुओं के समान रक्तवर्ण भूर्जपत्र विद्याधरियों के प्रेम-पत्र लिखने में उपयुक्त होते हैं ।[2]

१. अन्यत्र बलभद्रप्रलम्बघ्नौ पाठ है । पर वह ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि बलभद्र का ही प्रलम्बघ्न भी नाम है--'बलदेवः प्रलम्बघ्नो बलभद्रोऽच्युताग्रजः' कोशः । अतः हृषीकेश पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है । तभी सितासितौ की भी सङ्गति बैठेगी । महाभारत द्रोणपर्व (११।५), शल्यपर्व (४७।१३) । प्रलम्बघ्न बलराम को ही बताया गया है ।

२. कालिदासः कुमारसंभव, प्रथम सर्ग ।

प्रकीर्णकद्रव्यकविसमयस्तु, तद्यथा—क्षीरक्षारसमुद्रयोरैक्यं सागरमहासमुद्रयोश्च ।

तयोः प्रथमः—

"श्वेतां हरिर्भवतु रत्नमनन्तमन्त-
लक्ष्मीप्रसूतिरिति नो विवदामहे हे ।
हा दूरदूरसपयास्तृषितस्य जन्तोः
किं त्वत्र कूपपयसः स मरोर्जघन्यः ॥"

द्वितीयः—

"रङ्गत्तरङ्गभ्रूभङ्गैस्तर्जयन्तीमिवापगाः ।
स ददर्श पुरो गङ्गां सप्तसागरवल्लभाम् ॥"

असतोऽपि क्रियार्थस्य निबन्धनम्, यथा—चक्रवाकमिथुनस्य निशि भिन्नतटाश्रयणं, चकोराणां चन्द्रिकापानं च ।

तत्र प्रथमः—

"सङ्क्षिपता यामवतीस्तटिनीनां तनयता पयःपूरान् ।
रथचरणाह्वयवयसां किं ःोपकृतं निदाघेन ।।"

प्रकीर्ण विषयों का वर्णन भी कविसमय होता है—जैसे, क्षीर तथा लवण समुद्र का ऐक्य, तथा सागर एवं महासागर का ऐक्य । इनमें पहले का उदाहरण :—

इस समुद्र में भले ही भगवान् शयन करें, इसके अन्दर अनेकों रत्नों तथा लक्ष्मी की भले ही उत्पत्ति हो, पर यह तो सत्य ही है कि अत्यन्त निकृष्ट जल वाला यह (खारा) समुद्र तृषार्त के लिये मरुभूमि के कुयें से भी हीन है ।

दूसरे का उदाहरण—उस राजा ने सामने चंचल तरंगों के भ्रूभंगों से अन्य नदियों को तर्जित-सी करती हुई सातों समुद्रों की प्रिया गंगा को देखा ।

असत् क्रियार्थ का भी निवन्धन होता है—जैसे चक्रवाक-द्वन्द्व का रात्रि में भिन्न-भिन्न तटों पर रहना और चकोरों का चन्द्रिका-पान ।

इनमें पहले का उदाहरण—रात्रि को छोटी करते हुये, नदियों के जलसमूह को कृश करते हुये निदाघ ने चक्रवाकों का क्या-क्या उपकार नहीं किया ?

द्वितीयः—

"एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षि रोधोभुव-
श्चापाभ्यासनिकेतनं भगवतः प्रेयो मनोजन्मनः।
यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिकाः
पीयन्ते विवृतोर्ध्वचञ्चु विचलत्कण्ठं चकोराङ्गनाः॥"

सतोऽपि क्रियार्थस्यानिबन्धनम्, तद्यथा—दिवा नीलोत्पलानामविकासो निशानिमित्तश्च शेफालिकाकुसुमानामविस्रंसः।

तत्र प्रथमः—

"आलिख्य तत्रमसितागुरुणाभिरामं
रामामुखे क्षणसभाजितचन्द्रबिम्बे।
जातः पुनर्विकसनावसरोऽयमस्ये-
त्युक्त्वा सखी कुवलयं श्रवणे चकार॥"

द्वितीयः—

"त्वद्विप्रयोगे किरणैस्तथोग्रैर्दग्धाऽस्मि कृत्स्नं दिवसं सवित्रा।
इतीव दुःखं शशिने गदन्ती शेफालिका रोदिति पुष्पबाष्पैः॥"

दूसरे का उदाहरण—हे मृगाक्षि ! ये मलय-पर्वत की प्रदेशवर्तिनी नदियों के तटप्रदेश हैं जो मनोजन्मा भगवान् कामदेव के चापाभ्यास के प्रिय स्थल हैं। इसमें कृष्णपक्ष की रात्रियों में अन्धकार को समाप्त कर निकली हुई चन्द्रिकाओं को चकोर-स्त्रियाँ गर्दन हिलाते हुये चोंच खोलकर तथा ऊपर उठाकर पान करती हैं।

सत् क्रियार्थ का भी अनिबन्धन होता है। जैसे दिन में नील कमलों का अविकसित होना तथा शेफालिका के कुसुमों का रात्रि में भ्रंशन वर्णन करना।

इसमें पहले का उदाहरण—किसी सखी ने सायंकाल चन्द्रमा के समान सुन्दरी के मुख पर अगरु से सुन्दर पत्र बनाकर कानों में यह कह कर कि 'इसके विकसित होने का समय आगया' नील कमल बना दिया।

दूसरे का उदाहरण—'हे नाथ ! आपके वियोग में सूर्य के द्वारा उग्र किरणों से दिन भर जलायी गई हूँ।' इस प्रकार चन्द्रमा से दुःख सुनाती हुई शेफालिका पुष्परूपी वाष्पों से रो रही है।

नियमस्तु, तद्यथा–ग्रीष्मादौ सम्भवतोऽपि कोकिलानां विरुतस्य वसन्त एव, मयूराणां वर्षास्वेव विरुतस्य नृत्तस्य च निबन्धः । तयोः प्रथमः—

"वसन्ते शीतभीतेन कोकिलेन वने रुतम् ।
अन्तर्जलगताः पद्माः श्रोतुकामा इवोत्थिताः ॥"

द्वितीयः—

"मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः ।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ॥"

कवीनां समयः सोऽयं जातिद्रव्यक्रियागतः ।
गुणस्थैष ततः स्वर्ग्यः पातालीयश्च कथ्यते ॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे कविसमये जातिद्रव्यक्रियासमयस्थापना नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

(यहाँ पहले उदाहरण में 'इसके खिलने का समय आ गया' इस कथन से यह स्पष्ट किया गया है कि कमल के खिलने का समय दिन नहीं अपितु रात्रि है। दूसरे उदाहरण में पुष्पों के स्वाभाविक अधःपतन को रोदन के रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है) ।

नियम, जैसे ग्रीष्मादि ऋतुओं में भी होने वाले कोकिल के शब्द का वसन्त में ही वर्णन तथा मयूर के नाच तथा गान का अन्य ऋतुओं में भी होने पर केवल वर्षा में ही वर्णन ।

इसमें पहले का उदाहरण--शीत से डरी कोकिल की वसन्त ऋतु में ध्वनि सुनने के लिये ही मानों जल में छिपे कमल बाहर आ गये ।

दूसरे का उदाहरण--बादलों के समय में (अर्थात् वर्षा ऋतु में) पूँछों को गोलकर मधुर ध्वनि वाले कण्ठों से मयूर नाचते हैं ।

इस प्रकार यहाँ जाति, द्रव्य तथा क्रियागत कविसमय का वर्णन किया गया । अब आगे गुणगत कविसमय तथा स्वर्ग्य एवं पातालीय कविसमय का वर्णन किया जायेगा ।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में कविसमय के अन्तर्गत जाति-द्रव्य-क्रिया-समय-स्थापना नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

पञ्चदशोऽध्यायः

१५ गुणसमयस्थापना

असतोगुणस्य निबन्धनम्। यथा--यशोहासप्रभृतेः शौक्ल्यम्, अयशसः पापप्रभृतेश्च कार्ष्ण्यं, क्रोधानुरागप्रभृतेश्च रक्तत्वम्। तत्र यशःशौक्ल्यम्—

"स्तेमः स्तोकोऽपि नाङ्गे श्वसितमविकलं चक्षुषां सैव वृत्ति-
र्मध्येक्षीराब्धिमग्नाः स्फुटमथ च वयं कोऽयमीदृक्प्रकारः।
इत्थं दिग्भित्तिरोधःक्षतविसरतया मांसलैस्त्वद्यशोभिः
स्तोकावस्थानदुःस्थैस्त्रिजगति धवले विस्मयन्ते मृगाक्ष्यः।।"

हासशौक्ल्यम्—

"अट्टहासच्छलेनास्याद्यस्य फेनौघपाण्डुराः।
जगत्क्षय इवापीताः क्षरन्ति क्षीरसागराः।।"

लोक में अविद्यमान (असत्) गुणों का वर्णन भी कविसमय है, जैसे यश, हास्य आदि की शुक्लता और अयश, पाप आदि की कृष्णता, क्रोध एवं अनुराग आदि की लालिमा। उसमें यश की शुक्लता का उदाहरण यह है—

हे राजन्! आपके विस्तृत यश ने दिशा-रूपी दीवारों के टकराने से विक्षत होकर स्थान की कमी के कारण स्थित रहने में असमर्थता के कारण तीनों लोकों को धवलित (स्वच्छ) बना दिया। इस प्रकार त्रैलोक्य के धवलित होने पर मृगनयनियाँ (इस प्रकार) आश्चर्य करती हैं—'हमारे अङ्ग में जरा भी आर्द्रता नहीं है, श्वास की भी घुटन नहीं हो रही है; दृष्टि में भी रुकावट नहीं हैं, किंतु यह स्पष्ट है कि हम क्षीराब्धि में मग्न हैं, यह कौन सा नया ढंग है?'

भाव यह है कि राजा के शुक्ल-यश को मृगाक्षियाँ क्षीराब्धि समझ रही है पर क्षीराब्धि से विपरीत आर्द्रता आदि नहीं है।

यहाँ राजा की प्रशंसा में कवि ने अतिशयोक्ति का प्रयोग किया है।

हास्य की शुक्लता का उदाहरण—(जिस शङ्कर जी के) मुख से जगत् के प्रलय काल में पान किये हुये की तरह अट्टहास के मिस फेन समूह के समान श्वेत क्षीरसागर बहते हैं। भाव यह है कि यह अट्टहास नहीं अपितु जगत् के विनाश के अवसर पर मानों पान किये क्षीरसागर हों।

अयशः कृष्णत्वम्—

"प्रसरन्ति कीर्त्तयस्ते तव च रिपूणामकीर्त्तयो युगपत् ।
कुवलयदलसंवलिताः प्रतिदिनमिव मालतीमालाः ॥"

पापकार्ष्ण्यम्—

"उत्खातनिर्मलमयूखकृपाणलेखाश्यामायिता तनुरभूद्धयकन्धरस्य ।
सद्यः प्रकोपकृतकेशववंशनाशसङ्कल्पसञ्जनितपापमलीमसेव ॥"

क्रोधरक्तता—

"आस्थानकुट्टिमतलप्रतिबिम्बितेन
कोपप्रभाप्रसरपाटलविग्रहेण ।
भौमेन मूर्च्छितरसातलकुक्षिभाजा
भूमिश्चचाल चलतोदरवर्तिनेव ॥"

अनुरागरक्तता यथा—

"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता ।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्माद‌र्द्धकुङ्कुमम् ॥"

अयश की कालिमा का उदाहरण—नीलकमलों में मिली हुई मालती की माला की भाँति आपकी कीर्ति तथा आपके शत्रु की अपकीर्ति साथ ही साथ फैलती हैं ।

यहाँ अपकीर्ति का कुवलयदल से सादृश्य वर्णित है ।

पाप की कालिमा का उदाहरण—

हयग्रीव का शरीर म्यान से निकाली स्वच्छ तलवार की धारा के समान कृष्ण वर्ण का हो गया, मानों क्रोधवश सद्यः केशव के वंशनाश के लिये जो उसने संकल्प किया उसी पाप से काला हो गया हो ।

(यहाँ तलवार की धार का कृष्णत्व वर्णित है) ।

क्रोध की लालिमा का उदाहरण—सभा में प्रतिबिंबित होने वाले, क्रोध की प्रभा के फैलने से लाल रंग वाले, मूर्छित रसातल की कोख में रहने वाले तथा उदर में रहने वाले की तरह उस भौमासुर (नरकासुर) के चलने से पृथ्वी काँपने लगी ।

अनुराग की ललाई का उदाहरण, जैसे—हे राजन् ! गुणों के अनुराग से मिश्रित तथा चतुर्दिक् प्रसृत होने वाले तुम्हारे यश से दिग्वधुओं के ललाट पर अकस्मात् अर्ध कुंकुम का चिह्न लग गया ।

सतोऽपि गुणस्यानिबन्धनम्, (यथा)-कुन्दकुड्मलानां कामिदन्तानां च रक्तत्वं, कमलमुकुलप्रभृतेश्च हरितत्वं, प्रियङ्गु-पुष्पाणां च पीतत्वम्।

कुन्दकुड्मलाद्यरक्तता—

"द्योतितान्तःसभैः कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः।
स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती॥"

पद्ममुकुलाहरितत्वम्—

"उद्दण्डोदरपुण्डरीकमुकुलभ्रान्तिस्पृशा दंष्ट्रया
मग्नां लावणसैन्धवेऽम्भसि महीमुद्यच्छतो हेलया।
तत्कालाकुलदेवदानवकुलैरुत्तालकोलाहलं
शौरेरादिवराहलीलमवताद्भ्रंलिहाग्रं वपुः॥"

(यहाँ अनुरागमिश्रित यश से अर्ध-कुंकुम का टीका लग गया, इसमें अनुराग की लालिमा वर्णित है)।

विद्यमान (सत्) गुणों का भी कविसमयवशात् अनिबन्धन किया जाता है। जैसे कुन्द की कलियों तथा कामियों के दाँतों का रक्तवर्ण, कमल-मुकुलों की हरीतिमा तथा प्रियङ्गु-पुष्पों की पीतिमा (यद्यपि इन पदार्थों में ये गुण पाये जाते हैं, पर यह कवि-समय-विरुद्ध है, अतः ऐसा वर्णन नहीं किया जाता)।

कुन्दमुकुल की अरक्तता का उदाहरण—कुन्दकली के समान श्वेत दाँतों वाले कृष्ण के सभा को प्रकाशित करने वाले स्मितों से शुद्ध वर्णों (रंग या अक्षर) वाली सरस्वती मानो स्नात-सी हो गयी (माघ)।

कमलमुकुल के अहरितत्व का उदाहरण—

खारे सागर के जल में डूबी पृथ्वी को लीलापूर्वक, ऊँचे नालवाली कमल-मुकुल की भ्राँति उत्पन्न करने वाली दाढ से ऊपर उठाते हुए तथा उसी समय देव-दानवों के कोलाहल से व्याप्त कृष्ण का आदि-वराह-शरीर, जो आकाश को छूने वाला है, हमारी रक्षा करे।

(यहाँ श्वेत दंष्ट्रा के उपमान में कमल-मुकुल का शुक्लत्व वर्णित है; हरीतिमा नहीं)।

प्रियङ्गुपुष्पापीतत्वम्—

"प्रियङ्गुश्याममम्भोधिरन्ध्रीणां स्तनमण्डलम् ।
अलङ्कर्तुमिव स्वच्छाः सूते मौक्तिकसम्पदः ॥"

गुणनियमस्तु तद्यथा–सामान्योपादाने माणिक्यानां शोणता, पुष्पाणां शुक्लता, मेघानां कृष्णता च ।

तत्र प्रथमः—

"सांयात्रिकैरविरतोपहृतानि कूटैः
श्यामासु तीरघनराजिषु सम्भृतानि ।
रत्नानि ते दधति कच्चिदिहायताक्षि
मेघोदरोदितदिनाधिपबिम्बशङ्काम् ॥"

पुष्पशुक्लता—

"पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥"[1]

प्रियङ्गु पुष्प के अपीतत्व का उदाहरण—समुद्र मानों आंध्र ललनाओं के प्रियङ्गुपुष्पवत् श्यामस्तनमण्डल को अलङ्कृत करने के लिये ही स्वच्छ मोतियों को उत्पन्न करता है ।

(यहाँ स्तन-मण्डल की उपमा देने के लिये प्रियङ्गु-पुष्प को काला बताया गया है जब कि वह स्वभावतः पीला होता है) ।

गुणों के नियम जैसे सामान्यतः काव्यवर्णन में माणिक्यों की रक्तता, पुष्पों की शुक्लता और मेघों की कृष्णता ।

इनमें पहले का उदाहरण—

हे विशालाक्षि ! नौव्यापारियों के द्वारा समूहरूप से सतत लाये गये तथा समुद्रतट के श्याम घनपंक्ति में रखे ये रत्न मेघों के बीच उदित सूर्य-मण्डल की शङ्का को तो नहीं उत्पन्न करते ?

(यहाँ रत्नों को सूर्यबिम्बवत् लाल कहा गया है) ।

पुष्पों की शुक्लता का उदाहरण—'पुष्प यदि प्रवाल पर स्थित हो अथवा मोती स्वच्छ विद्रुम पर स्थित हो तो पार्वती के लाल अधरों पर विस्तृत स्वच्छ स्मित का अनुकरण कर सकें ।'

(यहाँ स्मित के उपमानभूत पुष्पों की शुक्लता का वर्णन है) ।

---

१. कुमारसंभव, १.४४ ।

मेघकार्ष्ण्यं—

मेघश्यामेन रामेण पूतवेदिर्विमानराट् ।
मध्ये महेन्द्रनीलेन रत्नराशिरिवाबभौ ॥"

कृष्णनीलयोः, कृष्णहरितयोः, कृष्णश्यामयोः, पीत-रक्तयोः, शुक्लगौरयोरेकत्वेन निबन्धनं च कविसमयः। कथं कृष्णनीलयोरैक्यम्—

"नदीं तूर्णं कर्णोऽप्यनुसृतपुलिनां दाक्षिणात्याङ्गनाभिः
समुत्तीर्णो वर्णामुभयतटचलाबद्धवानीरहाराम् ।
ततः सह्यस्योच्चैः स्वसलिलनिवहो भाति नीलः स यस्याः
प्रियस्यांसे पीने लुलित इव घनः केशपाशः सुकेश्याः ॥"

कृष्णहरितयोरैक्यम्—

"मरकतसदृशं च यामुनं स्फटिकशिलाविमलं च जाह्नवम् ।
तदुभयमुदकं पुनातु वो हरिहरयोरिव सङ्गतं वपुः ॥"

मेघ की कालिमा का उदाहरण—'मेघ के समान श्यामवर्ण भगवान् श्रीरामचन्द्र से परिष्कृत आसन वाला पुष्पक विमान मध्य में इन्द्रनीलमणि से युक्त रत्नराशि की तरह सुशोभित हुआ।'

कृष्ण तथा नील, कृष्ण तथा हरित, कृष्ण तथा श्याम, पीले तथा लाल, शुक्ल तथा गौर का समान रूप से वर्णन भी कवि-समय है। कैसे ? जैसे कृष्णनील की एकता का निम्नलिखित उदाहरण—

कर्ण नामक राजा ने वर्णा नदी को पार किया जिसके पुलिनों पर दाक्षिणात्य रमणियाँ घूमा करती हैं। तथा जिसके दोनों तटों पर चञ्चल वानीरों (बेतों) का हार सुशोभित है। सह्य-पर्वत के ऊंचे तट पर उस नदी का नील प्रवाह ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे प्रियतम के पुष्ट स्कन्धों पर किसी सुकेशिनी नारी की घनी केशराशि लटक रही हो।

(यहाँ नील जल के साथ काले बालों की एकता प्रदर्शित की गई है)।

काले तथा हरे की एकता का उदाहरण—मरकत मणि की तरह यमुना का तथा स्फटिक मणि के सदृश गंगा का, ये दोनों मिले जल आप लोगों की कृष्ण तथा शङ्कर दोनों के मिले हुये शरीर की भांति रक्षा करें।

(यहाँ मरकत मणि जिसका वर्ण हरित है के साथ श्याम जलवाली यमुना का साम्य वर्णित है)।

कृष्णश्यामलयोरैक्यम्—

"एतत्सुन्दरि नन्दनं शशिमणिस्निग्धालवालद्रुमं
मन्दाकिन्यभिषिक्तमौक्तिकशिले मेरोस्तटे नन्दति ।
यत्र श्यामनिशासु मुञ्चति मिलन्मन्तःप्रदोषानिला-
मुद्दामामरयोषितामभिरतं कल्पद्रुमश्चन्द्रिकाम् ।।

पीतरक्तयोरैक्यम्—

"लेखया विमलविद्रुमभासा सन्ततं तिमिरमिन्दुरुदासे ।
दंष्ट्रया कनकभङ्गपिशङ्गया मण्डलं भुव इवादिवराहः ।।"

शुक्लगौरयोरैक्यम्—

"कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भपुत्रम् ।।"

कृष्ण तथा श्यामल की एकता का उदाहरण—हे सुन्दरि ! चन्द्रकान्त-मणि-निर्मित सुन्दर आलवालों वाले वृक्षों का यह नन्दन वन है, जो मेरु-पर्वत के मन्दाकिनी की धार से स्नात मौक्तिक शिलाओं से निर्मित तट पर सुशोभित है। यहाँ पर अन्धेरी रातों में कल्पवृक्ष सान्ध्यकालीन वायु के साथ चाँदनी को यौवनोन्मत्ता देवाङ्गनाओं के लिये उनकी रुचि के अनुकूल (अर्थात् कामक्रीड़ा के उपयुक्त) प्रदान करता है।

(यहां पर रात्रि के कृष्णवर्णा होने पर श्यामत्वेन वर्णन किया गया है)।

पीत और लाल की एकता का उदाहरण—चन्द्रमा ने स्वच्छ विद्रुम के समान प्रकाशमान किरणों से घने अन्धकार को उसी भाँति दूर कर दिया, जैसे भगवान् आदिवराह ने स्वर्ण के समान पीली दाढों से भूमण्डल को ऊपर उठा दिया।[1]

(यहाँ पर दंष्ट्रा के रक्त होने पर भी उसकी कनक वर्ण की पीतिमा के रंग से ऐक्य प्रकट किया गया है)।

शुक्ल तथा गौर की एकता का उदाहरण—कैलास पर्वत के समान गौर वृषभ पर चढ़ने की इच्छावाले भगवान् शङ्कर के पैर रखने से पवित्र पीठवाला मैं निकुम्भ का पुत्र कुम्भोदर हूँ। मुझे भगवान् शङ्कर का प्रिय किंकर जानो।[2]

---

१. किरात, ९. २२
२. रघुवंश २. २५। रघुवंश में 'निकुम्भमित्र' पाठ है।

एवं वर्णान्तरेष्वपि । चक्षुरादेरनेकवर्णोपवर्णनम् ।

तत्र चक्षुषः शुक्लता—

"तिष्ठन्त्या जनसङ्कुलेऽपि सुदृशा सायं गृहप्राङ्गणे
तद्द्वारं मयि निःसहालसतनौ वीक्ष्यामृदु प्रेङ्खति ।
ह्रीनम्राननयैव लोलसरलं निःश्वस्य तत्रान्तरे
प्रेमार्द्राः शशिखण्डपाण्डिममुषो मुक्ताः कटाक्षच्छटाः ॥"

श्यामता—

"अथ पथि गमयित्वा रम्यक्लृप्तोपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः ।
पुनरविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥"

(यह दिलीप के प्रति सिंह की उक्ति है । यहाँ पर कैलास के शुक्ल होने पर भी गौरत्वेन वर्णन है) ।

इसी प्रकार अन्यान्य वर्णों में भी एकता निबद्ध की जाती है । आँख आदि का अनेकों रंग में वर्णन मिलता है ।

आँख की शुक्लता का वर्णन—सायंकाल जनसंकुल गृहप्राङ्गण में खड़ी होते हुये भी उस सुनयनी नायिका ने उसके घर की ओर देख कर विचित्र चाल से चलते हुये एवं लड़खड़ाते तथा अलसाये शरीर-वाले मुझ पर उसी समय लज्जा से नम्र मुख से ही सीधी एवं लम्बी सांस लेते हुये प्रेम से सरस तथा चन्द्रमा की श्वेतिमा को चुराने वाले (अर्थात् चन्द्रवत् स्वच्छ) कटाक्षों को चलायाँ ।

(यहाँ कटाक्षों को चन्द्रवत् श्वेत बताने से कटाक्षों के अङ्गी नेत्र की भी श्वेतिमा वर्णित है) ।

श्यामता का उदाहरण—

(मैथिली जानकी के परिणयानन्तर अयोध्या को लौटते हुये—) शङ्कर-तुल्य राजा दशरथ रचे गये रमणीय राजसदनों वाले मार्ग में कुछ रातें बिताकर फिर अयोध्या में पैठे, जो मैथिली को देखने वाली रमणियों के नेत्रों से कमलमय गवाक्षों वाली हो गयी थी (भाव यह है कि जानकी को देखने के लिये स्त्रियाँ खिड़कियों से झाँक रही थीं, उनकी आँखों की समता कुवलय से बतायी गई है इस प्रकार आँखों की श्यामता वर्णित की गई है) ।[1]

---

१. रघुवंश, ९. ९३ । रघुवंश में क्लृप्तरम्योपकार्ये तथा पुनः के स्थान पर पुरम् पाठ है ।

कृष्णता—

"पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकर श्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् ॥"

मिश्रवर्णता—

"तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् ।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥"

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे गुणसमयस्थापना पञ्चदशोऽध्यायः ॥

कृष्णता का उदाहरण—मेघदूत में यक्ष मेघ से कह रहा है—'हे मेघ ! पाद-सञ्चालन से जिनकी काञ्ची बज रही है तथा रत्नों से जड़ित दण्डवाले ऐसे चामरों के डुलाने से जिनके हाथ क्लान्त हो गये हैं ऐसी वेश्यायें तुमसे नखक्षत को आराम देने वाले जलबिन्दुओं को पाकर तुम पर भौरों की कतार के समान लंबे कटाक्ष छोड़ेंगी ।'[1]

(यहाँ भौंरों की कतार के समान काले कटाक्षों के द्वारा आँखों की भी कालिमा वर्णित है) ।

नेत्रों के मिश्ररंग के वर्णन का उदाहरण—हे मेघ ! उस चर्मण्वती नदी को पार कर भ्रू-संचालन में पटु तुम्हें देखने के लिये ऊपर उठाये नेत्रों से श्वेतश्याम कान्ति वाली तथा फेंके हुये कुन्दपुष्प का अनुगमन करने वाले भ्रमरों की कान्ति वाले दशपुर की ललनाओं की आँखों का अपने को पात्र बनाते हुये जाना ।[2]

(यहाँ फेंके हुये कुन्द का अनुगमन करने वाले भ्रमरों से आँख की समता के द्वारा मिश्रवर्ण को द्योतित किया गया है) ।

राज़शेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में गुणसमय स्थापना नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ।

---

१. मेघदूत १. ३६ ।

२. मेघदूत, १. ४७ ।

षोडशोऽध्यायः

१६ स्वर्ग्यपातालीयकविरहस्य (समय) स्थापना

भौमवत्स्वर्ग्योऽपि कविसमयः, विशेषस्तु चन्द्रमसि शश-हरिणयोरैक्यम् ।

यथा—

"मा भैः शशाङ्क ! मम सीधुनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि ।
प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम् ॥"

यथा च—

"अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः ।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः ॥"

भौम-कविसमय के ही समान स्वर्ग्य कविसमय भी काव्य का विषय है । विशेष रूप में जैसे चन्द्रमा में शश तथा हरिण की एकता । जैसे—

कोई नायिका मधुपान करते समय मधुपात्र में प्रतिविम्बित चन्द्रमा से कह रही है—हे चन्द्र ! डरो मत, मेरे इस मधु में राहु नहीं । है डरपोक ! रोहिणी तो आकाश में वसती है (अतः उससे भी डरने का कोई कारण नहीं) । प्रायेण विदग्ध स्त्रियों के साथ नव सङ्गम के समय पुरुषों का चित्त चञ्चल रहता है । अतः (यदि तुम चञ्चल हो तो) इसमें क्या आश्चर्य है ?[1]

(भाव यह है कि कोई नायिका मधुपान कर रही है । उस मधु में चन्द्रमा का विम्ब हिल रहा है । उसी से नायिका कह रही है कि तुम डर क्यों रहे हो ? तुम्हारे डर के दो कारण हो सकते हैं । एक तो राहु जो यहाँ है ही नहीं, दूसरी तुम्हारी स्त्री रोहिणी, जो परस्त्री के साथ तुम्हें देखकर क्रुद्ध हो जायेगी, लेकिन वह भी आकाश में रहती है) ।

(यहाँ चन्द्रमा की कालिमा का शशरूप में उपन्यास किया गया है) ।

और जैसे—मृग को अपने अङ्क में रखने वाला चन्द्रमा मृग-लाञ्छन

---

१. यह पद वामनीयालङ्कार ३. २. ७ में उद्धृत है ।

कामकेतने मकरमत्स्ययोरैक्यं यथा—

"चापं पुष्पमयं गृहाण मकरः केतुः समुच्छ्रीयतां
चेतोलक्ष्यभिदश्च पञ्च विशिखाः पाणौ पुनः सन्तु ते ।
दग्धा कापि तवाकृतेः प्रतिकृतिः कामोऽसि किं गूहसे
रूपं दर्शय नात्र शङ्करभयं सर्वे वयं वैष्णवाः ॥"

यथा च—

"मीनध्वजस्त्वमसि नो न च पुष्पधन्वा
केलिप्रकाश तव मन्मथता तथापि ।
इत्थं त्वया विरहितस्य मयोपलब्धाः
कान्ताजनस्य जननाथ चिरं विलापाः ॥"

यथा च—

"आपातमारुतविलोडितसिन्धुनाथो
हात्कारभीतपरिवर्त्तितमत्स्यचिह्नाम् ।

कहा जाता है और निष्ठुरता के साथ मृगसमुदाय का विनाशक सिंह मृगराज कहा जाता है ।

(इस उदाहरण में चन्द्रमा के कलङ्क का मृगचिह्न के रूप में वर्णन किया गया है) ।

कामदेव की ध्वजा में मकर तथा मत्स्य की एकता का वर्णन – हे कामदेव ! पुष्पनिर्मित वाणों को लीजिये, मकर की पताका को फहराइये, चित्त-रूपी लक्ष्य का भेदन करने वाले पाँचों वाण पुनः आपके हाथ में हों। भगवान् शङ्कर ने आपकी किसी प्रतिकृति को जलायी होगी, आप तो काम हैं, फिर अपने को छिपा क्यों रहे हैं ? अपना रूप दिखाइये, यहाँ शङ्कर का भय नहीं है, हम सब तो वैष्णव हैं ।

(यहाँ कामदेव को मकरकेतन कहा गया है) ।

और जैसे—हे जननाथ ! आप से वियुक्त प्रियजनों का देर तक मैंने इस प्रकार विलाप सुना । हे केलिप्रकाश ! तुम मीनध्वज हो । नहीं-नहीं, तुम पुष्पधन्वा हो, और सबसे बढ़कर तुम मन्मथ (मन को मथने वाले) हो ।

(यहाँ कामदेव की ध्वजा को मत्स्य (मीन) की बताया गया है) ।

और जैसे–अपने उत्पतन से उद्भूत वायु से सिन्धुनाथ (सिन्धुदेश का राजा जयद्रथ) को विलोडित करते हुये हात्कार शब्द से डरी हुई और

उल्लङ्घ्य यादवमहोदधिभीमवेलां
द्रोणाचलं पवनसूनुरिवोद्धरामि ॥"

अत्रिनेत्रसमुद्रोत्पन्नचन्द्रयोरैक्यम्—

"वन्द्या विश्वसृजो युगादिगुरवः स्वायम्भुवाः सप्त ये
तत्रात्रिर्दिवि सन्दधे नयनजं ज्योतिः स चन्द्रोऽभवत् ।
एका यस्य शिखण्डमण्डनमणिर्देवस्य शम्भोः कला
शेषाभ्योऽमृतमाप्नुवन्ति च सदा स्वाहास्वधाजीविनः ॥"

बहुकालजन्मनोऽपि शिवचन्द्रमसो बालत्वम् ।

अत एव मत्स्य-चिह्न को परिवर्तित करने वाली यादवसेना रूप महासागर की भयङ्कर वेला (तट) को पार कर द्रोणरूपी पर्वत को उसी भाँति उठा लूँगा जैसे हनुमान् जी अपने कूदने से समुद्र को विलोडित करते हुये हात्कार शब्द से चञ्चल मछलियों वाली भयङ्कर समुद्रवेला को पार कर द्रोण पर्वत को उठा लाये थे ।

(यहाँ सिन्धुनाथ तथा द्रोणाचल शब्द द्वयर्थक हैं)।

(चन्द्रमा की उत्पत्ति कहीं अत्रि के नेत्रों से कही गई है और कहीं समुद्र से—) अत्रि-नेत्र तथा समुद्र से उत्पन्न चन्द्र की एकता का उदाहरण—स्वयम्भू ब्रह्मा के पुत्र, सृष्टिप्रवर्तक एवं युगादि में गुरु सप्तर्षि वन्दनीय हैं। उन सप्तर्षियों में एक ऋषि अत्रि हैं, जिन्होंने अपनी नेत्र-ज्योति आकाश में निहित किया और वही ज्योति चन्द्रमा हुई। इस चन्द्रमा की एक कला भगवान् शङ्कर के ललाट की मण्डन-मणि हुई तथा अन्य कलाओं से देवता तथा पितर अमृत को प्राप्त करते हैं।[1]

बहुत प्राचीन काल से उत्पन्न शिव के ललाटस्थ चन्द्रमा का सदा बालक

---

१. यह यहाँ ध्यान देने योग्य है कि यह सन्दर्भ पूरा नहीं है, क्योंकि 'वन्द्या विश्वसृजः' इत्यादि पद्य केवल अत्रि के नेत्र से उत्पन्न चन्द्र का ही वर्णन करता है, समुद्रोत्पन्न चन्द्र का नहीं। इसलिये हेमचन्द्र अपने काव्यानुशासनविवेक में निम्नलिखित अंश को जोड़ते हैं—

यथा च—

यदिन्दोरन्वेति व्यसनमुदयं वा निधिरपामुपास्थिस्तत्रायं जयति जनिकर्तुः प्रकृतिता ।
अयं कस्संबन्धो यदनुहरते यस्य कुमुदः विशुद्धाः शुद्धानां ध्रुवमनभिसन्धिप्रणयिनः ॥

यह पद्य मुरारि के 'अनर्घराघव' से उद्धृत है। इस पद्य को रखने पर 'अत्रिनेत्र-समुद्रोत्पन्नयोरैक्यम्' की सिद्धि हो जाती है।

'मालायमानामरसिन्धुहंसः कोटीरवल्लीकुसुमं भवस्य ।
दाक्षायणीविभ्रमदर्पणश्रि बालेन्दुखण्डं भवतः पुनीतात् ॥"

कामस्य मूर्त्तत्वं च यथा—

"अयं स भुवनत्रयप्रथितसंयमः शङ्करो
बिभर्त्ति वपुषाधुना विरहकातरः कामिनीम् ।
अनेन किल निर्जिता वयमिति प्रियायाः करं
करेण परिताडयन् जयति जातहासः स्मरः ॥"

यथा च—

"धनुर्माला मौर्वी क्वणदलिकुलं लक्ष्यमबला
मनो भेद्यं शब्दप्रभृति य इमे पञ्च विशिखाः ।
इयान् जेतुं यस्य त्रिभुवनमनङ्गस्य विभवः
स वः कामः कामान्दिशतु दयितापाङ्गवसतिः ॥"

रूप में वर्णन भी कविसमय है। जैसे—शिव की जटा में माला के समान शोभित, देवनदी मन्दाकिनी में सञ्चरणशील हंस, तथा पार्वती के लिये दर्पण के तुल्य शोभावाले नवीन चन्द्र का खण्ड आप लोगों को पवित्र करे।

(यहाँ 'बालेन्दुखण्डम्' कविसमयसिद्ध है)।

अशरीरी कामदेव का मूर्तत्व (शरीरयुक्त) वर्णन भी कविसमयसिद्ध है, जैसे—

ये त्रैलोक्य-विख्यात संयमी शङ्कर हैं जो विरह-भय से कामिनी को (अर्धनारीश्वर-रूप में) शरीर से धारण किये हुये हैं—इनसे तो हम जीते जा चुके। अर्थात् ये हम पर क्या विजय कर सकते हैं—इस प्रकार हाथ से अपनी प्रिया रति का हाथ दबाकर हंसते हुये कामदेव की जय हो।[1]

और जैसे—पुष्पों की माला ही जिसका धनुष है, गुञ्जार करते हुये भ्रमर ही जिसकी प्रत्यञ्चा है, स्त्रियाँ ही लक्ष्य हैं, मन ही भेद्य पदार्थ तथा शब्दादिक जिसके पाँच बाण हैं—त्रिभुवन को जीतने के लिये जिसके पास बस इतनी ही सम्पत्ति है, प्रिया के कटाक्ष में निवास करने वाला वह कामदेव आप लोगों की कामनाओं की पूर्ति करे।[2]

---

१. यह पद्य प्रबन्धचिन्तामणि, (१. २४) में उपलब्ध है।
२. सुभाषितावली में इसे घण्टक का बताया गया है।

द्वादशानामप्यादित्यानामैक्यम्—

"यस्याधोऽधस्तथोपर्युपरि निरवधि भ्राम्यतो विश्वमश्वै-
रावृत्तालातलीलां रचयति रयतो मण्डलं चण्डधाम्नः ।
सोऽव्यादुत्तप्तकार्त्तस्वरसरलशरस्पर्द्धिभिर्द्धामदण्डै-
रुद्दण्डैः प्रापयन् वः प्रचुरतमतमः स्तोममस्तं समस्तम् ॥"

नारायणमाधवयोश्च यथा—

"येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यो गङ्गां च दधेऽन्धकक्षयकरो यो बर्हिपत्रप्रियः ।

(यहाँ पर कामदेव का अमूर्तत्व वर्णित है) बारह सूर्यों की भी एकता का वर्णन किया जाता है ।

प्रचण्ड तेज वाले जिन सूर्यदेव का मण्डल अश्वों के द्वारा वेग से नीचे तथा ऊपर अबाध गति से भ्रमण करता हुआ घूमते हुये स्फुलिङ्गों की लीला को धारण करता है वे सूर्यदेव तपाये गये स्वर्ण के समान स्वच्छ शलाकाओं के तुल्य प्रचण्ड किरण समूहों से प्रचुर अन्धकार समूह को नष्ट करते हुए आप लोगों की रक्षा करें ।[1]

इसी प्रकार नारायण तथा माधव की एकता का भी वर्णन किया जाता है । जैसे—

(इस पद्य का शिव-परक तथा विष्णु-परक दो अर्थ हैं। विष्णु-परक अर्थ इस प्रकार है—) वे सर्वदानी माधव (मा=लक्ष्मी, धव=पति, लक्ष्मीपति) तुम्हारी रक्षा करें जिन्होंने अभव (अजन्मा) होते हुये भी अन (शकटासुर) को ध्वस्त किया, बलि को जीतने के लिये वामनरूप धारण किया, पहले स्त्रीरूप को धारण किया अग (गोवर्धन पर्वत) तथा गा (पृथिवी) को धारण किया, अन्धक वंश का क्षय (नाश अथवा घर) कर दिया, जिन्हें मयूरपुच्छ प्रिय हैं, जिनके नामों की स्तुति देवगण राहु के शिरोहारी के रूप में करते हैं, जिन्हें भुजङ्गहा (गरुड) प्रिय हैं और रव (शब्द ब्रह्म) में जिनका लय होता है ।

शिवपरक इसका अर्थ इस प्रकार है—

वे उमाधव (पार्वती-पति) शङ्कर तुम्हारी रक्षा करें, जिन्होंने कामदेव को ध्वस्त किया, जिन्होंने पहले त्रिपुरासुर-नाश के समय बलि-जेता नारायण

---

१. कवीन्द्रवचनसमुच्चय में इसे राजशेखरकृत तथा सदुक्तिकर्णामृत में चन्द्रककृत कहा गया है ।

यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
सोऽव्यादृष्टभुजङ्गहारवलयस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥"

एवं दामोदरशेषकूर्मादेः । कमलासम्पदोश्च यथा—

"दोर्मन्देरितमन्दरेण जलधेरुत्थापिता या स्वयं
यां भूत्वा कमठः पुराणककुदन्यस्तामुदस्तम्भयत् ।
तां लक्ष्मीं पुरुषोत्तमः पुनरसौ लीलाञ्चितभ्रूलता-
निर्देशैः समवीविशत्प्रणयिनां गेहेषु दोष्णि क्षितिम् ॥"

भौमस्वर्ग्यवत्पातालीयोऽपि कविसमयः ।

तत्र नागसर्पयोरैक्यम्—

"हे नागराज बहुमस्य नितम्बभागं
भोगेन गाढमभिवेष्टय मन्दराद्रेः ।

के शरीर का अस्त्र बनाया, जिन्होंने गंगा को धारण किया है, जो अन्धकासुर के नाशक हैं, जो बर्हिपत्र (कार्तिकेय) के प्रिय हैं, जिनके शिरोभाग में चन्द्रमा हैं, जिनके 'हर' इस प्रशंसनीय नाम का देवगण गान करते हैं, और सर्पों के हार का वलय जिन्हें प्रिय हैं ।

(इस पद्य में नारायण के वामन, कूर्म, श्रीकृष्ण, और मोहिनी अवतारों का एकत्व प्रदर्शित किया गया है) ।

इसी प्रकार दामोदर, शेष, कूर्म आदि के एकत्व का भी प्रतिपादन किया जाता है । लक्ष्मी और सम्पत्ति की एकता का वर्णन भी कविसमयसिद्ध है । इनकी एकता का उदाहरण है—जो लक्ष्मी स्वयं भगवान् विष्णु के द्वारा भुजाओं से मन्दराचल को मन्द-मन्द चलाकर समुद्र से बाहर निकाली गयीं और जिन भगवान् विष्णु ने कच्छपरूप धारण कर अपनी पुरानी पीठ पर पृथ्वी को धारण कर जल से ऊपर उठाया, उन्हीं लक्ष्मी को पुरुषोत्तम नारायण ने भ्रूलता के सञ्चालन-मात्र से अपने भक्तों के घर में तथा पृथ्वी को भक्तों के अधीन कर दिया ।

(यहाँ प्रथमांश में दामोदर तथा माधव की एकता वर्णित है तथा उत्तरार्द्ध में लक्ष्मी की पृथ्वी तथा सम्पत्ति से एकता वर्णित है) ।

भौम तथा स्वर्ग्य की ही भाँति पातालीय कविसमय भी होता है । पातालीय कविसमय के अन्तर्गत नाग तथा सर्पों की एकता का वर्णन यह है—

समुद्रमन्थन के समय नागराज वासुकि से प्रार्थना की जा रही है—हे नागराज वासुकि ! इस मन्दराचल के विस्तृत कटि देश को अपने शरीर से

सोढात्रिपह्यवृषवाहनयोगलीला-
पर्यङ्कबन्धनविधेस्तव कोऽतिभारः ॥"

दैत्यदानवासुराणामैक्यम्, यथा तत्र हिरण्याक्षहिरण्य-कशिपुप्रह्लादविरोचनबलिबाणादयो दैत्याः, विप्रचित्तिशम्बर-नमुचिपुलोमप्रभृतयो दानवाः, बलवृत्रविक्षुरस्तवृषपर्वा-दयोऽसुराः ।

तेषामैक्यं यथा—

"जयन्ति बाणासुरमौलिलालिता दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः ।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः ॥"

यथा च—

"तं शम्बरासुरशराशनिशल्यसारं
केयूररत्नकिरणारुणबाहुदण्डम् ।

भली-भाँति लपेट लो। तूने वृषवाहन शिव की योगसाधना में असह्य पर्यङ्क-बन्धविधि को सहन कर लिया, फिर उस तेरे लिये यह मन्दराचल कौन-सा भार है।'[1]

(यहाँ नागराज वासुकी का शिवालङ्कारभूतसर्प से ऐक्य प्रकट किया गया है)।

दैत्य, दानव तथा असुरों की भी एकता का वर्णन किया जाता है। इसमें हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, विरोचन, बलि आदि दैत्य हैं, विप्रचित्ति, अस्त, वृषपर्वा आदि असुर हैं। इनकी एकता का उदाहरण यह है—

भगवान् शङ्कर के संसार-नाशक उन पदरजों की जय हो, जो बाणासुर के मस्तक से सत्कृत हैं, दशमुख रावण की चूड़ामणियों को चूमने वाली हैं तथा देव-असुरों के मस्तक पर धारण की जाती हैं।[2]

(इस पद्य में बाण के दैत्य होने पर भी उसे असुर कहा गया है)।

और जैसे—तीनों लोकों को जीत चुकने वाले उन मीनध्वज कामदेव को कौन जीत सकता है जो शंबरासुर के वज्रबाणों के लिये शल्य के समान

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण में 'हे नागराज' के स्थान पर 'त्वं नागराज' पाठ हैं।

२. कादम्बरी

पीनांसलग्नदयिताकुचपत्रभङ्गं
मीनध्वजं जितजगत्त्रितयं जयेत्कः ॥"

यथा च—

"अस्ति दैत्यो हयग्रीवः सुहृद्वेश्मसु यस्य ताः ।
प्रथयन्ति बलं बाह्वोः सितच्छत्रस्मिताः श्रियः ॥"

यथा च—हयग्रीवं प्रति—

"दानवाधिपतेर्भूयो भुजोऽयं किं न नीयते ।
सहायतां कृतान्तस्य क्षयाभिप्रायसिद्धिषु ॥

यथा च—

महासुरसमाजेऽस्मिन् न चैकोऽप्यस्ति सोऽसुरः ।
यस्य नाशनिनिष्पेषनीराजितमुरःस्थलम् ॥"

बल वाले हैं, जिनका भुजदण्ड केयूर के रत्नों की छटा से अरुणवर्ण का है तथा जिनके पुष्ट स्कन्धों पर प्रिया रति के कुचों के पत्र लगे हुये हैं।

(इस पद्य में शम्बर के दैत्य होने पर भी उसका असुरत्वेन उपन्यास किया गया है)।

और जैसे—हयग्रीव नाम के दैत्य के मित्रों के घर में लक्ष्मी श्वेतच्छत्रों के द्वारा हास्य के वहाने उसके वाहुबल को द्योतित करती है।

हयग्रीव के असुर होने पर भी यहाँ उसका दैत्यत्वेन उपन्यास किया गया है।

और जैसे हयग्रीव के प्रति—

हे दानवाधिपते हयग्रीव ! क्यों नहीं इस भुजा को पुनः यम के विनाश-विपयिका सिद्धि में सहायक वनाते ?'

(यहाँ हयग्रीव का दानवत्व उपनिवद्ध है)।

और जैसे— इस असुरों के महान् समाज में एक भी ऐसा असुर नहीं जिसका वक्षःस्थल इन्द्र-वज्र के घात से काला न हो।

(यहाँ सभी दैत्यों, दानवों और असुरों को असुर संज्ञा दी गई है)।

एवमन्येऽपि भेदाः ।

सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः ।
स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथाबुद्धि विबोधितः ॥"

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे स्वर्ग्यपातालीयकविसमयस्थापना षोडशोऽध्यायः ॥

इसी प्रकार अन्य भी भेद हैं।

यह उपरि निर्दिष्ट कवि-समय, जो काव्य में सुप्त के समान था, यहाँ अपनी बुद्धि के अनुसार जागृत किया गया।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में स्वर्ग्यपातालीय कविसमय-स्थापना नामक काव्यमीमांसा का सोलहवाँ अध्याय समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

१७ देशकालविभागः

तत्र देशविभागः

देशं कालं च विभजमानः कविर्नार्थदर्शनदिशि दरिद्राति। जगज्जगदेकदेशाश्च देशः। "द्यावापृथिव्यात्मकमेकं जगत्" इत्येके। तदाहुः—

"हलमगु बलस्यैकोऽनड्वान्हरस्य न लाङ्गलं
क्रमपरिमिता भूमिर्विष्णोर्न गौर्न च लाङ्गलम्।
प्रवहति कृषिर्नाद्याप्येषां द्वितीयगवं विना
जगति सकले नेदृग्दृष्टं दरिद्रकुटुम्बकम्॥"

देश तथा काल का विभाग करने वाला कवि अर्थ-प्रदर्शन की दिशा में दरिद्र नहीं होता। (भाव यह है कि देश तथा काल का ज्ञान कवि के लिये आवश्यक है। किस देश में और किस काल में क्या होता है कवि को इसका ज्ञान रखना आवश्यक है। यदि कवि को इसका ज्ञान है तो उसे वर्ण्य-विषयों की कमी नहीं हो सकती। इसके अभाव में वह अनुपयुक्त पदार्थों का वर्णन करेगा। उदाहरणार्थ किस देश में किस काल में क्या होता है यदि इसका कवि को ज्ञान नहीं तो वह अस्थान तथा अकाल में ऐसे पदार्थों का वर्णन कर देगा जिसकी वहाँ उस समय स्थिति सम्भव नहीं और इस प्रकार उसका काव्य उपहास्यता को प्राप्त होगा)। (देश क्या है इसकी विवेचना करते हुए कहते हैं कि—) जगत् अर्थात् लोक का नाम भी देश है और लोक के एक देश का नाम भी देश है (इस परिस्थिति में देश का वास्तविक अर्थ क्या है?)। कुछ लोगों की राय है कि द्यावा-पृथिवी-मय एक ही लोक है।

इस विषय में कहते हैं—बल अर्थात् बलराम जी के पास हल है पर गौ (अर्थात् बैल) नहीं, हर अर्थात् शङ्कर जी के पास एक बैल है पर हल नहीं, विष्णु ने (वामनावतार में) अपने प्रक्रम से पृथिवी को माप डाला (अर्थात् उनके पास भूमि है) पर न तो बैल है और न हल ही। यदि इनकी सभी वस्तुयें एकत्र भी कर दी जांय तो दूसरे बैल के बिना ये खेती आज भी नहीं कर सकते। सम्पूर्ण जगत् में ऐसा दरिद्र परिवार नहीं देखा गया।

(इस उदाहरण में 'क्रमपरिमिता भूमिः' तथा 'जगति सकले' के द्वारा द्यावा-पृथिवीरूप एक जगत् की कल्पना की गई है)।

"दिवस्पृथिव्यौ द्वे जगती" इत्यपरे ।

तदाहुः—

"रुणद्धि रोदसो वास्य यावत्कीर्त्तिरनश्वरी ।
तावत्किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ॥"

"स्वर्गमर्त्यपातालभेदात्त्रीणि जगन्ति" इत्येके ।

तदादुः—

"त्वमेव देव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयायसे ॥"

"तान्येव भूर्भुवःस्वः" इत्यन्ये ।

तदाहुः—

"नमस्त्रिभुवनाभोगभृतिखेदभरादिव ।

द्यावापृथिवी को एक जगत् मानने के विपरीत अन्य लोगों की सम्मति है कि दिव (अन्तरिक्ष) तथा पृथिवी दो जगत् हैं ।

जैसा कहा है—जब तक पुण्यात्मा जन की अविनाशिनी कीर्ति रोदसी (द्यावा-पृथिवी) में व्याप्त रहती है तब तक वह देव पद पर आसीन रहता है ।[1]

(यहां रोदसी के द्वारा द्यावा और पृथिवी इन दो लोकों का वर्णन किया गया है) ।

कुछ लोगों की राय है कि स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल के भेद से तीन लोक हैं ।

जैसे—हे महाराज ! आप ही पाताल हैं, आप ही दिशाओं के निबन्धन स्थान (अर्थात् भूलोक) हैं और आप ही देवों तथा मरुद्गणों की भूमि (स्वर्ग) हैं । इस प्रकार आप एक होते हुये भी तीन लोक हो रहे हैं ।[2]

अन्य लोग इन तीनों लोकों को भूः, भुवः तथा स्वः कहते हैं ।

जैसे—'मानों त्रैलोक्य के विस्तार के धारण से श्रान्त होकर ही नागनाथ

---

१. यह पद्य भामह के काव्यालंकार १. ७ में उद्धृत है तथा वहाँ वास्य के स्थान पर चास्य पाठ है ।

२. सरस्वती-कण्ठाभरण में यह वर्णश्लेष के उदाहरणरूप में उपन्यस्त है । इसमें पाताल 'आशा' तथा चामरमरुद्भूमि पद श्लिष्ट है । दूसरे अर्थ में पातालम् का विग्रह पाता = रक्षक + अलम् होगा । आशा का अन्य अर्थ इच्छा होगा तथा चामरमरुद्भूमि का अर्थ 'चँवर की वायु का आस्पद' होगा ।

नागनाथाङ्गपर्यङ्कशायिने शार्ङ्गधन्वने ॥

"महर्जनस्तपःसत्यमित्येतैः सह सप्त" इत्यपरे ।

तदाहुः—

"संस्तम्भिनी पृथुनितम्बतटैर्धरित्र्याः
संवाहिनी जलमुचां चलकेतुहस्तैः ।
हर्षस्य सप्तभुवनप्रथितोरुकीर्तेः
प्रासादपङ्क्तिरियमुच्छिखरा विभाति ॥"

"तानि सप्तभिर्वायुस्कन्धैः सह चतुर्दश" इति केचित् ।

तदाहुः—

"निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनुवर्त्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान्स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥"

"तानि सप्तभिः पातालैः सहैकविंशतिः' इति केचित् ।

शेष के अङ्ग की शय्या पर सोने वाले शार्ङ्गधन्वा भगवान् श्री विष्णु को नमस्कार है ।

अन्य लोगों की राय है कि उपर्युक्त तीन लोक में महर्लोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक को मिला कर सात लोक हैं । जैसे—

सातों लोकों में प्रसिद्ध कीर्ति वाले हर्ष की यह ऊँचे शिखरों वाली प्रासाद-पंक्ति शोभित हो रही है । यह प्रासाद-पंक्ति विस्तृत मध्य भाग से पृथ्वी को धारण करने वाली है तथा चञ्चल पताका रूपी हाथों से बादलों को चलाने वाली है ।

इस उदाहरण में 'सप्तभुवनप्रथितोरुकीर्तेः' के द्वारा सात लोकों की वर्णना की गई है ।

(ये सात लोक सात वायुस्कन्धों (अर्थात् प्रवह आदि सात वायु समूहों) के साथ मिलकर चौदह हो जाते हैं ऐसा कुछ लोग कहते हैं) ।

जैसे—जिनकी स्थिति अवधिहीन, आश्रयहीन तथा अत्यन्त कुतूहल का जनक है ऐसे आद्य भगवान् कूर्ममूर्ति की जय हो, जो चौदह लोकरूपी लताओं के लिये कन्द (मूल) हैं ।

(यहाँ 'चतुर्दशलोक' पद से चौदह लोकों की स्थिति दर्शायी गई है) ।

कुछ लोग कहते हैं कि ये चौदह लोक सात पातालों को मिलाकर इक्कीस हो जाते हैं । जैसे—

तदाहुः—

"हरहासहरावासहरहारनिभप्रभाः ।
कीर्त्तयस्तव लिम्पन्तु भुवनान्येकविंशतिम् ॥"

"सर्वमुपपन्नम्" इति यायावरीयः । अविशेषविवक्षा यदेकयति, विशेषविवक्षात्वनेकयति । तेषु भूर्लोकः पृथिवी । तत्र सप्त महाद्वीपाः ।

"जम्बूद्वीपः सर्वमध्ये ततश्च
प्लक्षो नाम्ना शाल्मलोऽतः कुशोऽतः ।
क्रौञ्चः शाकः पुष्करश्चेत्यथैषां
बाह्या बाह्या संस्थितिर्मण्डलीभिः ॥
लावणो रसमयः सुरोदकः सार्पिषो दधिजलः पयःपयाः ।
स्वादुवारिरुदधिश्च सप्तमस्तान्परीत्य त इमे व्यवस्थिताः ॥"

"एक एवायं लावणः समुद्रः" इत्येके । तदाहुः—

"द्वीपान्यष्टादशात्र क्षितिरपि नवभिर्विस्तृता स्वाङ्गखण्डै-

हे राजन् ! भगवान् शङ्कर के हास्य, शङ्कर के निवास (हिमालय) तथा शङ्कर के हार (नाग) के समान शुभ्र कान्ति वाली आप की कीर्तियाँ इक्कीसों भुवनों को लिप्त करें अर्थात् इक्कीसों लोकों में फैल जाँय ।

यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि उपर्युक्त सभी मत ठीक हैं । अविशेष-विवक्षा अर्थात् सामान्य कथन में लोक एक रहता है और विशेषविवक्षा अर्थात् विशिष्ट कथन में अनेक रहता है । इन उपरि निर्दिष्ट इक्कीस लोकों में भूलोक पृथ्वी है । इसमें सात महाद्वीप हैं ।

जम्बूद्वीप सबके मध्य में है तथा उसके अनन्तर क्रमशः प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शाक तथा पुष्कर द्वीप हैं (अर्थात् इनमें तीन-तीन उसके दोनों ओर हैं) । द्वीपों की स्थिति बाहर से गोलाई में हैं ।

लवणमय, रसमय, सुरामय, घृतमय, दधिमय, दुग्धमय तथा सातवां सुस्वादु जलवाला—ये सात समुद्र हैं जो इन सातों द्वीपों को घेर कर स्थित हैं ।

कुछ लोग कहते हैं कि एक लवणमय समुद्र ही सर्वत्र है । जैसे—

श्रेष्ठवीर ब्रह्मा पर क्रुद्ध हुए क्योंकि उन्होंने सोचा कि ये समस्त अठारह

रेकोम्भोधिर्दिगन्तप्रविसृतसलिलः प्राज्यमेतत्सुराज्यम् ।
कस्मिन्नप्याजिकेलिव्यतिकरविजयोपार्जिते वीरवीर्ये
पर्याप्तं मे न दातुं तदिदमिति धियो वेधसे यश्चुकोप ॥"
"त्रयः" इत्यन्ये ।

तदाहुः—

"आकम्पितक्षितिभृता महता निकामं
हेलाभिभूतजलधित्रितयेन यस्य ।
वीर्येण संहतिभिदा विहतोन्नतेन
कल्पान्तकालविसृतः पवनोऽनुचक्रे ॥"

यथा वा—

"मातङ्गानामभावे मदमलिनमुखैः प्राप्तमाशाकरीन्द्रैः
जाते रत्नापहारे दिशि दिशि ततयो भान्ति चिन्तामणीनाम् ।

द्वीप, नव विभागों वाली भूमि, दिशाओं में प्रसृत जल वाला एक सागर विस्तृत देश जोकि उन्होंने युद्ध में विजय के द्वारा प्राप्त किया है दान करने के लिये स्वल्प हैं ।[1]

कुछ अन्य लोगों की राय है कि तीन सागर हैं। जैसे—उस राजा के वीर्य ने जो कि पदार्थों का विश्लेषकारी था तथा शत्रुओं की उन्नति का विनाशक था, प्रलयकालींन पवन का अनुकरण किया। उस वीर्य ने राजाओं तथा पर्वतों को पूर्णतः कँपा दिया, तथा लीलामात्र से तीनों समुद्रों को अभिभूत कर दिया।

(इसमें 'जलधित्रितय' का' निर्देश है)।

अथवा जैसे—जिस राजा के तीनों समुद्रतटों का फलोपभोग करने वाले शत्रु–राजाओं को मानसिक सिद्धि प्राप्त हुई, अपने हाथियों के अभाव में उन्हें मदमत्त दिग्गज प्राप्त हुये, रत्न छिन जाने पर भी सर्वत्र उन्हें चिन्तामणि की पंक्तियां दिखायी पड़ीं और उद्यानवापी के वृक्षों के छिन जाने पर भी कल्प-वृक्ष प्राप्त हुये।

(वस्तुतः यह अर्थ राजा के द्वारा शत्रुओं के मारे जाने पर स्वर्गप्राप्ति का

---

१. यह पद्य काव्यानुशासनविवेक १. ६ में उद्धृत है।

छिन्नेषूद्यानवापीतरुषु विरचिताः कल्पवृक्षा रिपूणां
यस्योदश्चत्त्रिवेलावलयफलभुजां मानसी सिद्धिरासीत् ॥"
"चत्वारः" इत्यपरे ।

तदाहुः—

"चतुःसमुद्रवेलोर्मिरचितैकावलीलतम् ।
मेरुमप्यद्रिमुल्लङ्घ्य यस्य क्वापि गतं यशः ॥"

"भिन्नाभिप्रायतया सर्वमुपपन्नम्" इति यायावरीयः ।
सप्तसमुद्रीवादिनस्तु शास्त्रादनपेता एव ।

तदाहुः—

"अगस्त्यचुलुकोच्छिष्टसप्तवारिधिवारिणि ।
मुहूर्तं केशवेनापि तरता पूतरायितम् ॥

है । युद्ध में मारे गये व्यक्तियों के स्वर्ग-प्राप्ति के विषय में यह प्रसिद्ध श्लोक द्रष्टव्य है—

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः ॥

इसका दूसरा अर्थ यह है—हे राजन् ! तुम्हारे भय से अपने नगर से भागे हुये तुम्हारे शत्रु तीनों समुद्रों के तटों पर घूमते हुये उत्सुकता से केवल मानसिक वस्तु से ही मनोविनोद करते हैं । हाथियों के अभाव में केवल आशा के हाथियों से काम चलाने लगे, रत्न छिन जाने पर केवल चिन्ता की मणियाँ उनके पास रहीं तथा उद्यान वृक्षों के नष्ट हो जाने पर कल्पना के वृक्ष उनके पास रहे)।

अन्य लोग चार समुद्रों को बताते हैं । जैसे—जिस राजा का यश चारों समुद्र-तटों की लहरों की एकावली माला बनाकर तथा मेरु पर्वत को भी लांघकर कहीं चला गया ।

यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि अभिप्राय की भिन्नता के कारण सभी ठीक है । और जो सात समुद्रों को बताते हैं वे भी शास्त्र से विपरीत नहीं हैं ।

जैसे—अगस्त्य के चुलुक (आचमन) से उच्छिष्ट सप्तसागर के जल में तैरते हुये केशव भी क्षणमात्र तक तृण के समान प्रतीत हुये ।

मध्येजम्बूद्वीपमाद्यो गिरीणां मेरुर्नाम्ना काञ्चनः शैलराजः ।
यो मूर्त्तानामौषधीनां निधानं यश्चावासः सर्ववृन्दारकाणाम् ।।

तमेनमवधीकृत्य देवेनाम्बुजजन्मना ।
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च विश्वस्य रचना कृता ।।"

स भगवान्मेरुराद्यो वर्षपर्वतः । तस्य चतुर्दिशमिलावृतं वर्षम् । तस्योत्तरेण त्रयो वर्षगिरयः, नीलः श्वेतः शृङ्गवांश्च । रम्यकं, हिरण्मयम्, उत्तराः कुरव इति च क्रमेण त्रीणि तेषां वर्षाणि । दक्षिणेनापि त्रय एव निषधो हेमकूटो हिमवांश्च । हरिवर्षं, किंपुरुषं, भारतमिति च त्रीणि वर्षाणि । तत्रेदं भारतं वर्षमस्य च नव भेदाः । इन्द्रद्वीपः, कसेरुमान्, ताम्रपर्णो, गभस्तिमान्, नागद्वीपः, सौम्यो, गन्धर्वो, वरुणः, कुमारीद्वीपश्चायं नवमः ।

पञ्चशतानि जलं, पञ्च स्थलमिति विभागेन प्रत्येकं योजनसहस्रावधयो दक्षिणात्समुद्रादद्रिराजं हिमवन्तं यावत्परस्परमगम्यास्ते ।

जम्बूद्वीप के मध्य में पर्वतों में आद्य मेरु नामक सुवर्णमय शैलराज है । वह मूर्त औषधियों का स्थान है और समस्त देवों की निवासभूमि है ।

इसी सुमेरु पर्वत को अवधि वना कर कमल से उत्पन्न देव ब्रह्मा जी ने तिरछे, ऊपर तथा नीचे जगत् की रचना की ।

यह भगवान् मेरु आद्य वर्ष पर्वत है । इसके चारों ओर इलावृत नामक वर्ष है । उसकी उत्तर ओर तीन वर्ष पर्वत हैं—नील, श्वेत तथा शृङ्गवान् । इनके क्रमशः रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तर कुरु ये तीनों वर्ष हैं । मेरु के दक्षिण भी तीन पर्वत हैं--निषध, हेमकूट तथा हिमवान् । हरिवर्ष, किंपुरुष तथा भारत ये तीन देश हैं । इनमें यह भारतवर्ष है जिसके नव भेद हैं--इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण, और नवां कुमारीद्वीप ।

इस भारतवर्ष में पाँच सौ भाग जल है तथा पाँच भाग स्थल है । इस क्रम से दक्षिण समुद्र से हिमालय तक प्रत्येक देश सौ योजन वाले हैं और परस्पर अगम्य हैं ।

तान्येतानि यो जयति स सम्राडित्युच्यते । कुमारीपुरात्प्रभृति विन्दुसरोऽवधि योजनानां दशशती चक्रवर्त्तिक्षेत्रम् । तां विजयमानश्चक्रवर्त्ती भवति

चक्रवर्तिचिह्नानि तु—

"चक्रं रथो मणिर्भार्या निधिरश्वो गजस्तथा ।
प्रोक्तानि सप्त रत्नानि सर्वेनां चक्रवर्तिनाम् ॥"

अत्र च कुमारीद्वीपे—

"विन्ध्यश्च पारियात्रश्च शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
महेन्द्रसह्यमलयाः सप्तैते कुलपर्वताः ॥"

इन वर्षों पर जो विजय प्राप्त करता है वह सम्राट् कहा जाता है। कुमारीद्वीप से विन्दुसर[1] तक एक सहस्र योजन का चक्रवर्ति क्षेत्र है। इसको जीतने वाला चक्रवर्ती कहा जाता है ।[2]

चक्रवर्ती के ये चिह्न हैं—चक्र, रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व तथा गज—ये सात रत्न सभी चक्रवर्तियों के बताये गये हैं।

इस कुमारी द्वीप में—विन्ध्य, पारियात्र, शुक्तिमान्, ऋक्ष, महेन्द्र, सह्य तथा मलय—ये सात प्रधान पर्वत हैं ।[3]

---

१. विन्दुसार गंगोत्री से दो मिल हटकर है तथा कहा जाता है कि भगीरथ ने गंगा को भूमण्डल पर लाने के लिए यहीं तप किया था ।

२. चक्रवर्ति क्षेत्र के लिए द्रष्टव्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र—'देशः पृथिवी तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणमतिर्यक्चक्रवर्तिक्षेत्रम् ।'

३. भारतवर्ष के विस्तृत वर्णन के लिए वायुपुराण का निम्नलिखित स्थल तुलनीय है—
भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदाः प्रकीर्तिताः । समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् ॥
इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान् । नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः ॥
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः । योजनानां सहस्रं तु द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरम् ॥
आयतो ह्याकुमारिक्यादागङ्गाप्रभवाच्च वै । ... ... ॥
यस्त्वयं नवमो द्वीपस्तिर्यगायत उच्यते । कृत्स्नं जयति यो ह्येनं स सम्राडिह कीर्त्यते ॥
सप्त चास्मिन्सुपर्वाणो विश्रुताः कुलपर्वताः । महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ॥
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥ —वायुपुराण ४५. ७८–८८

इस प्रकार का निर्देश अन्य पुराणों, बृहत्संहिता, भट्टोत्पल की टीका आदि में भी मिलता है। वामनपुराण में भूगोल का वर्णन ठीक इसी प्रकार का है और वायुपुराण से उसका पाठ-साम्य भी सुतरां द्रष्टव्य है :—

यदेतद् भारतं वर्षं नवद्वीपं निशाचर ॥ ८ ॥

तत्र विन्ध्यादयः प्रतीतस्वरूपाः, मलयविशेषास्तु चत्वारः ।

तेषु प्रथमः—

"आ मूलयष्टेः फणिवेष्टितानां सच्चन्दनानां जननन्दनानाम् ।
कक्कोलकैलामरिचैर्युतानां जातीतरूणां च स जन्मभूमिः ॥"

द्वितीयः—

"यस्योत्तमां मौक्तिककामधेनुरुपत्यकामर्चति ताम्रपर्णी ।
रत्नेश्वरो रत्नमहानिधानं कुम्भोद्भवस्तं मलयं पुनाति ॥
तत्र द्रुमा विद्रुमनामधेया वंशेषु मुक्ताफलजन्म तत्र ।
मदोत्कटैः केसरिकण्ठनादैः स्फुटन्ति तस्मिन्घनसारवृक्षाः ॥"

तृतीयः—

"विलासभूमिः सकलामराणां पदं नृणां गौर्मुनिपुङ्गवस्य ।

इनमें विन्ध्यादि छह पर्वत तो प्रथित स्वरूप वाले हैं पर मलय के चार भेद हैं ।

उनमें पहला यह है—वह मलय पर्वत सर्पों से आमूल आवृत तथा जनानन्दकारी चन्दन वृक्षों, कक्कोलों, इलायचियों तथा कालीमिर्चों से युक्त जातीवृक्षों की उत्पत्तिभूमि है ।

दूसरा—जिस मलय की उत्तम उपत्यका को मोतियों की कामधेनु (अर्थात् उत्पादिका) ताम्रपर्णी नदी सींचती है वह मलय रत्नेश्वर है, रत्नों का महान् आकर है तथा कुम्भोद्भव अगस्त्य ऋषि उसे पवित्र करते हैं (अर्थात् वहाँ रहते हैं)। उस मलय पर्वत पर विद्रुम के वृक्ष होते हैं, वहाँ बाँसों में मोतियों के फल लगते हैं तथा मदोन्मत्त सिंहों की गर्जना से वहां कपूर के वृक्ष फूलते हैं ।

तीसरा - यह मलय देवताओं का क्रीडास्थल है, मनुष्यों का पद अर्थात्

सागरान्तरिताः सर्वे अगम्याश्च परस्परम् । इन्द्रद्वीपः कशेरूमांस्ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ॥९॥
नागद्वीपः कटाहश्च सिंहलो वारुणस्तथा । अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ॥१०॥
कुमाराख्यः परिख्यातो द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः ।
पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृताः ॥ ११ ॥
... ...महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमानृक्षपर्वतः ॥१४॥
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः । तथान्ये शत-साहस्रा भूधरा मध्यवासिनः ॥१५॥
विस्तारोच्छ्रायिणो रम्या विपुलाः शुभसानवः । कोलाहलश्च वैभ्राजो मन्दरो दुर्धराचलः ॥१६॥
—अध्याय १३ (वेंकटेश्वर संस्करण)

सदाफलैः पुष्पलताप्रवालैराश्चर्यमूलं मलयः स तत्र ॥"

चतुर्थः—

"सा तत्र चामीकररत्नचित्रः प्रासादमालावलभीविटङ्कैः ।
द्वारार्गलाबद्धसुरेश्वराङ्का लङ्केति या रावणराजधानी ॥
प्रवर्त्तते कोकिलनादहेतुः पुष्पप्रसूः पञ्चमजन्मदायी ।
तेभ्यश्चतुर्भ्योऽपि वसन्तमित्रमुदङ्मुखो दक्षिणमातरिश्वा ॥"

पूर्वापरयोः समुद्रयोर्हिमवद्विन्ध्ययोश्चान्तरमार्यावर्त्तः । तस्मिंश्चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यं च । यन्मूलश्च सदाचारः । तत्रत्यो व्यवहारः प्रायेण कवीनाम् ।

तत्र वाराणस्याः पुरतः पूर्वदेशः । यत्राङ्गकलिङ्गकोसलतोस (शष) लोत्कलमगधमुद्गरविदेहनेपालपुण्ड्रप्राग्ज्योतिषतामलिप्तकमलदमल्लवर्त्तकसुह्मब्रह्मोत्तरप्रभृतयो जनपदाः ।

स्थान है, मुनिपुङ्गव अगस्य का घर है तथा सदा उत्पन्न होने वाले फलों, पुष्पों लताओं एवं प्रवालों से आश्चर्य का स्थान है।

चौथा—इस मलय पर्वत पर रावण की राजधानी लङ्का है जिसके द्वार की अर्गला (सांकल) में देवराज इन्द्र बँधे रहते हैं। वह लङ्का रत्नजड़ित स्वर्णमय प्रासादशिखरों से युक्त है। इन चारों मलयों से कोकिलनाद का हेतु, पुष्पों को उत्पन्न करने वाला, पञ्चमध्वनि का जन्मदायी तथा वसन्त का मित्र दक्षिण वायु (अर्थात् मलय वायु) उत्तर की ओर सदा बहा करता है।

पूर्व तथा पश्चिम सागर एवं हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच का भाग आर्यावर्त कहा जाता है।[1] इस आर्यावर्त में चार आश्रमों तथा चार वर्णों की व्यवस्था है। इन्हीं वर्णाश्रम के आधार पर यहाँ सदाचार प्रचलित है। प्रायशः यहीं का व्यवहार कवियों का आदर्श होता है।

इस आर्यावर्त में वाराणसी से पूर्व की तरफ पूर्वदेश है। इस पूर्वदेश में अङ्ग, कलिङ्ग, कोसल, तोसल, उत्कल, मगध, मुद्गर, विदेह, नेपाल, पुण्ड्र, प्राग्ज्योतिष, तामलिप्तक, मलद, मल्लवर्तक, सुह्म, ब्रह्मोत्तर आदि जनपद हैं।

---

१. आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः—अमरकोश।
आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ मनुस्मृति २·२२

बृहद्गृहलोहितगिरिचकोरदर्दुरनेपालकामरूपादयः पर्वताः। शोणलौहित्यौ नदौ। गङ्गाकरतोयाकपिशाद्याश्च नद्यः। लवलीग्रन्थिपर्णकागुरुद्राक्षाकस्तूरिकादीनामुत्पादः।

माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथः। यत्र महाराष्ट्रमाहिषकाश्मकविदर्भकुन्तलक्रथकैशिकसूर्पारककाञ्चीकेरलकावेरमुरलवानवासकसिंहलचोडदण्डकपाण्ड्यपल्लवगाङ्गनाशिक्यकौङ्कणकोल्ल(ल)गिरिवल्लरप्रभृतयो जनपदाः।

विन्ध्यदक्षिणपादमहेन्द्रमलयमेकलपालमञ्जरसह्यश्रीपर्वतादयः पर्वताः। नर्मदातापीपयोष्णीगोदावरीकावेरीभैमरथीवेणाकृष्णवेणीवञ्जुरातुङ्गभद्राताम्रपर्ण्युत्पलावतीरावणगङ्गाद्या नद्यः। तदुत्पत्तिर्मलयोत्पत्त्या व्याख्याता।

देवसभायाः परतः पश्चाद्देशः। तत्र देवसभसुराष्ट्रदशेरकत्रवणभृगुकच्छकच्छीयानर्त्तार्बुदब्राह्मणप्रवाहयवनप्रभृतयो जनपदाः। गोवर्धनगिरिनगरदेवसभमाल्यशिखरार्बुदादयश्च पर्वताः।

बृहद्गृह, लोहितगिरि, चकोर, दर्दुर, नेपाल, कामरूप आदि पर्वत हैं। शोण तथा लौहित्य नद हैं, गंगा, करतोया, कपिशा आदि नदियाँ हैं। इस देश में लवली, ग्रन्थिपर्णक, अगरु, द्राक्षा, कस्तूरी आदि उत्पन्न होते हैं।

माहिष्मती नगरी से आगे दक्षिणापथ है। उसमें महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, सिंहल, चोड, दण्डक, पाण्ड्य, पल्लव, गाङ्ग, नासिक्य, कौङ्कण, कोल्लगिरि, वल्लर आदि जनपद हैं।

विन्ध्य का दक्षिणी भाग महेन्द्र, मलय, मेकल, पाल, मञ्जर, सह्य, श्रीपर्वत (श्रीशैल) आदि यहाँ पर्वत हैं। नर्मदा, तापी, पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी, भैमरथी, वेणा, कृष्णवेणी, वञ्जुरा, तुङ्गभद्रा, ताम्रपर्णी, उत्पलावती, रावणगंगा इत्यादि नदियाँ हैं। इस देश की उपज का वर्णन भी मलय पर्वत की उपज में वर्णित है (अर्थात्, मलय की उपज ही समग्र दक्षिणापथ में मिलती है)।

देवसभा से आगे पश्चिमदेश है। इसमें देवसभ, सुराष्ट्र, दशेरक, (मरुदेश—मरवस्तु दशेरकाः–हेमचन्द्र) त्रवण, भृगुकच्छ (भड़ौंच), कच्छीय, आनर्त्त, अर्बुद, ब्राह्मणप्रवाह. यवन आदि जनपद हैं। गोवर्धन, गिरिनागर,

सरस्वतीश्वभ्रवतीवार्तघ्नीमहीहिडिम्बाद्या नद्यः । करीरपीलु-गुग्गुलुखर्जूरकरभादीनामुत्पादः ।

पृथूदकात्परत उत्तरापथः । यत्र शककेकयवोक्काणहूणवाणायुजकाम्बोजवाह्लीकवह्लवलिम्पाककुलूतकीरतङ्गणतुषारतुरुष्क-बर्बरहरहूरवहूहुकसहुडहंसमार्गरमठकरकण्ठप्रभृतयो जनपदाः । हिमालयकलिन्द्रेन्द्रकीलचन्द्राचलादयः पर्वताः । गङ्गासिन्धु-सरस्वतीशतद्रुचन्द्रभागायमुनेरावतीवितस्ताविपाशाकुहूदेविकाद्या नद्यः । सरलदेवदारुद्राक्षाकुङ्कुमचमराजिनसौवीरस्रोतोऽञ्जनसैन्धव-वैदूर्यतुरङ्गाणामुत्पादः ।

तेषां मध्ये मध्यदेश इति कविव्यवहारः । न चायं नानु-गन्ता शास्त्रार्थस्य । यदाहुः—

"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ॥"

देवसभ, माल्यशिखर, अर्बुद आदि यहाँ पर्वत हैं । सरस्वती, श्वभ्रवती, वार्तघ्नी मही, हिडिम्बा आदि नदियाँ यहाँ प्रवाहित होती हैं । इस देश में करीर, पीलु, गुग्गुल, खजूर, करभ आदि की पैदावार होती है ।

पृथूदक से आगे उत्तरापथ है । यहाँ शक, केकय, वोक्काण, हूण, वाणायुज, काम्बोज, वाह्लीक, वह्लव, लिम्पाक, कुलूत, कीर, तंगण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूरव, हूहुक, सहुड, हंसमार्ग, रमठ, करकण्ठ आदि जनपद हैं । हिमालय, कलिन्द्र, इन्द्रकील, चन्द्राचल आदि यहाँ पर्वत हैं । गंगा, सिन्धु, सरस्वती, शतद्रु (सतलज), चन्द्रभागा, यमुना, इरावती, वितस्ता (झेलम), विपाशा (व्यास), कुहू, देविका आदि नदियाँ हैं । सरल, देवदारु, द्राक्षा, कुंकुम, चमर, अजिन, सौवीर, स्रोतोञ्जन, सैन्धव, वैदूर्य, और अश्व यहाँ उत्पन्न होते हैं ।

इन सब देशों के बीच में मध्यदेश है । यह कवियों के व्यवहार में प्रचलित है, पर यह स्मरण रखना चाहिये कि यह केवल कवि-व्यवहार में ही प्रचलित नहीं, अपितु शास्त्रसमर्थित भी है । जैसा कि कहा है—

हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच में विनशन से पूर्व तथा प्रयाग से पश्चिम मध्यदेश कहा जाता है[1] ।

---

१. यह पद्य मनुस्मृति (२·२१) से लिया गया है । मध्यदेश का उल्लेख कामसूत्र में

तत्र च ये देशाः पर्वताः सरितो द्रव्याणामुत्पादश्च तत्-प्रसिद्धिसिद्धमिति न निर्दिष्टम् ।

द्वीपान्तराणां ये देशाः पर्वताः सरितस्तथा ।
नातिप्रयोज्याः कविभिरिति गाढं न चिन्तिताः ॥

"विनशनप्रयागयोर्गङ्गायमुनयोश्चान्तरमन्तर्वेदी । तद-पेक्षया दिशो विभजेत" इति आचार्याः । "तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्य" इति यायावरीयः । "अनियतत्वाद्दिशामनिश्चितो दिग्विभाग" इत्येके । तथा हि यो वामनस्वामिनः पूर्वः स ब्रह्मशिलायाः पश्चिमः, यो गाधिपुरस्य दक्षिणः स कालप्रिय-

---

मध्यदेश में जो देश अर्थात् जनपद, पर्वत, नदियाँ और उत्पन्न होने वाले द्रव्य हैं वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं अतः उनका यहाँ निर्देश नहीं किया जाता ।

इन उपरिनिर्दिष्ट देशादि के अतिरिक्त जो अन्य द्वीपस्थ देश, पर्वत तथा नदियाँ हैं वे कवियों के अधिक प्रयोजन की नहीं अतः उन पर विस्तृत विवेचन नहीं किया जाता ।

विनशन एवं प्रयाग तथा गंगा-जमुना के बीच में अन्तर्वेदी प्रदेश है ।[1] आचार्यों की सम्मति है कि उसी को आधार बनाकर दिशाओं को विभक्त करना चाहिये । राजशेखर का मत है कि इस अन्तर्वेदी में भी महोदय (कान्यकुब्ज) देश है, उसी को आधार बनाकर दिशाओं का विभाग करना चाहिये । कुछ लोगों की राय है कि दिशाओं के अनियत होने से दिशाओं का विभाग भी अनिश्चित है, क्योंकि जो देश वामनस्वामी (स्थान विशेष)[2] से पूर्व है वह ब्रह्मशिला से पश्चिम है और जो गाधिपुर से दक्षिण है वह कालप्रिय[3] से उत्तर है । इसका उत्तर देते हुये राजशेखर कहते हैं कि हमने जो

भी है—मध्यदेश्या आर्यप्रायाः शुच्युपचाराः । कामसूत्र २· ५·२१

मनुस्मृति का यही पद्य कामसूत्र की जयमंगला टीका में भी उद्धृत है और इसे भृगु-कृत बताया गया है ।

१. अन्तर्वेदी प्रदेश की सीमायें हैं—पश्चिम में सरस्वती, पूर्व में प्रयाग, उत्तर में गंगा तथा दक्षिण में यमुना । बालरामायण में भी अन्तर्वेदी का उल्लेख है । (द्र० बाल-रामायण १०·८६)

२. पद्मपुराण : सृष्टिखण्ड अध्याय ३५ के अनुसार भगवान् राम ने कन्नौज (महोदय) में वामन स्वामी का मंदिर बनाया था ।

३. महाकवि भवभूति के नाटकों में कालप्रियानाथ का प्रस्तावनाओं में निर्देश है । कालप्रियानाथ के स्थान-निश्चय के सन्दर्भ में महामहोपाध्याय प्रो० मिराशी के ग्रन्थ

स्योत्तर इति। "अवधिनिबन्धनमिदं रूपमितरत्त्वनियतमेव" इति यायावरीयः।

"प्राच्यपाचीप्रतीच्युदीच्यः चतस्रो दिशः" इत्येके।

तदाहुः—

"चतसृष्वपि दिक्षु रणे द्विषतः प्रति येन चित्रचरितेन।
विहितमपूर्वमदक्षिणमपश्चिममनुत्तरं कर्म॥"

"ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्या, नैऋंती, वारुणी, वायव्या, कौवेरी, ऐशानी चाष्टौ दिशः" इत्येके।

तदाहुः—

"एकं ज्योतिर्दृशौ द्वे त्रिजगति गदितान्यब्जजास्यैश्चतुर्भि-
र्भूतानां पञ्चमं यान्यलमृतुषु तथा षट्सु नानाविधानि।

ऊपर दिशा-निर्देश किया है वह सीमा से बद्ध है इससे अतिरिक्त अर्थात् बिना सीमा निश्चित किये दिग्विभाग अनिश्चित ही है।

कुछ लोगों का मत है कि प्राची, अपाची (दक्षिण), प्रतीची (पश्चिम) और उदीची (उत्तर) ये चार दिशायें हैं।

जैसे—उस विचित्र चरित वाले राजा ने चारों दिशाओं में अपने शत्रुओं के साथ जो व्यवहार किया वह अपूर्व, अदक्षिण (अर्थात् कुटिल), अपश्चिम (भविष्य में न होने वाला) तथा अनुत्तर था।

(यहाँ क्रमशः चारों दिशाओं का उल्लेख किया गया है)।

कुछ लोगों की राय है कि दिशायें आठ हैं—ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्या, नैऋंती, वारुणी, वायव्या, कौवेरी, और ऐशानी।

जैसा कि कहते हैं—आठों दिशाओं को व्याप्त करने वाली सूर्य की एक सहस्र किरणें आप लोगों का मङ्गल करें। वे सूर्य एक ज्योति होते हुए भी त्रैलोक्य में विष्णु के दो नेत्र रूप हैं, पञ्च भूतों के बीच पञ्चम भूत (तेजोरूप) हैं, और उनकी किरणें ब्रह्मा के चारों मुखों से प्रशंसित हैं; छहों ऋतुओं में

'स्टडीज इन इण्डोलाजी' भाग १, म० म० काणे संपादित उत्तररामचरित की प्रस्तावना, डी. सी. सरकार के ग्रन्थ 'स्टडीज इन ज्याग्राफी आफ एन्स्येण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया' ग्रन्थों में विशेष विमर्श किया गया है। काव्यमीमांसा बड़ौदा संस्करण की टिप्पणी में भी इसका निर्देश है। मिराशी, सरकार तथा काव्यमीमांसा बड़ौदा संस्करण के सम्पादक के अनुसार कालप्रियानाथ कालपी के सूर्यमंदिर के देवता हैं। डा० काणे इसे स्वीकार नहीं करते। इस संदर्भ में द्रष्टव्य—डा० गंगासागर राय: महाकवि भवभूति।

युष्माकं तानि सप्तत्रिदशमुनिनुतान्यष्टदिग्भाञ्जि भानो-
र्यान्ति प्राह्णे नवत्वं दश दधतु शिवं दीधितानां शतानि ॥"

"ब्राह्मी नागीया च द्वे ताभ्यां सह दशैताः" इत्यपरे ।

तदाहुः—

"दशदिक्कूटपर्यन्तसीमसङ्कटभूमिके ।
विषमा स्थूललक्ष्यस्य ब्रह्माण्डग्रामके स्थितिः ॥"

सर्वमस्तु, विवक्षापरतन्त्रा हि दिशामियत्ता । तत्र चित्रा-स्वात्यन्तरे प्राची, तदनुसारेण प्रतीची, ध्रुवेणोदीची, तदनु-सारेणापाची । अन्तरेषु विदिशः, ऊर्ध्वं ब्राह्मी, अधस्तान्ना-गीयेति ।

द्विविधो व्यवहारः कवीनां प्राक्सिद्धो विशिष्टस्थानावधि-साध्यश्च । तत्र प्राक्सिद्धे प्राची—

विभिन्न रूप धारण करने वाली हैं, सप्त देवर्षियों द्वारा पूजित हैं और प्रत्येक प्रातःकाल में नवीन होती है।[1]

दूसरे लोग कहते हैं कि इनमें ब्राह्मी (ऊपर) तथा नागीया (नीचे) को मिलाकर दश दिशाये हैं।

जैसा कि कहा है—महान् दानी व्यक्ति के लिए दश दिशारूप सीमाओं से सीमित भूमि वाला ब्रह्माण्ड ग्राम के तुल्य है और उसे यहाँ रहना कठिन है।

सब ठीक है। दिशाओं की सीमा विवक्षा से बद्ध है। इनमें चित्रा और स्वाती नक्षत्रों के बीच में प्राची दिशा है और उसी के अनुसार अर्थात् सामने प्रतीची दिशा है। ध्रुव से चिह्नित दिशा उत्तर है, उसके सामने की दिशा दक्षिण है। ऊपर ब्राह्मी दिशा है और नीचे नागीया है।

दिशाओं के विषय में कवियों के दो प्रकार के व्यवहार होते हैं, एक तो पूर्व-सिद्ध और दूसरा किसी विशिष्ट स्थान को अवधि (सीमा) बना कर। पूर्वसिद्ध के विषय में प्राची दिशा का उदाहरण यह है—

---

१. सूर्यशतक, १२

"द्वित्रैर्व्योम्नि पुराणमौक्तिकमणिच्छायैः स्थितं तारकै-
ज्योत्स्नापानभरालसेन वपुषा सुप्ताश्चकोराङ्गनाः ।
यातोऽस्ताचलचूलमुद्वसमधुच्छत्रच्छविश्चन्द्रमाः
प्राची बालबिडाललोचनरुचां जाता च पात्रं ककुप् ॥"

दक्षिणा—

"दक्षिणो दक्षिणामाशां यियासुः सोऽधिकं बभौ ।
जिहासुर्दक्षिणामाशां भगवानिव भास्करः ॥"

पश्चिमा—

"पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता ।
दीर्घया प्रतिमया सरोम्भसस्तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥

उत्तरा—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥"

आकाश में पुराने मोती के मणियों के समान कान्ति वाले दो-तीन तारे अवशिष्ट बचे हैं; चाँदनी पीने से अलस शरीर वाली चकोरियाँ सो गयी हैं, निकले हुए मधु वाले मधुच्छत्र के समान कान्ति वाला चन्द्रमा अस्ताचल की चोटी पर चला गया है और प्राची दिशा बिडाल के बच्चे की आँख जैसी हो गयी है।[1]

दक्षिण दिशा का वर्णन यह है—

दक्षिण दिशा की ओर जाने की इच्छा वाला वह उदार राजा अधिक शोभित हुआ जैसे भगवान् भास्कर दक्षिण दिशा को छोड़ने की इच्छा कर शोभित होते हैं।

पश्चिम दिशा का वर्णन यह है—हे मितभाषिणि ! पश्चिम प्रान्त में लटकने वाले अर्थात् अस्त होने वाले सूर्य को देखो जिन्होंने तालाब के जल में पड़ने वाले दीर्घ प्रतिबिम्ब से मानों सोने का सेतु बना दिया है।[2]

उत्तर दिशा का वर्णन यह है—उत्तर दिशा में देवताओं का अधिष्ठान हिमालय नाम का पर्वतराजा है जो पूर्व और पश्चिम समुद्रों के अवगाहन का पृथ्वी के मानदण्ड की भाँति स्थित है।[3]

---

१. विद्धशालभञ्जिका, १. २ २. कुमारसंभव, ८. ३२ ३. कुमारसंभव, १. १

विशिष्टस्थानावधौ तु दिग्विभागे पूर्वपश्चिमौ यथा—

"यादांसि हे चरत संगतगोत्रतन्त्रं
पूर्वेण चन्दनगिरेरुत पश्चिमेन ।
नो चेन्निरन्तरधराधरसेतुसूति-
राकल्पमेष न विरंस्यति वो वियोगः ॥"

दक्षिणोत्तरौ यथा—

"काञ्च्याः पुरो दक्षिणदिग्विभागे
तथोत्तरस्यां दिशि वारिराशेः ।
कर्णान्तचक्रीकृतचारुचापो
रत्या समं साधु वसत्यनङ्गः ॥"

उत्तरादावप्युत्तरदिगभिधानं, अनुत्तरादावपि उत्तरदिगभिधानम् ।

तयोः प्रथमम्—

"तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।

विशिष्ट स्थान की अवधि बना कर दिशाओं के विभाग में पूर्व-पश्चिम का यह उदाहरण है—

हे जलचरो ! इस चन्दनगिरि के पूर्व-पश्चिम अपने कुटुम्बियों के साथ यथेच्छ घूम लो नहीं तो पर्वतों के द्वारा सतत सेतु बन जाने से तुम लोगों का यह पारस्परिक वियोग कल्पान्त तक समाप्त नहीं होगा ।[१]

दक्षिण और उत्तर का वर्णन यह है—काञ्चीपुरी से दक्षिण दिशा में तथा समुद्र से उत्तर दिशा में कानों तक अपने सुन्दर धनुष को ताने कामदेव अपनी स्त्री रति के साथ सुखपूर्वक रहता है ।

उत्तर दिशा में भी उत्तर दिशा का कथन होता है और उत्तरातिरिक्त अन्य दिशाओं में भी उत्तर दिशा का वर्णन होता है । इनमें से पहले का उदाहरण यह है—

यक्ष मेघ से अपने घर का परिचय देते हुये कहता है—हे मेघ ! धनपति कुबेर के घर से उत्तर ओर मेरा घर है जो कि इन्द्रधनुष के समान सुन्दर

---

१. बालरामायण, ७. ४५

यस्योद्याने कृतकृतनयः कान्तया वर्द्धितो मे
हस्तप्राप्यः स्तबकविनतो बालमन्दारवृक्षः ॥"

द्वितीयम्—

'सह्याद्रेरुत्तरे भागे यत्र गोदावरी नदी ।
पृथिव्यामिह कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः ॥"

एवं दिगन्तरेष्वपि । तत्र देशपर्वतनद्यादीनां दिशां च यः क्रमस्तं तथैव निबध्नीयात् । साधारणं तूभयत्र लोकप्रसिद्धितश्च ।

तद्वद्वर्णनियमः । तत्र पौरस्त्यानां श्यामो वर्णः, दाक्षिणात्यानां कृष्णः, पाश्चात्यानां पाण्डुः, उदीच्यानां गौरः, मध्यदेश्यानां कृष्णः श्यामो गौरश्च ।

पौरस्त्यश्यामता—

"श्यामेष्वङ्गेषु गौडीनां सूत्रहारैकहारिषु ।
चक्रीकृत्य धनुः पौष्पमनङ्गो वल्गु वल्गति ।"

तोरण से दूर से ही दिखायी पड़ता है। उस मेरे घर के उद्यान में बाल मन्दार का वृक्ष है जिसे मेरी पत्नी ने पुत्र के समान पाल-पोस कर बढ़ाया है और जो पुष्पस्तवकों से नम्र होने के कारण हाथ से छू जाता है।[1]

दूसरे अर्थात् अन्य दिशाओं में उत्तर का कथन--सह्यपर्वत के उत्तर भाग में, जहाँ गोदावरी नदी वहती है, स्थित प्रदेश सम्पूर्ण पृथ्वी में मनोरम है।

इसी प्रकार अन्य दिशाओं का भी वर्णन होता है। उस दिशाओं में देश, नदी, पर्वत और दिशाओं का जो क्रम हो उसी के अनुसार वर्णन करना चाहिये। सामान्य वर्णन लोक-प्रसिद्धि तथा शास्त्र दोनों के अनुकूल होना चाहिये।

इसी प्रकार रंग के नियमों का भी अनुसरण करना चाहिये। पौरस्त्य लोगों का रंग (वर्ण) श्याम होता है, दाक्षिणात्यों का कृष्ण होता है; पाश्चात्यों का पाण्डु वर्ण होता है, उदीच्यों का गौर होता है और मध्यदेशीय जनों का कृष्ण, श्याम और गौर होता है।

पौरस्त्यों की श्यामता का उदाहरण--गौड़ रमणियों के सूत्र में गुंथे हुये

---

१. मेघदूत २. १२

दाक्षिणात्यकृष्णता—

"इदं भासां भर्त्तुर्द्रुतकनकगोलप्रतिकृति
क्रमान्मन्दज्योतिर्गलति नभसो बिम्बवलयम् ।
अथैष प्राचीनः सरति मुरलीगण्डमलिन-
स्तरुच्छायाचक्रैः स्तबकित इव ध्वान्तविसरः ॥"

पाश्चात्यपाण्डुता—

"शाखास्मेरं मधुकवलनाकेलिलोलेक्षणानां
भृङ्गस्त्रीणां बकुलमुकुलं कुन्तलीभावमेति ।
किं चेदानीं यवनतरुणीपाण्डुगण्डस्थलीभ्यः
कान्तिः स्तोकं रचयति पदं नागवल्लीच्छदेषु ॥"

उदीच्यगौरता—

"पुष्पैः सम्प्रति काञ्चनारतरवः प्रत्यङ्गमालिङ्गिताः
वाह्लीकीदशनव्रणारुणतरैः पत्रैरशोकोऽर्चितः ।

हारों से सुन्दर श्याम अङ्गों पर कामदेव पुष्प-धनुष को वृत्ताकार कर सुकरता से प्रहार करता है ।

दाक्षिणात्यों की कृष्णता का उदाहरण--सूर्य का यह बिम्ब जो गलाये स्वर्ण-गोलक के समान है तथा उसकी ज्योति मन्द पड़ गयी है धीरे-धीरे नीचे जा रहा है । उधर, पूर्व दिशा में मुरल-देश[1] निवासिनी स्त्रियों के कपोल की भाँति मलिन तथा वृक्षों की छायाओं से पुञ्जीभूत-सा अन्धकार का समूह प्रसृत हो रहा है ।

पाश्चात्यों की पाण्डुता का उदाहरण--

शाखाओं पर विकसित वकुल-कली मधुपान के लिये चञ्चल नेत्रों वाली भृंग-स्त्रियों के झलक की शोभा को प्राप्त कर रही है और यवन तरुणियों के पाण्डु गण्डस्थल की पीतिमा ताम्बूल-पत्रों पर स्थान पा रही हैं ।

उदीच्यों की गौरता का उदाहरण—

इस समय पुष्पों ने कचनार वृक्षों के समस्त अङ्गों का आलिङ्गन कर लिया है । अशोक वृक्ष बाह्लीक देश की रमणियों के उनके प्रियतमकृत

---

१. मुरल देश दक्षिण में अवस्थित है ।

जातं चम्पकमप्युदीच्यललनालावण्यचौर्यक्षमं
माञ्जिष्ठैर्मुकुलैश्च पाटलतरोरन्यैव काचिल्लिपिः ॥"

यथा वा—

"काश्मीरीगात्रलेखासु लोलल्लावण्यवीचिषु ।
द्रावयित्वेव विन्यस्तं स्वर्णं षोडशवर्णकम् ॥"

मध्यदेश्यकृष्णता यथा—

"युधिष्ठिरक्रोधवह्नेः कुरुवंशैकदाहिनः ।
पाञ्चालीं ददृशुः सर्वे कृष्णां धूमशिखामिव ॥"

तद्वन्मध्यदेश्यश्यामता । न च कविमार्गे श्यामकृष्णयोः पाण्डुगौरयोर्वा महान्विशेष इति कविसमयेष्ववोचाम ।

दन्तक्षत के समान लाल पत्रों से अलंकृत है। चम्पा भी उदीच्य ललनाओं के लावण्य को चुराने में सक्षम हो गया है और गुलाब की मञ्जिष्ठ वर्ण वाली कलियों से अन्य ही शोभा हो गयी है।[1]

(इस उदाहरण में चम्पक में शुक्लपुष्प-वृद्धि का वर्णन किया गया है। इस शुक्लता का (गौरता) की समता उदीच्य ललनाओं के सौन्दर्य से की गई है)।

अथवा—चञ्चल लावण्य की तरङ्गों वाली काश्मीर रमणियों की शरीर-पंक्तियों में मानो सोलह वर्णों वाला (अर्थात् विशुद्ध) सोना गला कर लेपा गया है।

मध्यदेशवासियों की कृष्णता का उदाहरण—कुरुवंश को जलाने वाली युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि की काली धूम्रशिखा के रूप में सभी ने पाञ्चाली को देखा।

इसी प्रकार मध्यदेशवासियों की श्यामता का वर्णन भी किया जाता है। कवि-वर्णन-परम्परा से श्याम-कृष्ण तथा पाण्डु-गौर में विशेष अन्तर नहीं—ऐसा मैं पहले कवि समय के अन्तर्गत कह चुका हूँ।

---

१. यह पद्य विद्धशालभञ्जिका (१. २५) तथा बालरामायण (५. ६८) में भी है। पर दोनों स्थानों पर कुछ अन्तर है। विद्धशालभञ्जिका में यह पद्य इस प्रकार है—

साम्यं सम्प्रति सेवते विचकिलं षाण्मासिकैर्मौक्तिकैः
वाह्लीकीदशनव्रणारुणतरैः पत्रैरशोकश्चितः ।
भृङ्गालम्बितकोटि किंशुकमिदं किञ्चिद्विवृन्तायते
माञ्जिष्ठैः स्तबकैश्च पाटलतरोरन्यैव काचिल्लिपिः ॥

बालरामायण में प्रथमचरण है—

मध्यदेश्यगौरता—

"तव नवनवनीतपिण्डगौरे प्रतिफलदुत्तरकोसलेन्द्रपुत्र्याः ।
अवगतमलिके मृगाङ्कबिम्बं मृगमदपत्रनिभेन लाञ्छनेन ॥"

विशेषस्तु पूर्वदेशे राजपुत्र्यादीनां गौरः पाण्डुर्वा वर्णः । एवं दक्षिणदेशेऽपि । तत्र प्रथमः—

"कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरस्फारोड्डमरपुलके वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥"

मध्यदेशवासियों की गौरता का उदाहरण—

हे कौशलेन्द्रपुत्रि ! तेरे सद्यः निकाले नवनीत पिण्ड के समान गौर ललाट में पड़ा हुआ चन्द्रविम्ब कस्तूरी के पत्र के समान चिह्न-सा प्रतीत होता है ।

(यहाँ पर 'नवनीतपिण्डगौर' पद मध्यदेशीय ललनाओं की गौरता को दर्शाता है) ।

विशेष कर पूर्वदेशीय राजपुत्र्यादि का भी गौर वर्ण वर्णित होता है । इनमें पहले का उदाहरण यह है—

हाथी के बच्चे के दाँत की शोभा को चुराने वाले (अर्थात् गौर) जानकी के कपोल में जिसमें कि कामोद्रेक के कारण उत्कट रोमाञ्च हो गया है अपने मुख-कमल को बार-बार देखते हुये तथा राक्षसों की सेना के कोलाहल को सुनते हुये रघुवंशियों के स्वामी भगवान् रामचन्द्र जटाजूट की गाँठ को कसने लगे ।[1]

सूते सम्प्रति दुग्धमुग्धसुभगं पुष्पोद्गमं मल्लिका ।

अन्य चरणों में भी ईषदन्तर है ।

१. महानाटकः ३. ५४—यहाँ जानकी का वर्णन यद्यपि पूर्वदेशीय विदेह में होने के कारण श्याम होना चाहिये पर राजपुत्री होने से ही गौर वर्णित है । महानाटक में द्वितीय चरण का पाठान्तर इस प्रकार है :—"स्मरस्मेरं गण्डोल्लसितपुलकं वक्त्रकमलम् ।" द्र० महानाटक, संपादक तथा व्याख्याकार डा० गंगासागर राय ।

द्वितीयः—

"तासां माधवपत्नीनां सर्वासां चन्द्रवर्चसाम् ।
शब्दविद्येव विद्यानां मध्ये जज्वाल रुक्मिणी ॥"

एवमन्यदपि यथासम्भवमभ्यूह्यम्—

निगदितनयविपरीतं देशविरुद्धं वदन्ति विद्वांसः ।
तत्परिहार्यं यत्नात्तदुदाहृतयस्तु दोषेषु ॥
इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूत्रितः सुधियाम् ।
यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ ॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
देशविभागः सप्तदशोऽध्यायः ॥

— * —

दूसरे का उदाहरण यह है--

चन्द्रमा के समान कान्ति वाली माधव की समस्त पत्नियों के बीच रुक्मिणी उसी भाँति शोभित हुई जैसे विद्याओं में शब्द-विद्या ।

(यहाँ यद्यपि दक्षिणदेशीय विदर्भ देश में उत्पन्न होने के कारण रुक्मिणी का वर्ण कृष्ण होना चाहिये पर राजपुत्री होने के कारण गौर वर्णित है) ।

इसी भाँति कवियों को अन्यान्य बातों की भी कल्पना करनी चाहिये ।[1]

जो हमने नीति अर्थात् देश-विभाग किया है उसके विपरीत विद्वान् लोग देशविरुद्ध करते हैं उसे कवियों को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये क्योंकि विरुद्धोदाहरण दोष है ।

इस प्रकार देश-विभाग मैंने यहाँ विद्वानों के लिये संकेत-मात्र से वर्णित किया है । जो अधिक जानना चाहता है उसे मद्विरचित भुवनकोश को देखना चाहिये ।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में
देश विभाग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ।

—:*:—

---

१. हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन विवेक में इस स्थल तक बिना राजशेखर का नाम लिये ही उद्धृत किया है पर बाद वाले दो पद्य उसमें नहीं हैं ।

अष्टादशोऽध्यायः

१८ कालविभागः

कालः काष्ठादिभेदभिन्नः[1]।

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशच्च काष्ठाः कथिताः कलेति।
त्रिंशत्कलश्चैव भवेन्मुहूर्त्तस्तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेते॥

ते च चैत्राश्वयुजमासयोर्भवतः। चैत्रात्परं प्रतिमासं मौहूर्त्तिकी दिवसवृद्धिः निशाहानिश्च त्रिमास्याः, ततः परं मौहूर्त्तिकी निशावृद्धिः दिवसहानिश्च। आश्वयुजात्परतः पुनरेतदेव विपरीतम्। राशितो राश्यन्तरसङ्क्रमणमुष्णभासो मासः, वर्षादि दक्षिणायनं, शिशिराद्युत्तरायणं, द्व्ययनः संवत्सर इति सौरं मानम्।

पञ्चदशाहोरात्रः पक्षः। वर्द्धमानसोमः शुक्लो, वर्द्धमानकृष्णिमा कृष्णः इति पित्र्यं माससमानम्। अमुना च वेदो-

---

काल का विभाग काष्ठादि से होता है। जैसे—

पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं का मुहूर्त और तीस मुहूर्तों का एक दिन-रात होता है।

वे रात-दिन और चैत्र आश्विन मासों में समान होते हैं। चैत्र के अनन्तर अर्थात् वैशाख से प्रतिमास एक मुहूर्त दिन की वृद्धि होती है और उतनी ही रात्रि में कमी होती है। यह क्रम तीन महीने तक चलता है। इसके अनन्तर रात्रि से प्रतिमास एक मुहूर्त की वृद्धि होती है और दिन की उतनी ही हानि। आश्विन से फिर यही क्रम लगता है पर विपरीत रीति से (अर्थात् रात्रि की प्रतिमास वृद्धि होती है और दिन की हानि। फिर तीन महीने बाद, दिन की वृद्धि और रात्रि की हानि)। सूर्य का एक राशि से दूरी पर संक्रमण (सौर) मास है। वर्षादि ऋतुओं में दक्षिणायन और शिशिरादि तीन ऋतुओं में उत्तरायण—ये दो अयन हैं और इन्हीं को मिलाकर संवत्सर बनता है। यह सौर मान है।

पन्द्रह दिन-रातों का एक पक्ष होता है। जिस पक्ष में चन्द्रमा की वृद्धि होती है वह शुक्ल पक्ष है तथा जिसमें चन्द्रमा की हानि होती है वह कृष्णपक्ष है। यह पित्र्य मास-मान है। इसी मान के आधार पर वेदोक्त सभी क्रियायें

---

१. कुछ प्रतियों में यह पंक्ति नहीं है।

दितः कृत्स्नोऽपि क्रियाकल्पः। पित्र्यमेव व्यत्ययितपक्षं चान्द्रमसम्। इदमार्यावर्त्तवासिनश्च कवयश्च मानमाश्रिताः। एवं च द्वौ पक्षौ मासः। द्वौ मासावृतुः। षण्णामृतूनां परिवर्त्तः संवत्सरः। स च चैत्रादिरिति दैवज्ञाः, श्रावणादिरिति लोकयात्राविदः। तत्र नभा नभस्यश्च वर्षाः, इष ऊर्जश्च शरत्, सहः सहस्यश्च हेमन्तः, तपस्तपस्यश्च शिशिरः, मधुर्माधवश्च वसन्तः, शुक्रः शुचिश्च ग्रीष्मः। तत्र "वर्षासु पूर्वो वायुः" इति कवयः। "पाश्चात्यः, पौरस्त्यस्तु प्रतिहन्ता" इत्याचार्याः।

तदाहुः—

"पुरोवाता हता प्रावृट् पश्चाद्वाता हता शरत्" इति।

तदाहुः—

"प्रावृष्यम्भोभृताम्मोदभरनिर्भरमम्बरम्।
कादम्बकुसुमामोदा वायवो वान्ति वारुणाः॥"

सम्पन्न की जाती हैं। पितरों के पक्षों को ही उलटा कर देने से अर्थात् पहले कृष्ण पक्ष पथा तदनन्तर शुक्ल पक्ष कर देने से चान्द्रमास होता है। आर्यावर्त के निवासी तथा कविगण इसी मान अर्थात् चान्द्रक्रम का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार दो पक्षों का मास होता है। दो मासों की ऋतु होती है। षड् ऋतुओं का परिवर्तन संवत्सर है। संवत्सर का प्रारम्भ ज्योतिषी लोग चैत्र से मानते हैं, लौकिक व्यवहार वाले इसे श्रावण से प्रारम्भ मानते हैं। इसमें श्रावण और भाद्रपद की वर्षा ऋतु होती है, आश्विन और कार्तिक की शरद् ऋतु होती है। मार्गशीर्ष और पौष का हेमन्त होता है, माघ और फाल्गुन का शिशिर होता है, चैत्र-वैशाख का वसन्त होता है तथा ज्येष्ठ-आषाढ़ की ग्रीष्म ऋतु होती है।[1] वर्षा ऋतु में पूर्वीय वायु का चलना कविजन बताते हैं। आचार्यों का कथन है कि पश्चिम वायु वर्षा ऋतु में चलती है, पूर्वीय वायु उसकी विरोधिनी है।

जैसा कि कहा गया है—पूर्वीय वायु वाली वर्षा नष्ट हो जाती है और पश्चिमीय वायु वाली शरद् ऋतु नष्ट हो जाती है।

और भी बताते हैं—'वर्षा ऋतु में आकाश जलपूर्ण बादलों से व्यापृत हो जाता है और कदम्ब कुसुमों से सुगन्धित पाश्चात्य वायु बहती है।

---

१. मासों के इन वैदिक नामों के लिये द्रष्टव्य तैत्तिरीयसंहिता १. ४. १४. १।

"वस्तुवृत्तिरतन्त्रं, कविसमयः प्रमाणम्" इति यायावरीयः।

तदाहुः—

"पौरस्त्यस्तोयदर्त्तोः पवन इव पतन्पावकस्येव धूमो
विश्वस्येवादिसर्गः प्रणव इव परं पावनं वेदराशेः।
सन्ध्यानृत्तोत्सवेच्छोरिव मदनरिपोर्नन्दिनान्दीनिनादः
सौरस्याग्रे सुखं वो वितरतु विनतानन्दनः स्यन्दनस्य ॥"

शरद्यनियतदिक्को वायुर्यथा—

"उषःसु वसुराकृष्टजडावश्यायशीकराः।
शेफालीकलिकाकोशकषायामोदिनोऽनिलाः ॥"

"हेमन्ते पाश्चात्यो वायुः" इति एके। "उदीच्य" इति अपरे।

(इस शास्त्रीय व्यवहार तथा कवि समय के अन्तर के विषय में अपना निर्णय देते हुये) राजशेखर कहते हैं कि वस्तुओं का व्यवहार पराधीन (अनियमित) होता है, अतः कविसमय ही प्रमाण है।

जैसा कि कहा गया है—वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में पूर्वीय वायु की भाँति, अग्नि के प्रारम्भ में धूम की भाँति तथा विश्व के आदि सर्ग वेदराशि के पूर्व प्रणव की भाँति, तथा सान्ध्यकालीन नृत्त-इच्छुक शिव के मङ्गल पाठों के शब्द की भाँति सूर्य के रथ के आगे आगे चलने वाले विनता-नन्दन अरुण आप लोगों को सुख दें।[1]

शरद् ऋतु में अनिश्चित दिशा की वायु बहती है जैसे—शरद् ऋतु में प्रातःकाल शीतल ओस-कणों से युक्त तथा शेफालिका-कली के सुरभि से सुगन्धित हवायें बहती हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि हेमन्त में पश्चिमीय वायु बहती है। अन्य लोगों का कहना है कि उत्तरी हवा बहती है।

---

१. भाव यह है कि यद्यपि शास्त्रानुसार वर्षा में पाश्चात्य वायु होनी चाहिये पर कविजन पूर्वीय का ही उल्लेख करते हैं और इस विषय में कविजन ही प्रमाण माने जायेंगे। यह पद्य सूर्यशतक (५५) का है।

"उभयमपि" इति यायावरीयः। तयोः पाश्चात्यः—

"भञ्जन्भूर्जद्रुमालीस्तुहिनगिरितटेषूद्गतास्त्वक्करालाः
रेवाम्भःस्थूलवीचीचयचकितचलच्चातकान् व्याधुनानः।
पाश्चात्यो वाति वेगाद् द्रुततुहिनशिलाशीकरासारवर्षी
मातङ्गक्षुण्णसान्द्रस्नुतसरलतरत्सारसारी समीरः॥"

उदीच्यः—

"लम्पाकीनां किरन्तश्चिकुरविरचनां रल्लकांल्लासयन्तः
चुम्बन्तश्चन्द्रभागासलिलमविकलं भूर्जकाण्डैकचण्डाः।
एते कस्तूरिकैणप्रणयसुरभया वल्लभा बाह्लवीनां
कौलूतीकेलिकाराः परिचयितहिमं वायवो वान्त्युदीच्याः॥"

शिशिरेऽपि हेमन्तवदुदीच्यः पाश्चात्यो वा। वसन्ते दक्षिणः। तदुक्तम्—

"धुन्वन् लङ्कावनालीर्मुहुरलकलता लासयन्केरलीना-

यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि दोनों हवायें बहती हैं पाश्चात्य वायु का उदाहरण यह है।

हिमालय में उत्पन्न कठोर छालों वाले भूर्ज-वृक्षों की पंक्तियों को तोड़ती हुई रेवा नदी के जल में बड़ी-बड़ी तरङ्गों से चकित होकर चलने वाले चकोरों को कँपाती हुई पिघली हुई हिमशिलाओं के कणों को वर्षाती हुई तथा हाथियों से त्रुटित होने से देवदारु वृक्षों से निकलने वाले रस से सुरभित पश्चिमीय वायु बह रही है। उत्तरीय वायु का उदाहरण यह है—

लम्पाकदेशीय रमणियों के केश-विन्यास को अस्त-व्यस्त करते हुए स्त्रियों के शिरःसिन्दूर को उल्लसित करते हुये, चन्द्रभागा नदी के जल का सतत चुम्बन करते हुये, भूर्ज वृक्षों के स्कन्धों में प्रचण्डता के साथ बहते हुये, कस्तूरी-मृगों के संसर्ग से सुगन्धित वह्लव देश की रमणियों के प्रिय, और कुलूत देश को रमणियों के क्रीड़ा-सम्पादक ये शीतल उत्तरी वायु बन रहे हैं।[1]

शिशिर-ऋतु में भी हेमन्त की भाँति उत्तरीय वा पाश्चात्य पवन प्रवाहित होते हैं। वसन्त ऋतु में दक्षिण पवन प्रवाहित होता है। इसका उदाहरण यह है—

लंका की वृक्ष-पक्तियों को हिलाते हुये, केरल-कामिनियों के केश-कलाप

---

१. बालरामयण (५. ३५)।

मान्ध्रीधम्मिल्लग्रन्धान्सपदि शिथिलयन्वेल्लयन्नागवल्लीः ।
उद्दामं दाक्षिणात्यो मलितमलयजः सारथिर्मीनकेतोः
प्राप्तः सीमन्तिनीनां मधुसमयसुहृन्मानचौरः समीरः ॥"

"अनियतदिक्को वायुर्ग्रीष्मे" इत्येके । "नैर्ऋतः" इत्यपरे ।

"उभयमपि" इति यायावरीयः । तत्र प्रथमः—

"वात्याचक्रकचुम्बिताम्बरभुवः स्थूला रजोदण्डकाः
संग्रथ्नन्ति भविष्यदभ्रपटलस्थूणावितर्कं नभः ।
किं चान्यन्मृगतृष्णिकाम्बुविसरैः पात्राणि वीतार्णसां
सिन्धूनामिह सूत्रयन्ति दिवसेष्वागामिनीं सम्पदम् ॥"

द्वितीयः—

"सोऽयं करैस्तपति वह्निमयैरिवार्कः साङ्गारविस्तरभरेव धरा समग्रा ।
वायुः कुकूलमिव वर्षति नैर्ऋतश्च कार्शानवैरिव शरैर्मदनश्च हन्ति ॥"

को धीरे-धीरे सुशोभित करते हुये, आन्ध्रदेशीय नायिकाओं के केशबन्ध को द्रुतगति से शिथिल करते हुये, नागवल्ली (पान) लता को हिलाते हुये, कामदेव का सारथिभूत वसन्त का मित्र, स्त्रियों के मान को चुराने वाला, मलय-चन्दन से सुगन्धित दाक्षिणात्य वायु प्रवाहित होने लगा ।

कुछ लोगों का कहना है कि ग्रीष्म में अनियत दिशा की हवा बहती है । दूसरे लोग कहते हैं कि नैर्ऋत्य वायु बहता है । राजशेखर का कहना है कि दोनों हवायें वहती हैं । इनमें से पहले का उदाहरण—

ग्रीष्म ऋतु में वायु के चक्करों से आकाश तथा पृथ्वी के बीच धूल का लम्बा स्तम्भ बन जाता है जो आकाश में आने वाले मेघ-समूहों के स्तम्भ का भ्रम उत्पन्न करता है । इसके अतिरिक्त, सूखे जलवाली नदियों के स्थल मृग-तृष्णा के जलों के विस्तार द्वारा आगामी दिनों में आने वाली जल-सम्पत्ति की सूचना देते हैं ।

दूसरे का उदाहरण—

(ग्रीष्म ऋतु में) सूर्य अग्निमय किरणों से तप रहा है, सारी पृथ्वी मानों अङ्गारों से भर गयी है, नैर्ऋत्य वायु मानों तुषारानल की वर्षा कर रही है और कामदेव मानो अग्निमय वाणों से प्रहार कर रहा है ।

किञ्च—

"गर्भान्बलाकासु निवेशयन्तो वंशाङ्कुरान्स्वैर्निनदैः सृजन्तः ।
रजोऽम्बुदाः प्रावृषि मुद्रयन्तो यात्रोद्यमं भूमिभृतां हरन्ति ॥
स सल्लकीसालशिलीन्ध्रयूथीप्रसूनदः पुष्पितलाङ्गलीकः ।
दग्धोर्वरासुन्दरगन्धबन्धुरर्घत्ययं वारिमुचामनेहा ॥
वनानि नीलीदलमेचकानि धाराम्बुधौता गिरयः स्फुरन्ति ।
पूराम्भसा भिन्नतटास्तटिन्यः सान्द्रेन्द्रगोपानि च शाद्वलानि ॥
चकोरहर्षी यतिचारचौरो वियोगिनीवीक्षितनाथवर्त्मा ।
गृहान्प्रति प्रस्थितपान्थसार्थः कालोऽयमाध्मातनभाः पयोदैः ॥

ग्रीष्म ऋतु के वर्णन के अनन्तर अब अन्य ऋतुओं का वर्णन किया जा रहा है—

वर्षा-काल में बादल बगुलियों में गर्भ का आधान करते हुये,[1] अपने गर्जनों से बाँसों में अङ्कुर उत्पन्न करते हुये तथा धूलों को आच्छादित करते हुये अर्थात् कीचड़ उत्पन्न करते हुये राजाओं की विजय-यात्रा के उद्यम को दूर करते हैं ।

सल्लकी, साल, शिलीन्ध्र, यूथी को पुष्प प्रदान करने वाला, लाङ्गली को पुष्पित करने वाला तथा तप्त भूमि में जल गिराने से उससे निकली हुई गन्ध से सुगन्धित वर्षा का दिन सुन्दर होता है ।

इस वर्षा ऋतु में वन नीलपत्रों से सुशोभित हो गये हैं, वर्षा-धार से धुले हुये पर्वत सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं, नदियों ने जल भर जाने से तटों को तोड़ डाला है और घासयुक्त स्थल वीरबहूटियों के झुण्ड से युक्त है ।

इस वर्षा-काल में चकोर हर्षित हो जाते हैं, यतियों का पर्यटन रुक जाता है, वियोगिनियाँ अपने पति का मार्ग देखने लगती हैं, पथिक अपने-अपने गृहों को चल देते हैं और आकाश बादलों से घिर जाता है ।

---

१. यह प्रसिद्ध है कि वर्षा–काल में बलाका गर्भ धारण करती है । इस विषय में प्रसिद्ध उदाहरण ये हैं—

(१) गर्भं बलाका दधतेऽभ्रयोगान्नाके निबद्धावलयः समन्तात्—कर्णोदय ।

(२) गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः—मेघदूत पद्य ९ ।

(३) मेघाभिकामा परिसंपतन्ती संमोदिता भाति बलाकपंक्तिः ॥—रामायण ॥

या केलियात्रा करिकामिनीभि-
र्या तुङ्गहर्म्याग्रविलासशय्या ।
चतुःसमं (मो यो) यन्मृगनाभिगर्भं(र्भः)
सा वारिदर्त्तोः प्रथमातिथेयी ॥
चलच्चटुलचातकः कृतकुरङ्गरागोदयः
सदर्दुररवोद्यमो मदभरप्रगल्भोरगः ।
शिखण्डिकुलताण्डवामुदितमद्गुकङ्काह्वयो
वियोगिषु घनागमः स्मरविषं विषं मुञ्चति ॥
दलत्कुटजकुड्मलः स्फुटितनीपपुष्पोत्करो
धवप्रसवबान्धवः प्रचितमञ्जरीकार्जुनः ।
कदम्बकलुषाम्बरः कलितकेतकीकोरक-
श्चलन्निचुलसञ्चयो हरति हन्त घर्मात्ययः ॥ वर्षाः ॥

वर्षा ऋतु में हथिनियों से यात्रा होती है, ऊँचे महलों के ऊपर कामिनियों की विलास- शय्या लगती है और मृग-नाभि (अर्थात् कस्तूरी) से सुगन्धित चतुःसम[1] का भी इस में उपयोग है ।

बादलों के आने से चपल चातक चलने लगते हैं, हरिणों में राग (प्रेम) उत्पन्न हो जाता है, मेंढकों की आवाज होने लगती है, सर्प मदवृद्धि से प्रगल्भ हो जाता है, मोरों का नृत्य होने लगता है और मद्गु तथा कङ्क नामक जल-चर पक्षी प्रसन्न हो जाते हैं । पर यह बादलों का आगमन वियोगियों पर काम-विष के उत्पादक विषों (जलों) को वर्षाता है ।

वर्षा ऋतु में कुटज पुष्प की कलियाँ फूल उठती हैं, नीप-पुष्प-समूह फूल जाता है, धव वृक्ष में पुष्प-प्रसव हो जाता है, अर्जुन वृक्ष में मञ्जरियां लग जाती हैं, कदम्ब पुष्प से आकाश कालुष्य को प्राप्त हो जाता है, केले में कपोलें आ जाती हैं, वेतसमूह (जल से) चञ्चल हो जाता है तथा घाम का नाश हो जाता है ।

यह वर्षा का वर्णन हुआ ।

---

१. चतुःसम का अर्थ केसर, कस्तूरी, चन्दन और कपूर के समभाग से निर्मित चूर्ण है ।

द्राग्गर्जयन्ती विमदान्मयूरान्प्रगल्भयन्ती कुररद्विरेफान् ।
शरत्समभ्येति विकास्य पद्मानुन्मीलयन्ती कुमुदोत्पलानि ॥

सा भाति पुष्पाणि निवेशयन्ती बन्धूकबाणासनकुङ्कुमेषु ।
शेफालिकासप्तपलाशकाशभाण्डीरसौगन्धिकमालतीषु ॥

सखञ्जरीटा सपयःप्रसादा सा कस्य नो मानसमाच्छिनत्ति ।
कादम्बकारण्डवचक्रवाकससारसक्रौञ्चकुलानुयाता ।
उपानयन्ती कलहंसयूथमगस्त्यदृष्ट्या पुनती पयांसि ।
मुक्तासु शुभ्रं दधती च गर्भं शरद्विचित्रैश्चरितैश्चकास्ति ॥

क्षितिं खनन्तो वृषभाः खुराग्रै रोधो विषाणैर्द्विरदा रदन्तः ।
शृङ्गं त्यजन्तो रुरवश्च जीर्णं कुर्वन्ति लोकानवलोकनोत्कान् ॥

अत्रावदातद्युति चन्द्रिकाम्बुनीलावभासं च नभः समन्तात् ।

अब शरद् का वर्णन करते हुये कहते हैं—

मद-रहित मयूरों को गर्जित करता हुआ, कुररी तथा भ्रमरों को प्रगल्भ बनाता हुआ, कमलों को विकसित करता हुआ तथा कुमुदोत्पलों को प्रस्फुटित करता हुआ शरत्काल आ रहा है ।

वन्धूक, वाण, असन, केसर, शेफालिका, सप्तपर्ण, पलाश, काश, भाण्डीर, कल्हार एवं मालती में पुष्पों का आधान करती हुई शरद्-ऋतु शोभित हो रही है ।

खञ्जन पक्षियों से युक्त, स्वच्छ जल वाली तथा कादम्ब, कारण्डव, चक्रवाक, सारस, क्रौंच और वगुलों से आपूर्ण शरद् ऋतु किसके मन को नहीं मोह लेती ?

कलहंसों के यूथों को लाती हुई, अगस्त्य तारे की दृष्टि अर्थात् (उदय) से जलों को पवित्र (स्वच्छ) करती हुई, मुक्ताओं में शुभ्र गर्भ का आधान करती हुई शरद् ऋतु इन विचित्र आचरणों से युक्त है ।

इस शरद ऋतु में वृषभ खुरों से पृथ्वी खोदते हुये, हाथियों का झुण्ड दांतों से नदी-तट खोदते हुये तथा रुरु-मृग पुराने सींगों का त्याग करते हुये जगत् को देखने के लिये उत्सुक बना देते हैं ।

इस शरद् ऋतु में चन्द्र किरणें स्वच्छ कान्ति वाली होती हैं, आकाश

सुरेभवीथी दिवि सावतारो जीर्णाभ्रखण्डानि च पाण्डुराणि ॥
महानवम्यां निखिलास्त्रपूजा नीराजना वाजिभटद्विपानाम् ।
दीपालिकायां विविधा विलासा यात्रोन्मुखैरत्र नृ
व्योम्नि तारतरतारकोत्करः स्यन्दनप्रचरणक्षमा मही ।
भास्करः शरदि दीप्रदीधितिर्बुध्यते च सह माधवः सुरैः ॥

केदार एव कलमाः परिणामनम्राः
प्राचीनमामलकमर्घति पाकनीलम् ।
एर्वारुकं स्फुटननिर्गतगर्भगन्ध-
मम्लीभवन्ति च जरत्त्रपुसीफलानि ॥

गेहाजिरेषु नवशालिकणावपात-
गन्धानुभावसुभगेषु कृषीवलानाम् ।
आनन्दयन्ति मुसलोल्लसनावधूत-
पाणिस्खलद्वलयपद्धतयो वधूट्यः ॥

सर्वत्र नील वर्ण का हो जाता है; आकाश में देवमार्ग सञ्चरणयुक्त (अर्थात् नक्षत्रों से व्याप्त) हो जाता है तथा छोटे-छोटे मेघ-खण्ड पाण्डुर वर्ण के हो जाते हैं ।

इस शरद् ऋतु में विजय यात्रा करने वाले राजाओं के द्वारा महानवमी के दिन समस्त अस्त्रों की पूजा होती है एवं घोड़े, वीरों तथा हाथियों का पूजन होता है तथा दीपावली के दिन विविध विलास मनाये जाते हैं ।

इस शरद् ऋतु में आकाश में अतिशय निर्मल तारों का समूह प्रभावित होता है, पृथ्वी रथ के चलने के उपयुक्त हो जाती है, सूर्य की किरणें प्रखर हो जाती हैं और (हरिप्रबोधिनी के दिन) देवताओं के साथ भगवान् माधव जग जाते हैं ।

कलम (धान) इस शरद् ऋतु में पककर खेत में ही लटक जाते हैं, पुराना आँवला पककर नील वर्ण का हो जाता है, एर्वारुक फल फूटने से निकली हुई सुगन्ध से सुगन्धित होता है तथा पके इमली के फल खट्टे हो जाते हैं ।

इस शरद् ऋतु में कृषकों के नये धान के गिरे कणों से सुगन्धित घरों में वे नारियाँ आनन्दित हो रही हैं जिनके हाथों के कङ्कण मुसल चलाने से नीचे खिसक रहे हैं ।

तीक्ष्णं रविस्तपति नीच इवाचिराढ्यः
　　शृङ्गं रुरुस्त्यजति मित्रमिवाकृतज्ञः ।
तोयं प्रसीदति मुनेरिव धर्मचिन्ता
　　कामी दरिद्र इव शोषमुपैति पङ्कम् ॥
नद्यो वहन्ति कुटिलक्रमयुक्तशुक्ति-
　　रेखाङ्कवालपुलिनोदरसुप्तकूर्माः ।
अस्यां तरङ्गितनुतोयपलायमान-
　　मीनानुसारिवकदत्तकरालफालाः ॥
अपङ्किलतटावटः शफरफाण्टफालोज्ज्वलः
　　पतत्कुररकातरभ्रमदभ्रमीनार्भकः ।
लुठत्कमठसैकतश्चलवकोटवाचाटितः
　　सरित्सलिलसंचयः शरदि मेदुरः सीदति ॥"
शरत् ॥

"द्वित्रिमुचुकुन्दकलिकस्त्रिचतुरमुकुलः क्रमेण लवलीषु ।

इस शरद् ऋतु में तेज सूर्य उसी प्रकार तपता है जैसे नया धनी बना कोई नीच व्यक्ति; रुरु मृग अपने पुरानी सींगोंको उसी प्रकार छोड़ देता है (जैसे काम निकल जाने पर) कृतघ्न व्यक्ति अपने मित्र का त्याग कर देता है, जल उसी प्रकार निर्मल होता है जिस प्रकार मुनि की धर्म-चिन्तना तथा कीचड़ उसी प्रकार सूखता है जैसे दरिद्र कामी व्यक्ति सूखता है।[1]

इस शरद् ऋतु में नदियों का पुलिन सूख जाता है और उन पर सीप की टेढ़ी रेखायें बन जाती हैं। कछुये आकर उस पुलिन पर सोते हैं। उन नदियों के चंचल जल में दौड़ती हुई मछलियों को पकड़ने के लिए वगुले तीखे चोंचों से प्रहार करते हैं।

शरद ऋतु में नदियों का गंभीर जल प्रसन्न प्रतीत हो रहा है क्योंकि इस समय तटवर्ती गड्ढों का कीचड़ सूख जाता है, मछलियों के उछलने से जल उज्ज्वल होता है, लपकती हुई कुररी के डर से मछलियों के बच्चे भागते हैं, वालू पर कछुये लोटते हैं तथा चञ्चल वगुले शब्द करते हैं।

यह शरद् का वर्णन हुआ।

(हेमन्त का वर्णन करते हुए कहते हैं—)

हेमन्त के इस नवागमन की जय हो जिसके आने से मुचकुन्द में दो-

---

१. शार्ङ्गधरपद्धति में इसे भासकृत कहा गया है।

पञ्चषफलिनीकुसुमो जयति हिमर्तुर्नवावतरः ॥
पुन्नागरोध्रप्रसवावतंसा वामभ्रुवः कञ्चुककुञ्चिताङ्ग्यः ।
वक्रोल्लसत्कुङ्कुमसिक्थकाङ्काः सुगन्धतैलाः कबरीर्वहन्ति ॥
यथा यथा पुष्यति शीतकालस्तुषारचूर्णोत्करकीर्णवातः ।
तथा तथा यौवनशालिनीनां कवोष्णतामत्र कुचा लभन्ते ॥
वराहचर्माणि नवौदनानि दधीनि सन्नद्धशराणि चात्र ।
सुकोमलाः सर्षपकन्दलीश्च भुक्त्वा जनो निन्दति वैद्यविद्याम् ॥
अत्रोपचारः सलिलैः कवोष्णैर्यत्किञ्चिदत्र स्वदतेऽन्नपानम् ।
सुदुर्भगामत्र निपीड्य शेते स्वस्त्यस्तु नित्यं तुहिनर्तवेऽस्मै ॥
विमुक्तवर्हा विमदा मयूराः प्ररूढगोधूमयवा च सीमा ।

तीन कलिकायें आ गयी हैं, लवली में तीन-चार कलिकायें लग गयी हैं और फलिनी के भी पाँच फूल निकल आये हैं।

हेमन्त ऋतु में नागकेसर तथा लोध्र के फूलों का अवतंस बनाने वाली तथा चोली से कसे शरीर वाली वामाङ्गनायें केशवेशों को धारण कर रही हैं जिन केशों में मधूच्छिष्ट तथा सुगन्धित तेल लगे हुये हैं।

वर्फ के कणों को वरसाने वाली हवाओं से युक्त शीत ऋतु जैसे-जैसे बढ़ती है वैसे-वैसे युवतियों के कुचों में उष्णता बढ़ती जाती है।

इस हेमन्त ऋतु में लोग शूकर का मांस, नये चावल का भात, साढ़ी-(मलाई) युक्त दही तथा सरसों के कोमल कन्दों को खाकर चिकित्साशास्त्र की निन्दा करते हैं (भाव यह है ये पदार्थ हेमन्त ऋतु के उपयुक्त हैं और उन्हें खाने वाला रुग्ण नहीं होता)[1]।

इस हेमन्त ऋतु में ईषद् उष्ण जल का व्यवहार होता है और स्वल्प भी अन्न-पान सुखकर होता है (अथवा ईषदुष्ण अन्नपानादि का इस ऋतु में उपयोग होता है)। इस ऋतु में लोग कुरूपाओं का भी गाढ़ आलिङ्गन कर सोते हैं। ऐसे इस हेमन्तर्तु को नमस्कार है।

इस हेमन्त ऋतु में मयूर पंखों का त्याग कर मद-रहित हो जाते हैं, खेतों

---

१. तुलना कीजिये—

इक्षुदण्डस्य मण्डस्य दध्नः पिष्टकृतस्य च।
वराहस्य च मांसस्य सैष गच्छति फाल्गुनः॥ —काव्यमीमांसा, अध्याय ८

व्याघ्रीप्रसूतिः सलिलं सबाष्पं हेमन्तलिङ्गानि जयन्त्यमूनि ॥

सशमीधान्यपाकानि क्षेत्राण्यत्र जयन्ति च ।
त्रिशङ्कुतिलका रात्र्यः पच्यन्ते लवणानि च ॥

उद्यानानां मूकपुंस्कोकिलत्वं भृङ्गस्त्रीणां मौनमुद्रा मुखेषु ।
मन्दोद्योगा पत्रिणां व्योमयात्रा हेमन्ते स्यात्सर्पदर्पक्षयश्च ॥
कर्कन्धूनां नागरङ्गीफलानां पाकोद्रेकः खाण्डवोऽप्याविरस्ति ।
कृष्णेक्षूणां पुण्ड्रकाणां च गर्भे माधुर्यश्रीर्जायते काप्यपूर्वा ॥
येषां मध्येमन्दिरं तल्पसम्पत् पार्श्वे दाराः स्फारतारुण्यताराः ।
लीलावह्निर्निह्नुतोद्दामधूमस्ते हेमन्तं ग्रीष्मशेषं विदन्ति ॥"

इति हेमन्तः । हेमन्तधर्मः शिशिरः, विशेषस्तु ।

"रात्रिर्विचित्रसुरतोचितयामदैर्घ्या
चण्डोमरुद्वहति कुङ्कुमपङ्कसाध्यः ।
तल्पस्थितिर्द्विगुणतूलपटा किमन्य-
दर्घन्ति चात्र विततागुरुधूपधूमाः ॥

में गेहूँ-जो लहराने लगते हैं, व्याघ्री प्रसव करती है और जल वाष्पयुक्त हो जाते हैं। हेमन्त के इन चिह्नों की जय हो।

इस ऋतु में छिलके वाले अन्न खेतों में पकने लगते हैं, इस ऋतु की रातों में त्रिशङ्कु तारा उदित हो जाता है और इस ऋतु में नमक पकता है।

इस हेमन्त ऋतु में उद्यानों में कोकिलों का कूजन नहीं सुनायी पड़ता, भृङ्ग-स्त्रियों के मुखों पर मौन छा जाता है, पक्षियों की आकाश में उड़ान धीमी पड़ जाती है और सर्प का मद नष्ट हो जाता है।

इस हेमन्त ऋतु में वेर तथा नारङ्गी के फल पकने लगते हैं तथा उनमें मिठास भी आ जाती है एवं कृष्ण तथा पुण्ड्रक नामक ईखों में अपूर्व माधुर्य आ जाता है।

जिनके घर में शय्या है, पार्श्व में खिलते यौवन वाली सुन्दर तरुणी है और धूमरहित अग्नि है वे हेमन्त को ग्रीष्म के शेष भाग जैसा बिताते हैं।

यह हेमन्त का वर्णन हुआ। शिशिर भी हेमन्त से साधर्म्य रखता है। विशेष का वर्णन इस प्रकार है—

इस शिशिर ऋतु में रातें लम्बी होने से रति-क्रीडा के उपयुक्त होती हैं, हवा प्रचण्ड बहती है अतः कुङ्कुमादि का सेवन उपयुक्त होता है, शय्या पर

आश्लेषिणा पृथुरतक्लमपीतशीत-
मायामिनीं घनमुदो रजनीं युवानः।
उर्वोर्मुहुर्वलनबन्धनसंधिलोल-
पादान्तसंवलिततूलपटाः स्वपन्ति॥

पानेऽम्भसोः सुरसनीरसयोर्न भाति
स्पर्शक्रियासु तुहिनानलयोर्न चात्र।
नो दुर्भगासुभगयोः परिरम्भणे च
नो सेवने च शशिभास्करयोर्विशेषः॥

पुष्पक्रिया मरुवके जलकेलिनिन्दा
कुन्दान्यशेषकुसुमेषु धुरि स्थितानि।
सौभाग्यमेणतिलकाङ्कजतेऽर्कबिम्बं
काले तुषारिणि दहन्ति च चन्दनानि॥

सिद्धार्थयष्टिषु यथोत्तरहीयमानसन्तानभिन्नघनसूचिपरम्परासु।

दुगुनी रूई वाले वस्त्र आ जाते हैं तथा अगुरु के धूम भी फैल जाते हैं।

अत्यन्त हर्षित युवकजन रतिजन्य महान् श्रम से शीत को नष्ट कर प्रिया का आलिङ्गन कर जाड़े की लम्बी रातों को बिताते हैं तथा बार-बार इधर-उधर करवटें बदलने से जिसके तागे ढीले पड़ गये हैं ऐसी रजाइयों को पैरों से दबा कर सोते हैं।

शिशिर- ऋतु में अत्यन्त शैत्यवशात् जल पीने में सरस और नीरस का भेद नहीं मालूम होता, स्पर्श करने में बर्फ तथा अग्नि में भी भेद नहीं प्रतीत होता, आलिङ्गन में सुन्दरी-असुन्दरी का भेद नहीं मालूम पड़ता और चन्द्र तथा सूर्य के सेवन में भी पार्थक्य की प्रतीति नहीं होती।

इस शीतकाल में मरुवक के पौधे में फूल लगने लगते हैं; जलक्रीड़ा का कोई नाम नहीं लेता; कुन्द का वृक्ष सभी पुष्पों में वरिष्ठता को प्राप्त हो जाता है, चन्द्र की अपेक्षा सूर्य अधिक सुभग हो जाता है और चन्दन का लेप दाहक हो जाता है।

क्रमशः क्षीण होते फूलों तथा विघटित शिराओं वाली श्वेत सरसों[1] में

---

१. सिद्धार्थ यष्टि का अर्थ है श्वेत सरसों।

द्वित्रावशेषकुसुमासु जनिक्रमेण पाकक्रमः कपिशिमानमुपादधाति ॥
उदीच्यचण्डानिलताडितासु सुलीनमीनासु जलस्य मूले ।
नालावशेषाब्जलतास्विदानीं विलासवापीषु न याति दृष्टिः ॥
माद्यन्मतङ्गः पृषतैकतोषी पुष्यद्वराहो धृतिमल्लुलायः ।
दरिद्रनिन्द्यः सधनैकवन्द्यः स एष कालः शिशिरः करालः ॥

अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपा-
दसरलजनाश्लेषक्रूरस्तुषारसमीरणः ।
गलितविभवस्याज्ञेवाद्य द्युतिर्मसृणा रवे-
र्विरहिवनितावक्त्रौपम्यं बिभर्त्ति निशाकरः ॥

स्त्रियः प्रकृतिपित्तलाः क्वथितकुङ्कुमालेपनै-
र्नितम्बफलकस्तनस्थलभुजोरुमूलादिभिः ।

अब दो-तीन फूल ही रह गये हैं। अब सरसों के फूल पकने आरम्भ हो गये हैं और क्रमशः उसमें कपिशता आ रही है।

इस शीत ऋतु में क्रीडा-वापियों की ओर तो दृष्टि ही नहीं जाती—प्रचण्ड उत्तरी वायु के झोंके से वे ताड़ित (उत्तरंगित) होती रहती हैं, मछलियां जल के तल में जाकर छिप जाती हैं तथा उनमें कमलों के नाल-मात्र अवशिष्ट बचे रहते हैं।

यह शिशिर-काल अत्यन्त कराल है—इसमें हाथी मत्त होते है, हरिण तुष्ट होते हैं, शूकर पुष्ट होते हैं और भैंसे धीर होते हैं। दरिद्र लोग इसकी निन्दा करते हैं और केवल धनी लोग इसकी प्रशंसा करते हैं।

इस शिशिर ऋतु में उपले की आग नयी वधू के क्रोध के समान भली लगती है, क्रूर हिमार्द्र वायु कुटिल व्यक्ति के संसर्ग की भाँति दुखद लगती है, सूर्य की कोमल ज्योति निर्धन व्यक्ति की आज्ञा के समान निष्प्रभाव हो जाती है और चन्द्रमा विरहिणी नायिका के मुख के समान निस्तेज हो जाता है।[1]

इस शिशिर ऋतु में निसर्गतः पित्त-प्रभाव स्त्रियाँ क्वथित कुंकुम के लेप वाले तथा रात भर आलिङ्गन में जकड़े हुए नितम्ब, स्तन, तथा भुजा

---

१. यह पद्य औचित्यविचारचर्चा में मालवरुद्र-कृत तथा सुभाषितहारावलि में भास-कृत कहा गया है। वामनालङ्कार में भी प्रथम पाद उपलब्ध है।

इहाभिनवयौवनाः सकलरात्रिसंश्लेषितै-
हरन्ति शिशिरज्वरारातिमतीव पृथ्वीमपि ।।" शिशिरः ।।

"चैत्रे मदर्द्धिः शुकसारिकाणां हारीतदात्यूहमधुव्रतानाम् ।
पुंस्कोकिलानां सहकारबन्धुः मदस्य कालः पुनरेष एव ।।

मनोऽधिकं चात्र विलासलास्ये प्रेङ्खासु दोलासु च सुन्दरीणाम् ।
गीते च गौरीचरितावतंसे पूजाप्रपञ्चे च मनोभवस्य ।।

पुंस्कोकिलः कूजति पञ्चमेन बलाद्विलासा युवतौ स्फुरन्ति ।
स्मरो वसन्तेऽत्र नवैः प्रसूनैः स्वचापयष्टेर्घटनां करोति ।।

पिनद्धमाहारजनांशुकानां सीमन्तसिन्दूरजुषां वसन्ते ।
स्मरीकृते प्रेयसि भक्तिभाजां विशेषवेषः स्वदते वधूनाम् ।।

अयं प्रसूनोद्धुरकर्णिकारः पुष्पप्रपञ्चार्चितकाञ्चनारः ।
विजृम्भणाकोविदकोविदारः कालो विकाशोद्यतसिन्दुवारः ।।

मूलादि से अत्यन्त भयङ्कर शिशिर की शीतलता का हरण करती हैं ।

यह क्षिशिर वर्णन रहा ।

अब वसन्त का वर्णन प्रारम्भ कर रहे हैं--चैत्र में शुक, सारिका, हारीत, कलकण्ठ तथा भौंरों में मदवृद्धि होती है । यह मास आम्र का बन्धु है तथा इसमें कोकिलों में भी मद की वृद्धि होती है ।

इस ऋतु में स्त्रियों का मन अधिकतर विलासलास्य में, चञ्चल हिंडोलों में, गीत में, पार्वती-चरित्र श्रवण में तथा कामदेव की पूजा में लगता है ।

इस वसन्त ऋतु में पुरुषजातीय कोयल पञ्चमस्वर में कूजता है, युवतियों में हठात् हाव-भाव विराजने लगता है तथा कामदेव नवीन पुष्पों से पपनी धनुष की संघटना करता है ।

वसन्त में कुसुम्भ से रक्त वस्त्रों वाली, माँग में सिन्दूर लगाने वाली तथा पति में कामदेव जैसी भक्ति रखने वाली रमणियों के विशेष वेश सुन्दर लगते हैं ।

यह वसन्तकाल आ गया जिसमें कर्णिकार फूलों से लद गया है कच-नार पुष्प-समूहों से सुसज्जित हो गया है, कोविदार प्रस्फुटन-पण्डित हो गया है तथा सिन्दुवार फूलने के लिये सन्नद्ध हो गया है ।

रोहीतकाम्रातककिङ्किराता मधूकमोचाः सह माधवीभिः ।
जयन्ति शोभाञ्जनकश्च शाखी सकेसरः पुष्पभरैर्वसन्ते ॥

यो माधवीमुकुलदृष्टिषु वेणिबन्धो
यः कोकिलाकलरुतैः कथने च लाभः ।
पूजाविधिर्दमनकेन च यः स्मरस्य
तस्मिन्मधुः स भगवान्गुरुरङ्गनानाम् ॥

नालिङ्गितः कुरबकस्तिलको न दृष्टो
ना ताडितश्च चरणैः सुदृशामशोकः ।
सिक्ता न वक्त्रमधुना बकुलश्च चैत्रे
चित्रं तथापि भवति प्रसवावकीर्णः ॥

चैत्रे चित्रौ रक्तनीलावशोकौ स्वर्णाशोकस्तत्तृतीयश्च पीतः ।
जैत्रं तन्त्रं तत्प्रसूनान्तरेभ्यश्चेतोयोनेः भूर्भुवःस्वस्त्रयेऽपि ॥

गूवाकानां नालिकेरद्रुमाणां हिन्तालानां पाटलीकिंशुकानाम् ।
खर्जूराणां ताडताडीतरूणां पुष्पापीडन्यासहेतुर्वसन्तः ॥

वसन्त में रोहीतक, आम्रातक, किङ्किरात, महुआ, माधवी लता, शोभाञ्जनक (सहजन) तथा केसर पुष्पों से भर जाते हैं

भगवान् मधु (वसन्त) रमणियों के गुरु हैं। इस ऋतु में वे माधवी-मुकुल से चोटी गूंथती हैं, अपने भाषण में कोयल की कूक का योग प्राप्त करती हैं, और दमनक के पुष्प से कामदेव का पूजन करती हैं।

आश्चर्य तो यह है कि इस चैत्र मास में कुरबक वृक्ष बिना स्त्रियों के आलिङ्गन के, तिलक बिना दृष्टि-पात के, अशोक बिना चरण-प्रहार के तथा बकुल बिना गण्डूष-मद्य के ही फूल जाते हैं।[1]

चैत्र-मास में चेतोयोनि (मनोजन्मा) कामदेव ने भूः भुवः और स्वः—तीनों लोकों को जीतने के लिये अन्य पुष्पों के अतिरिक्त रक्त, नील तथा पीत वर्ण का स्वर्णाशोक इन तीन अशोकों को साधन बनाया है।

वसन्त-ऋतु गूवाक (सुपारी), नारियल, हिन्ताल, गुलाब, खजूर तथा ताड़ वृक्षों को पुष्प से भर देता है। यह वसन्त का वर्णन हुआ।

---

१. तुलना कीजिये—
मुखमदिरया पादन्यासैः विलासविलोकितैः ।
बकुलविटपी रक्ताशोकस्तथा तिलकद्रुमः ॥ —काव्यमी० अध्याय १३

विकासकारी नवमल्लिकानां दलच्छिरीषप्रसवाभिरामः ।
पुष्पप्रदः काञ्चनकेतकीनां ग्रीष्मोऽयमुल्लासितधातकीकः ॥
खर्जूरजम्बूपनसाम्रमोचप्रियालपूगीफलनालिकेरैः ।
द्वन्द्वानि खेदालसताम्रुपास्य रतानुसन्धानमिहाद्रियन्ते ॥
स्रोतांस्यनम्भांसि सकूपकानि प्रपाः कठोरेऽहनि पान्थपूर्णाः ।
शुचौ समभ्यर्थितसक्तुपाने प्रगे च सायं च वहन्ति मार्गाः ॥
यत्कायमानेषु दिनार्द्धनिद्रा यत्स्नानकेलिर्दिवसावसाने ।
यद्रात्रिशेषे सुरतावतारः स मुष्टियोगो घनघर्ममाथी ॥
या चन्द्रिका चन्दनपङ्कहृद्या या जालमार्गानिलवीचिमाला ।
या तालवृन्तैरुदबिन्दुवृष्टिर्जलाञ्जलिं सा शुचये ददाति ॥
कर्पूरचूर्णं सहकारभङ्गस्ताम्बूलमार्द्रक्रमुकोपक्लृप्तम् ।
हाराश्च तारास्तनुवस्त्रमेतन्महारहस्यं शिशिरक्रियायाः ॥
मुक्तालताश्चन्दनपङ्कदिग्धा मृणालहारानुसृता जलार्द्राः ।

(वसन्त का वर्णन समाप्त कर अब ग्रीष्म का वर्णन कर रहे हैं—)

यह ग्रीष्म-काल नवमल्लिका का विकास कर देता है, विकसित होते शिरीष पुष्पों से मनोहर लगता है, इसमें केवड़े में फूल लगते हैं तथा धाय वृक्ष प्रस्फुटित होता है ।

खजूर, जामुन, कटहल, आम, केला, चिरौंजी, कसैली, और नारियल से थककर कामीजन इस ऋतु में रति-क्रीड़ा का आदर करते हैं ।

इस आषाढ़ में कुयें तथा जल-स्रोत सूख जाते हैं, पल्लीशालायें (प्याऊ) मध्याह्न में भी जनाकीर्ण रहती है, लोग सत्तू घोलकर पीना ही अच्छा समझते हैं और प्रातः-सायं ही मार्ग चलते हैं ।

झोपड़ियों में दुपहरी की आधी नींद, दिनान्त में स्नान क्रिया तथा रात्रि के अवशिष्ट भाग में सुरत-क्रिया—ये कठोर गर्मी को दूर करने के मुष्टिगत उपाय हैं ।

चन्दनपङ्क में समान शीतल चन्द्रिका, गवाक्षों से आती हुई हवा और पंखों से शीतल जल-बूँदों की वर्षा—ये ग्रीष्म को तिलाञ्जलि देते हैं ।

कपूर का चूर्ण, आम का भङ्ग (पन्ना ?) शीत सुपारी से युक्त ताम्बूल, स्वच्छ हार तथा पतले कपड़े ये ग्रीष्म में शीतलता लाने के रहस्य हैं ।

चन्दन के कीचड़ में सनी हुई तथा मृणाल-निर्मित हारों से युक्त मोतियों

स्रजश्च मौलौ स्मितचम्पकानां ग्रीष्मेऽपि सोऽयं शिशिरावतारः ॥"

अत्र हि—

"पच्यन्त इव भूतानि ताप्यन्त इव पांसवः ।
क्वथ्यन्त इव तोयानि ध्मायन्त इव चाद्रयः ॥

एणाः स्थलीषु मृगतृष्णिकया ह्रियन्ते
स्रोतस्तनुत्वजनिता जलवेणिबन्धाः ।
ताम्यत्तिमीनि च सरांसि जलस्य शोषा-
दुच्चारघट्टिघटिकावलयाश्च कूपाः ॥

करभाः शरभाः सरासभा मदमायान्ति भजन्ति विक्रियाम् ।
करवीरकरीरपुष्पिणीः स्थलभूमीरधिरुह्य चासते ॥
सहकाररसार्चिता रसाला जलभक्तं फलपानकानि मन्थाः ।
मृगलावरसाः शृतं च दुग्धं स्मरसञ्जीवनमौषधं निदाघे ॥
जडचन्दनचारवस्तरुण्यः मृजलार्द्राः सहतारहारमालाः ।
कदलीदलतल्पकल्पनस्थाः स्मरमाहूय निवेशयन्ति पार्श्वे ॥

की माला तथा शिर पर श्वेत चम्पा की मालायें—यह गर्मी में भी शिशिर (शैत्य) लाने के उपाय हैं।

इस ऋतु में—मानों प्राणी पकाये जाते हैं, रजकण जलाये जाते हैं, जल सुखाये जाते हैं तथा पहाड़ तपाये जाते हैं।

इस ग्रीष्म ऋतु में मृग मरु-भूमि में मृगतृष्णा से आकृष्ट किये जाते हैं, नदियों के प्रवाह क्षीण होकर पतले हो जाते हैं, जल सूखने से तड़ागों के जल-जन्तु जलने लगते हैं और कुओं पर रहट चलने लगती है।

हाथियों के अर्भक, शरभ और गर्दभ इस ग्रीष्म ऋतु में मदोन्मत्त होकर विकार (कामुकता) को प्राप्त होते हैं। करवीर तथा करीर के पुष्पों से युक्त पृथ्वी शोभित होती है।

आम के रस में भिंगी हुई रसाला (शिखरिणी), मींगा भात, फलों के रस, सत्तू, मृग एवं लव पक्षियों के मांस-रस तथा पकाया दूध,—ये ग्रीष्म ऋतु में काम को जिलाने वाले अर्थात् कामोद्दीपक पदार्थ हैं।

आर्द्र चन्दन के लेप से मनोहर लगने वाली, कृतस्नाना, निर्मल मोतियों की मालाओं वाली तथा कदलीदल को शय्या बना कर उस पर बैठी हुई

ग्रीष्मे चीरीनादवन्तो वनान्ताः पङ्काभ्यक्ताः सैरिभाः सेभकोलाः।
लोलजिह्वाः सर्पसारङ्गवर्गा मूलस्रस्तैः पत्रिणश्चांसदेशैः ॥

हर्म्यं रम्यं चन्द्रिकाधौतपृष्ठं
कान्तोच्छिष्टा वारुणी वारिमिश्रा ।
मालाः कण्ठे पाटला मल्लिकानां
सद्यो ग्रीष्मं हन्त हेमन्तयन्ति ॥ ग्रीष्मः ॥

चतुरवस्थश्च ऋतुरुपनिबन्धनीयः । तद्यथा सन्धिः, शैशवं, प्रौढिः, अनुवृत्तिश्च । ऋतुद्वयमध्यं सन्धिः । शिशिरवसन्त-सन्धिर्यथा—

"च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमा
मनसि च गिरं गृह्णन्तीमे गिरन्ति न कोकिलाः ।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम् ॥"

तरुणियाँ कामदेव को बुलाकर पार्श्व में बैठाती है। अर्थात् ये पदार्थ ग्रीष्म में कामोद्दीपक हैं ।

ग्रीष्म ऋतु में वन-प्रदेश झिल्लियों की झङ्कार से झंकृत हो उठता है, भैंसे और शूकर कीचड़ में लिपटे रहते हैं, सर्पों तथा मृगों की जीभें प्यास से लपलपाती रहती हैं और पक्षियों के पर नीचे को लटक जाते हैं।

चाँदनी से धुला हुआ प्रासाद, प्रिया से जूठी तथा जलमिश्रित मदिरा एवं गुलाब तथा मल्लिकाओं की गले में माला--ये ग्रीष्म को हेमन्त बना देती है।

यह ग्रीष्म का वर्णन हुआ ।

ऋतु का वर्णन करते समय उसकी चार अवस्थाओं का भी वर्णन करना चाहिये। वे चार अवस्थायें हैं--१. ऋतुसंधि, २. शैशव, ३. प्रौढि तथा ४. अनुवृत्ति। दो ऋतुओं के मध्यवर्ती समय को संधि कहते हैं। जैसे शिशिर-वसन्त की सन्धि का वर्णन यह है--

कुन्द के पुष्प झड़ जाते हैं, वृक्ष फूलों के आने से अलसा जाते हैं, कोकिलायें मन में बोलती हैं, पर बाहर नहीं निकलतीं और सूर्य की किरणें ठंढक को तो नष्ट कर देती हैं पर क्लेशदायिनी कठोरता को अभी प्राप्त नहीं होतीं।[1]

---

१. यह पद्य क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' में उद्धृत हैं और मालवकुवलय-कृत बताया गया है। 'वामदालङ्कार' (३. २. ५) में भी उद्धृत है।

वसन्तशैशवम्—

"गर्भग्रन्थिषु वीरुधां सुमनसो मध्येऽङ्कुरं पल्लवा
वाञ्छामात्रपरिग्रहः पिकवधूकण्ठोदरे पञ्चमः ।
किं च त्रीणि जगन्ति जिष्णु दिवसैर्द्वित्रैर्मनोजन्मनो
देवस्यापि चिरोज्झितं यदि भवेदभ्यासवश्यं धनुः ॥"

वसन्तप्रौढिः—

"साम्यं सम्प्रति सेवते विचकिलं षाण्मासिकैर्मौक्तिकैः
कान्तिं कर्षति काञ्चनारकुसुमं माञ्जिष्ठधौतात्पटात् ।
हूणीनां कुरुते मधूकमुकुलं लावण्यलुण्ठाकतां
लाटीनाभिनिभं चकास्ति च पतद्वृन्ताग्रतः केसरम् ॥"

अतिक्रान्तर्तुलिङ्गं यत्कुसुमाद्यनुवर्त्तते ।
लिङ्गानुवृत्तिं तामाहुः सा ज्ञेया काव्यलोकतः ॥

वर्षासु ग्रीष्मलिङ्गाब्जविकासानुवृत्तिः ।

वसन्त-शैशव का वर्णन यह है—

लताओं के गर्भ-ग्रंथ में पुष्प आ गये, अङ्कुरों के वीच पल्लव आ गये, कोकिला के कण्ठ में पञ्चम स्वर आ गया और इच्छा करते ही वह वोल उठती है तथा भगवान् कामदेव का दो-तीन दिनों में ही संसार को जीतने वाला वहुत दिनों से रखा धनुष अभ्यास से वश में आ जायेगा ।

वसन्त की प्रौढ़ता का उदाहरण यह है—

इस वसन्त काल में विचकिल (चमेली) पुष्प छह महीनों की मोतियों की समानता प्राप्त कर रही है, कचनार का फूल मजीठी से रगे हुये वस्त्र की कान्ति को खींच रहा है, महुए की कली हूण-स्त्रियों के लावण्य को लूट रही हैं और डाली के अग्रभाग से गिरता हुआ केसर लाट-ललनाओं की नाभि के समान शोभित है ।[1]

बीती हुई ऋतु के चिह्नभूत पुष्प आदि यदि नयी ऋतु में दिखायी पड़ें तो उसे लिङ्गानुवृत्ति कहते हैं। यह लिङ्गानुवृत्ति काव्य तथा लोक से जाननी चाहिये ।

वर्षा में ग्रीष्म की लिङ्गानुवृत्ति का उदाहरण है—कमल का विकास ।

---

१. तुलना० विद्धशालभञ्जिका, १, २५

यथा—

खं वस्ते कलविङ्ककण्ठमलिनं कादम्बिनीकम्बलं
चर्चां पारयतीव दर्दुरकुलं कोलाहलैरुन्मदम् ।
गन्धं मुञ्चति सिक्तलाजसदृशं वर्षेण दग्धा स्थली
दुर्लक्ष्योऽपि विभाव्यते कमलिनीहासेन भासां पतिः ॥"

एवमन्या अपि ।

किञ्च—

ग्रैष्मिकसमयविकासी कथितो धूलीकदम्ब इति लोके ।
जलधरसमयप्राप्तौ स एव धाराकदम्बः स्यात् ॥

यथा—

"धूलीकदम्बपरिधूसरदिङ्मुखस्य
रक्तच्छटासुरशरासनमण्डनस्य ।
दीप्तायुधाशनिमुचो ननु नीलकण्ठ
नोत्कण्ठसे समरवारिधरागमस्य ॥"

जैसे—आकाश ने कलविङ्क पक्षी के मलिन कण्ठ के समान बादलों के कम्बल को ओढ़ लिया है, मेंढ़क जोर-जोर से कोलाहल करते हुये मानों जोर से पाठ कर रहे हैं, गर्मी से जली पृथ्वी पानी पाकर भींगे धान के समान गन्ध को छोड़ रही है और बादलों में छिपा सूर्य कमलिनी के विकास से प्रतीत हो रहा है अर्थात् सूर्य यद्यपि दिखाई नहीं पड़ता तथापि कमल के खिल जाने से यह अनुमान होता है कि सूर्य उदित हो गया है ।[1]

इस पद्य में बादल आदि के आगमनरूप वर्षा के लिङ्गों के वर्णन के साथ कमलविकासरूप ग्रीष्म-लिङ्ग वर्णित है ।

इसी प्रकार अन्य भी है ।

और—ग्रीष्म-ऋतु में विकसित होने वाला कदम्ब लोक में धूलिकदम्ब कहा जाता है तथा वर्षाकाल आने पर वही धाराकदम्ब कहा जाता है ।

जैसे—हे नीलकण्ठ ! बादलों के आगमनरूप समर के लिये क्या सन्नद्ध नहीं होते ? इस समय धूलीकदम्ब से दिशायें व्याप्त हो जाती हैं, आकाश में रक्तवर्ण का इन्द्रधनुष व्याप्त हो जाता है और दीप्त बिजली चमकती है ।

---

१. यह पद्य सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत है ।

जलसमयजायमानां जातिं यां कार्दमीति निगदन्ति ।
सा शरदि महोत्सविनी गन्धान्वितषट्पदा भवति ।।

यथा—

"स्थूलावश्यायबिन्दुद्युतिदलितबृहत्कारकग्रन्थिभाजो
जात्या जालं लतानां जरठपरिमलप्लावितानां जजृम्भे ।
नानाहंसोपधानं सपदि जलनिधेश्चोत्ससर्पापरस्य
ज्योत्स्नाशुक्लोपधानं शयनमिव शशी नागभोगाङ्कमम्भः ।।
स्तोकानुवृत्तिं केतक्या अपि केचिदिच्छन्ति ।

यथा—

"असूच्यत शरत्कालः केतकीधूलिधूसरैः ।
पद्मताम्रैर्नवायातश्चरणैरिव वासरैः ।।"
शरद्भवानामनुवृत्तिरत्र बाणासनानां सकुरुण्टकानाम् ।
हेमन्तवक्त्रे यदि दृश्यतेऽपि न दृश्यते वन्धविधिः कवीनाम् ।।

(यहां ग्रीष्मकालीन धूलिकदम्ब को वर्षा में भी फूला बताया गया है ।)

वर्षाकाल में उत्पन्न होने वाली जाति (मालती) जिसे कि कार्दमी कहते हैं वह शरद ऋतु में अत्यन्त फूलती है और गन्धाधिक्य के कारण भौंरों से आवृत रहती है ।

जैसे—ओस की बड़ी-बड़ी बूंदों से तिरस्कृत कुड्मलग्रंथियों वाली तथा तीव्र सुगन्ध से पूर्ण मालती लताओं के झुण्ड वसन्त में विकसित हो रहे हैं । चन्द्रमा शीघ्रता से नाना हंस (हंस पक्षी अथवा पर्वत) जिसके उपधान हैं तथा सर्पों के फण ही जिसमें चिह्न हैं ऐसे समुद्र की ओर बढ़ा मानों चांदनी के समान श्वेत तकियों वाली शय्या पर जा रहा हो ।

कुछ लोग केतकी का भी जो वर्षा में विकसित होती है शरद् में कुछ वर्णन करते हैं ।

जैसे—जिस प्रकार कहीं आया हुआ नवागन्तुक पैरों के चिह्नों द्वारा जान लिया जाता है वैसे ही शरत्काल केतकी के परागों तथा कमलों से रक्तवर्ण के बने दिवसों के द्वारा जान लिया जाता है ।

शरत्काल में होने वाले बाण, असन, और कुरुण्टक हेमन्त के आरम्भ में भी दिखायी पड़ते हैं पर कवि लोग उसका वर्णन नहीं करते ।

हेमन्तशिशिरयोरैक्ये सर्वलिङ्गानुवृत्तिरेव । उक्तं च ।
"द्वादशमासः संवत्सरः, पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन ।"

मरुवकदमनकपुन्नागपुष्पलिङ्गानुवृत्तिभिः सुरभिः ।
रचनीयश्चित्रश्रीः किञ्चित्कुन्दानुवृत्त्या च ।।

"गेहे वाहीकयूनां वहति दमनको मञ्जरीकर्णपूरा-
नुन्मादः पामरीणां मरुति मरुवकामोदिनि व्यक्तिमेति ।
सद्यो भङ्गानुसारस्नुतसुरभिशिराशीकरः साहकारः
सर्पन्नम्भःशरावे रचयति च रसो रेचकीचन्द्रकाणि ।।
कुन्दे मन्दस्तमाले मुकुलिनि विकलः कातरः किङ्किराते
रक्ताशोके सशोकश्चिरमतिविकचे चम्पके कुञ्चिताक्षः ।
पान्थः खेदालसोऽपि श्रवणकटुरटच्चक्रमभ्येति धुन्वन्
सोत्कन्ठः षट्पदानां नवमधुपटलीलम्पटं कर्पटेन ।।"

हेमन्त और शिशिर की एकता (साम्य) वश हेमन्त के सभी चिह्न शिशिर में भी दिखायी पड़ते हैं । कहा भी है—वारह महीनों के वर्ष में हेमन्त और शिशिर को एक में मिला देने पर पाँच ऋतुयें होती हैं ।

वसन्त-ऋतु में वाहीक देशीय युवकों के घर में स्थित दमनक की मञ्जरी कानों पर विराजती है, मरुवक की सुगन्धि से सुगन्धित वायु के बहने से नीच नारियों का औद्धत्य प्रकट होता है, तुरत तोड़ने से जिनकी शिराओं पर सुगन्धित रसविन्दु चू रहा है ऐसा आम्ररस पानी के वर्तन में पड़ कर जल में चकमकाहट पैदा कर देता है ।

(यहां हेमन्त-शिशर का चिह्न वसन्त में वर्णित है) ।

मार्गश्रम-जन्य खेद से थका हुआ पथिक नवीन मधु पीने में लम्पट तथा गुंजार कर रहे मधुपों के समूह को कपड़े से उड़ाता हुआ जा रहा है । वह कुन्द-पुष्प को देख कर मन्द पड़ रहा हैं, कलीयुक्त तमाल को देख कर विकल हो रहा है, किङ्किरात पुष्प को कातर दृष्टि से देख रहा है, रक्ताशोक को देख कर शोकार्त हो रहा है और विकसित चम्पक को देखकर आंखें घुमा लेता है ।

(यहां किसी नायक ने अपनी नायिका से प्रतिज्ञा की थी कि कुन्दादि

यथा वा—

"धुनानः कावेरी परिसरभुवश्चन्दनतरून्
मरुन्मन्दः कुन्दप्रकरमकरन्दानवकिरन् ।
प्रियक्रीडाकर्षच्युतकुसुममामूलसरलं
ललाटे लाटीनां लुठितमलकं ताण्डवयति ॥"

एवमन्याप्यनुवृत्तिः ।

विचकिलकेसरपाटलिचम्पकपुष्पानुवृत्तयो ग्रीष्मे ।
तत्र च तुहिनतुंभवं मरुवकमपि केचिदिच्छन्ति ॥

यथा—

"कर्णे स्मेरं शिरीषं शिरसि विचकिलस्त्रग्लताः पाटलिन्यः
कण्ठे मार्णालहारो वलयितमसिताम्भोजनालं कलाच्योः ।
सामोदं चन्दनाम्भः स्तनभुवि नयने म्लानमाञ्जिष्ठपृष्ठे
गात्रं लोलज्जलार्द्रं जयति जयति मृगदृशां ग्रैष्मिको वेष एषः ॥"

पुष्पों के प्रस्फुटन से पूर्व ही आ जाऊंगा पर वह विलम्ब से जा रहा है इसीलिए तत्तत् पदार्थों को देख कर उसे खेद हो रहा है) ।

अथवा—कावेरी के समीपवर्ती प्रदेश में होने वाले चन्दन-वृक्षों को हिलाते हुए, कुन्दसमूहों के मकरकन्दों को फैलाते हुए मन्द पवन लाटदेशीय रमणियों के लटकते हुये सरल केश को, जिसमें से प्रिय के साथ क्रीड़ा करने से फूल गिर गये हैं, नचा रहा है ।[1]

इसी प्रकार अन्य ऋतुओं का भी तदुत्तरवर्तिनी ऋतु में अनुवर्तन करना चाहिए ।

ग्रीष्म ऋतु में विचकिल, केसर, पाटल तथा चम्पक पुष्पों का अनुवर्तन करना चाहिये (क्योंकि ये वसन्त के फूल हैं) । कुछ लोगों के अनुसार जाड़े में होने वाला मरुवक का भी वर्णन गर्मी में करना चाहिये ।

जैसे—मृगनयनियों के ग्रीष्मकालीन वेश की जय हो । उनके कानों में विकसित शिरीष पुष्प हैं, शिर पर पाटल-वर्ण की विचकिल पुष्प की माला है , गले में मृणाल का हार है, कलाइयों में नीलकमल का गोल किया गया

---

१. यह पद्य सदुक्तिकर्णामृत (१. ४५७) में उद्धृत है ।

यथा च—

"अभिनवकुशसूचिस्पर्द्धि कर्णे शिरीषं
मरुबकपरिवारं पाटलादाम कण्ठे ।
स तु सरसजलार्द्रोन्मीलितः सुन्दरीणां
दिनपरिणतिजन्मा कोऽपि वेषश्चकास्ति ।।"

एवमुदाहरणान्तराणि ।

ऋतुभववृत्त्यनुवृत्ती दिङ्मात्रेणात्र सूचिते सन्तः ।
शेषं स्वधिया पश्यत नामग्राहं कियद् ब्रूमः ।।
देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य ।
तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाणं नः ।।
शोभान्धोगन्धरसैः फलार्चनाभ्यां च पुष्पमुपयोनि ।
षोढा दर्शितमेतत्स्यात्सप्तममनुपयोगि ।।

नाल है, स्तनदेश में सुगन्धित चन्दन-द्रव है तथा उनके अक्षिकोरक माञ्जिष्ट वर्ण के हैं।

अथवा—सुन्दरियों का ग्रीष्म काल की सन्ध्या का वेश अत्यन्त सुन्दर लगता है—उनके कानों में नवीन कुशाग्र की तुलना करने वाला शिरीष है, गले में मरुबक पुष्प से युक्त गुलाब की माला है और उनका वेश सुगन्धित जल से आर्द्र है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी उपन्यस्त करना चाहिये।

मैंने यहाँ ऋतु में होने वाले पुष्पों तथा बाद में उनकी अनुवृत्ति संकेत मात्र से प्रदर्शित कर दी है। जो अवशिष्ट है उसे सज्जन लोग अपने विवेक से देख लें। प्रत्येक वस्तु का नाम लेकर हम कहाँ तक गिनावें ?

देश-देश में पदार्थों के स्वरूप में अन्तर पड़ता है। पर[1] कवि को वैसा वर्णन न करना चाहिये, क्योंकि हम लोगों (अर्थात् कवियों) के लिये तो कविवर्णन ही आदर्श है (अतः जैसे कवि लोग वर्णन कर चुके हों वैसे ही करना चाहिये)।

शोभा, भोजन (अन्न), गन्ध, रस, फल, और पूजा–फूल इन छह प्रकारों से उपभोगी बताया गया है। अतः छह प्रकार से ही पुष्प का वर्णन करना चाहिये। सातवाँ प्रकार अनुपयोगी है।

---

१. बालरामायण, ५. २६

यथा—

यत्प्राचि मासे कुसुमं निबद्धं तदुत्तरे बालफलं विधेयम् ।
तदग्रिमे प्रौढिधरं च कार्यं तदग्रिमे पाकपरिष्कृतं च ॥
द्रुमोद्भवानां विधिरेष दृष्टो बल्लीफलानां न महाननेहा ।
तेषां द्विमासावधिरेव कार्यः पुष्पे फले पाकविधौ च कालः ॥

अन्तर्व्याजं बहिर्व्याजं बाह्यान्तर्व्याजमेव च ।
सर्वव्याजं बहुव्याजं निर्व्याजं च तथा फलम् ॥
लकुचाद्यन्तर्व्याजं तथा बहिर्व्याजमत्र मोचादि ।
आम्राद्युभयव्याजं सर्वव्याजं च ककुभादि ॥
पनसादि बहुव्याजं नीलकपित्थादि भवति निर्व्याजम् ।
सकलफलानां षोढा ज्ञातव्यः कविभिरिति भेदः ॥
एकद्वित्र्यादिभेदेन सामस्त्येनाथवा ऋतून् ।
प्रबन्धेषु निबध्नीयात्क्रमेण व्युत्क्रमेण वा ॥

जैसे—पहले महीने में जिस पुष्प का वर्णन किया जाय उसके आगे के मास में उसे छोटे फल के रूप में वर्णित करना चाहिये; पुनः अगले मास में उनका बड़े फल के रूप में वर्णन होना चाहिये और उसके अगले मास में उसका पकना वर्णित होना चाहिये ।

यह विधि तो वृक्षों में उत्पन्न होने वाले फलों (यथा आम्र आदि) के विषय में है, लताओं में उत्पन्न होने वाले फलों के लिये यह नहीं है, क्योंकि यह समय उनके लिये बड़ा है । उनके फूलने, फलने तथा पकने का समय दो महीने के अन्तर्गत ही होना चाहिये ।

फल छह प्रकार के होते हैं—१. अन्तर्व्याज, २. बहिर्व्याज, ३. बाह्यान्तर व्याज, ४. सर्वव्याज, ५. बहुव्याज, और ६. निर्व्याज ।[1]

लकुच आदि फल अन्तर्व्याज हैं, मोचा आदि बहिर्व्याज हैं, आम्र आदि उभयव्याज हैं, ककुभादि सर्वव्याज हैं, पनस (कटहल) आदि बहुव्याज हैं तथा नीलकपित्थ आदि निर्व्याज हैं ।

कवि को एक, दो या तीन ऋतुओं का एक साथ वा पृथक्-पृथक् क्रम से अथवा बिना क्रम के अपने काव्य में वर्णन करना चाहिये ।

---

१. व्याज का अर्थ है बहाना (अर्थात् बाधक तत्त्व) जैसे छिलका, गुठली आदि ।

न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः ।
तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा ॥
अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते ।
सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते ॥
इति कालविभागस्य दर्शिता वृत्तिरीदृशी ।
कवेरिह महान्मोह इह सिद्धो महाकविः ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे कालविभागो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

—:०:—

समाप्तमिदं प्रथममधिकरणं कविरहस्यं काव्यमीमांसायाम् ॥

—::०::—

अर्थ—पथ का अनुगमन करने वाले कवि के लिये व्युत्क्रम कोई दोष नहीं है, पर वर्णन ऐसा होना चाहिये कि व्युत्क्रम भी भूषण प्रतीत हो ।

अनुसन्धानशून्य कवि के लिये भूषण भी दूषण हो जाता है और सावधान कवि का दूषण भी भूषण बन जाता है ।[1]

इस प्रकार काल-विभाग की एतादृशी वृत्ति प्रदर्शित की गयी । इस काल-विभाग के विषय में कवियों को महान् बुद्धिभ्रम हो जाता है । इस कालिकविभाग में सिद्ध कवि महाकवि होता है ।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में कालविभाग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त ।

काव्यमीमांसा का कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण समाप्त ।

—::०::—

१. तुलना कीजिये—
अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः ।
भवेत्तस्मिन्प्रमादो हि झगित्येवोपलक्ष्यते ॥ —ध्वन्यालोक ३. २९

परिशिष्ट (क)

ऐतिहासिक टिप्पणियाँ

अमरसिंह—प्रसिद्ध कोशकार जिन्होंने अमरकोश की रचना की। इसके विषय में सुभाषितरत्नकोष में निम्नलिखित श्लोक कहा जाता है—

प्रयोगव्युत्पत्तौ प्रतिपदविशेषार्थकथने
प्रसत्तौ गाम्भीर्ये रसवति च काव्यार्थघटने।
अगम्यायामन्यैर्दिशि परिणतेरर्थवचसो-
र्मतं चेदस्माकं कविरमरसिंहो विजयते॥

परम्परा के अनुसार ये विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे तथा कालिदास के समकालीन थे। पर ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात सिद्ध नहीं होती। वे कालिदास से परवर्ती प्रतीत होते हैं। परम्परा के एक श्लोक के अनुसार अमरसिंह ने महाभाष्य के अधिकांश स्थलों को अपने कोश में ग्रहण कर लिया है—अमरसिंहस्तु पापीयान्सर्वं भाष्यमचूचुरत्। इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है। अमरकोश प्राचीनतम अर्थों को स्पष्ट करने की कुञ्जी है।

अवन्तिसुन्दरी—महाकवि राजशेखर की पत्नी का नाम अवन्तिसुन्दरी है। ये सुपठित थीं तथा साहित्यशास्त्र में इनका विशेष अभिनिवेश था। साहित्यशास्त्र के विषय में अपना ये स्वतंत्र मत रखती थीं और कहीं-कहीं इनका मत अन्य आचार्यों से भिन्न पड़ता था। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इनके मत को तीन बार (अध्याय ५, ९ और ११) उद्धृत किया है। कर्पूरमञ्जरी की रचना राजशेखर ने अवन्तिसुन्दरी की इच्छा से ही की थी। अवन्तिसुन्दरी चौहान वंश की महाराष्ट्र क्षत्रिय-कन्या थीं। अवन्ति देश की कन्याओं के बारे में राजशेखर की धारणा यही है—विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतकर्मणि। —बालरामायण

आनन्दवर्धन—शैवमत के महनीय आचार्य तथा सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक के प्रणेता आनन्दवर्धन का उल्लेख राजशेखर ने पञ्चम अध्याय में प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के विवेचन में किया है। इनका समय ८५५ से ८८४ ई० के लगभग माना जाता है। राजशेखर ने इनकी प्रशंसा करते हुये अन्यत्र कहा है:

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

ये काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे। यह निर्देश कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में किया है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥ —५।४

इसका परिचय भूमिका में दिया है ।

आपराजिति—सम्भवतः भट्टलोल्लट का यह दूसरा नाम था । काव्य-प्रकाश की एक टीका में इनका नामोल्लेख है । हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में इनकी दो आर्यायें उद्धृत हैं । राजशेखर ने अपनी विद्धशालभंजिका में अपराजित नामक आचार्य का उल्लेख किया है । यह संभवतः आपराजिति के पिता का नाम था । भट्टलोल्लट के पिता का नाम अपराजित सिद्ध होता है (द्र० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग २, पृ० ५३) । नाम से लोल्लट स्पष्टतः काश्मीरी प्रतीत होते हैं । लोल्लट का उल्लेख अभिनवगुप्त, हेमचंद्र, मल्लिनाथ तथा गोविन्द ठक्कुर ने किया है । इनका समय विक्रम की नवीं सदी माना जाता है ।

उक्तिगर्भ—सारस्वतेय काव्यपुरुष के अष्टादश शिष्यों में ये उल्लिखित हैं । इनका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है । संभव है यह नाम काल्पनिक हो ।

उतथ्य—इन्हें अर्थश्लेष का आचार्य बताया गया है । महाभारत (गीता प्रेस) आदिपर्व (६६।५) में इन्हें अङ्गिरा का मध्यम पुत्र बताया गया है । इन्होंने मान्धाता को राजधर्म का उपदेश किया था (शान्ति० अध्याय ९०, ९१) । सोम की कन्या भद्रा से इन्होंने विवाह किया था । वरुण द्वारा भद्रा का अपहरण किये जाने पर इन्होंने सम्पूर्ण जल पी लिया (अनुशासनपर्व १५४।१२–२८) ।

उपमन्यु—इन्होंने काव्यपुरुष से शिक्षा प्राप्त कर गुणों का विवेचन किया । महाभारत में ये आयोदधौम्य ऋषि के शिष्य बताये गये हैं । इनकी गुरु में अटूट भक्ति थी । आक के पत्ते खाने से इनकी आँखें फूट गयीं, पर अश्विनीकुमारों की स्तुति से पुनः नवीन आँखें प्राप्त हो गयीं । गुरु की कृपा से इन्हें महती विद्या प्राप्त हुई (आदिपर्व, अध्याय ३) । महाभारत में एक दूसरे उपमन्यु का भी उल्लेख है जो व्याघ्रपाद के पुत्र तथा महर्षि धौम्य के बड़े भाई बताये गये हैं । अनुशासनपर्व अध्याय १४ में इनका आख्यान सविस्तर वर्णित है ।

उपवर्ष—काव्मीमांसा अध्याय १० के अनुसार पाटलिपुत्र में इनकी परीक्षा हुई थी । इनका आशय यह है कि ये पाटलिपुत्र में रहते थे या कम से कम कुछ दिनों के लिये यहाँ आये थे—

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः ।
वररुचिपतञ्जलीह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः ॥

उपवर्ष महान् वैयाकरण थे तथा पाणिनि, वररुचि आदि के गुरु थे। इसका पता हमें कथासरित्सागर से चलता है। कहा जाता है कि इन्होंने जैमिनीय मीमांसासूत्र तथा ब्रह्मसूत्र पर भी भाष्य की रचना की थी। इनके जीवनवृत्त का विशेष पता नहीं चलता।

उशनस्—महर्षि भृगु के पुत्र तथा असुरों के आचार्य हैं। इसका प्रसिद्ध नाम शुक्राचार्य है। ये सञ्जीवनी विद्या के ज्ञाता तथा नीतिशास्त्र के प्रणेता हैं। इनका नीतिशास्त्र प्रसिद्ध है। इनके अनुयायी औशनस कहे जाते हैं। इनका चरित्र पुराणों तथा महाभारत आदि में प्रथित है। कहीं-कहीं इन्हें भृगु का पौत्र और कवि का पुत्र कहा गया है। ये ही ग्रह होकर त्रैलोक्य के जीवन-रक्षा के लिये वृष्टि, अनावृष्टि तथा भय एवं अभय को उत्पन्न करते हैं। इनके विशेष आख्यान के लिये द्रष्टव्य महाभारत, आदिपर्व अध्याय ६५–६६; ७६, ७८, ७९, ८०–८३ इत्यादि।

औद्भट—प्रसिद्ध आलङ्कारिक उद्भट के अनुयायी तथा उनके सिद्धान्त का नाम औद्भट है। भारतीय अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में उद्भट का स्थान विशिष्ट है। इनके विरोधियों ने भी इनका उल्लेख बड़े सम्मान से किया है। आनन्दवर्धन, रुय्यक आदि ने इनका स्थान-स्थान पर निर्देश किया। अपने पाण्डित्य और औद्धत्य के लिये प्रसिद्ध पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इनका उल्लेख ससम्मान किया है। राजतरङ्गिणी में कल्हण ने उद्भट को महाराज जयापीड का सभापति बताया है। इनका दैनिक वेतन एक लक्ष दीनार था—

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥ —४।४९५

महाराज जयापीड ने विक्रम संवत् ८३६ से ८७० तक शासन किया। डा० याकोबी ने जयापीड के साम्राज्य के प्रथम वर्षों में उद्भट को उनका सभापण्डित माना है, क्योंकि अन्तिम काल में ब्राह्मणों ने रुष्ट होकर जयापीड से संबन्ध–विच्छेद कर लिया था। यह बात आनन्दवर्धन द्वारा इनके उल्लेख से भी प्रमाणित होती है। आनन्दवर्धन का समय विक्रम वर्ष ९१२ से ९४५ के मध्य माना जाता है। अतः इस समय तक भट्ट उद्भट अत्यधिक प्रसिद्ध हो गये थे। अतः उद्भट का समय विक्रम की नवीं सदी का पूर्वार्ध ठहरता है। भट्टोद्भट के तीन ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—(१) भामह-विवरण (२) कुमारसंभव काव्य तथा (३) अलङ्कार-सार-संग्रह। इन तीनों में केवल अलङ्कार-सार-संग्रह ही उपलब्ध है। भट्ट उद्भट भामह के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

औपकायन—सारस्वतेय काव्यपुरुष के अष्टादश शिष्यों में से ये भी एक माने गये हैं। राजशेखर के अनुसार इन्होंने उपमालङ्कार का विवेचन किया

था। साहित्यशास्त्र में अन्यत्र इस नाम के आचार्य का पता नहीं चलता। संभवतः यह नाम काल्पनिक हो।

औमेयी—साहित्यविद्यावधू।

कर्ण—दक्षिणदेशीय कोई राजा था। पन्द्रहवें अध्याय के एक श्लोक में इस राजा का नामोल्लेख है।

कामदेव—राजशेखर के अनुसार इन्होंने विनोद-शास्त्र का प्रणयन किया था। यह ज्ञात नहीं कि ये प्रसिद्ध देवता कामदेव हैं या अन्य कोई कल्पित आचार्य।

कालिदास—इनका उल्लेख चौथे तथा दशवें अध्याय में हैं। चौथे अध्याय में इन्हें कवित्व तथा भावकत्व के विषय में अपना स्वतन्त्र मत रखने वाला बताया गया। इनके मतोल्लेल से यह प्रतीत होता है कि इन्होंने साहित्य-शास्त्र पर भी ग्रन्थ का निर्माण किया होगा। यह भी संभव हैं उनके प्रसिद्ध ग्रन्थों के आधार पर ही राजशेखर ने उनका मतोल्लेख किया हो। कालिदास के ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध हैं पर उनके समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कालिदास की प्रशंसा में अनेकों श्लोक सूक्तिसंग्रहों में दिखायी पड़ते हैं। वस्तुतः संस्कृत्य-साहित्य के सर्वाधिक प्रिय कवि कालिदास ही हैं। इनके विषय में कुछ प्रसिद्ध श्लोक ये हैं:—

श्रोत्रेतराणि भुवने करणान्यसंख्यै-
श्चत्वारि तृप्तिमहतां विषयैर्लभन्ते।
श्रोत्राय पक्वसुकृतस्य जनस्य पुण्याः
श्रीकालिदासगिर एव दिशन्ति तृप्तिम् ॥ १ ॥

—सूक्तिमुक्तावली

ख्यातः कृती सोऽपि हि कालिदासः
शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्र-
सिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः ॥ २ ॥

—सोड्ढल

कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी।
पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम् ॥

—कृष्ण भट्ट

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥ ३ ॥

—बाण

प्रसादोत्कर्षमधुरा कालिदासीर्वयं स्तुमः ।
पीतवाग्देवतास्तन्यरसोद्गारयिता गिरः ॥ ४ ॥

—हरिहर

म्लायन्ति सकलाः कालिदासेनासन्नवर्तिना ।
गिरः कवीनां दीपेन मालतीकलिका इव ॥ ५ ॥

—घनपाल

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कलिदासादपरस्य वाणी ॥ ६ ॥

—श्रीकृष्णकवि

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे
कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावा—
दनामिका सार्थवती बभूव ॥ ७ ॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागार

भासयत्यपि भासादौ कविवर्गे जगत्त्रयीम् ।
के न यान्ति निबन्धारः कालिदासस्य दासताम् ॥ ८ ॥

—भोज

लिप्ता मधुद्रवेनासन् यस्य निर्विवशा गिरः ।
तेनेदं वर्त्मवैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ॥ ९ ॥

—दण्डी

काव्य-पुरुष—राजशेखर द्वारा उल्लिखित काव्यविद्या के प्रवर्तक तथा सरस्वती के पुत्र। इनका नाम सारस्वतेय भी है। कदाचित् यह कल्पित नाम है।

कुचमार—काव्यविद्या के औपनिषदिक भाग के निर्माता। कामसूत्र (१-१-१७) के अनुसार भी ये औपनिशदिक के प्रणेता हैं। इस प्रकार परम्परा इन्हें औपनिषदिकशास्त्र का मान्य आचार्य मानती आयी है। इनका प्रणीत कुचमारतन्त्र बताया जाता है।

कुडुंगेश्वर—इसका उल्लेख चौदहवें अध्याय के एक श्लोक में हुआ हैं। एक उज्जैनी में भी कोई कुडुङ्गेश्वर नामक व्यक्ति रहता था, पर दोनों का तादात्म्य निश्चित नहीं।

कुबेर—काव्यपुरुष के शिष्य।

कुमारदास—इनका प्रसिद्ध काव्य जानकीहरण है, जिसके विषय में राजशेखर का यह श्लोक ही बहुचर्चित है :—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ ॥

सिंहल की पूजावली से विदित होता है कि मोग्गलायन (मौद्गलायन) कुमारदास ने सिंहल में नव वर्षों तक शासन किया। सिंहलराज्य के पाली इतिहास महावंश के अनुसार इनकी मृत्यु ५२४ ई० में हुई। कहा जाता है कि कालिदास को उन्होंने सिंहल में बुलाया था जहाँ दुर्भाग्यवश कालिदास किसी सुन्दरी के प्रेम में पड़कर मारे गये। कुमारदास और कालिदास का समकालिक होना सिद्ध नहीं होता। नन्दरगीकर महाशय के अनुसार इनका जन्म आठवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश तथा नवीं सदी के प्रथम चतुर्थांश के बीच किसी समय हुआ था। जानकीहरण कुमारदास की एकमात्र रचना है, जिसमें बीस सर्ग हैं तथा रामायणी कथा सविस्तर वर्णित है। सोड्ढल ने इनकी प्रशंसा करते हुये लिखा है :—

बभूवुरन्येपि कुमारदासभासादयो हन्त कवीन्दवस्ते।
यदीयगोभिः कृतिनां द्रवन्ति चेतांसि चन्द्रोपलनिर्मितानि ॥

इनके पद्यों का उल्लेख कुमार या भट्टकुमार के नाम से भी मिलता है। उज्ज्वलदत्त ने उणादि सूत्रवृत्ति में इनके एक पद्य को उद्धृत किया है।

कुविन्द—शूरसेन वा मथुरा का कोई राजा था, जिसके घर में कटु वर्णों का उच्चारण वर्जित था। इनके बारे में विशेष जानकारी नहीं है।

कौटिल्य—द्वितीय अध्याय में इनके नामनिर्देशपूर्वक मत का उल्लेख है। इनके अन्य नाम विष्णुगुप्त तथा चाणक्य हैं। ये नन्दवंश के विनाशक तथा मौर्यवंश के संस्थापक थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इन्हीं की सहायता तथा कौशल से नन्दवंश के अन्तिम दुराचारी शासक को परास्त कर मौर्यवंश की नींव डाली। इनका अर्थशास्त्र-कौटिल्य अर्थशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है।

खशाधिपति—खशाधिपति कोई ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होता है। इस पद्य में उल्लिखित श्रीशर्मगुप्त तथा खशाधिपति का इतिहास में कहीं उल्लेख नहीं है। पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र के नाट्यदर्पण, बाण के हर्षचरित तथा विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्त से इस पद्य में उल्लिखित घटनायें ऐतिहासिक प्रतीत होती हैं। इन साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि किसी शक या कुषाण राजा ने रामगुप्त पर आक्रमण किया और परास्त किया। रामगुप्त ने उसके साथ एक सन्धि की जिसमें उसने अपनी राजमहिषी ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी को खशाधिपति को देने की बात तय की। अपने कुल की मर्यादा के विरुद्ध यह बात रामगुप्त के अनुज चन्द्रगुप्त को अच्छी नहीं लगी, जिसने स्वयं ध्रुवस्वामिनी का वेश बनाकर शत्रु-शिविर में प्रवेश किया और शकाधिपति को मार डाला। कुछ लोगों की धारणा है कि यहाँ खशाधिपति तथा शर्मगुप्त पाठ लिपिक के भ्रमवशात् है और वास्तविक पाठ शकाधिपति तथा रामगुप्त है।

गोनर्दीय राजशेखर ने महाभाष्यकार पतञ्जलि का निर्देश गोनर्दीय नाम से किया है। महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने भी पतञ्जलि का गोनर्दीय नाम दिया है, पर ऐतिहासकों के अनुसार गोनर्दीय पतञ्जलि से भिन्न है।

गौरी—हिमालय की पुत्री शिवपत्नी उमा।

चन्द्रगुप्त – इतिहास में अनेकों चन्द्रगुप्त हैं। इन्हीं में से किसी का यह निर्देश हो सकता है। परन्तु यहां शास्त्रकार तथा कवियों की परीक्षा के प्रकरण में यह नाम आया है, अतः यह कोई कवि रहा होगा। इस नामके किसी प्रसिद्ध कवि का ज्ञान अद्यावधि नहीं है।

चित्रशिख यह कोई गन्धर्व है जो दक्षिण देश में मलयाचल की उपत्यका में रत्नवती नगरी का स्वामी था।

चित्रसुन्दरी—यह चित्रशिख नामक गन्धर्व की पत्नी कही गयी है। इसमें बारे में अन्य विवरण उपलब्ध नहीं है।

चित्राङ्गद काव्यपुरुष के अष्टादश शिष्यों में से एक, जिन्होंने चित्रकाव्य प्रकरण का निर्माण किया।

द्रौहिणि इनके मतों का राजशेखर ने निर्देश किया है। यह ठीक पता नहीं कि ये द्रौहिणि नाम के आचार्य कौन थे। ये संगीत तथा नाटयशास्त्र के आचार्य कहे गये हैं। भावप्रकाशन में भी इनके नाम का एक उद्धरण मिलता है।

द्वैपायन—अष्टादश पुराणों, महाभारत के तथा ब्रह्मसूत्र के कर्ता एवं वेदों के विभाग-कर्ता प्रसिद्ध महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास। ये पराशर तथा सत्यवती से यमुना के द्वीप में उत्पन्न हुये थे, अतः इनका नाम द्वैपायन पड़ा। वर्ण इनका कृष्ण था। अतः ये कृष्णद्वैपायन कहे गये। वेदविभाग करने से ही इनका नाम व्यास पड़ा। इनके पुत्र का नाम शुक था। इनकी प्रशंसा में बहुत से श्लोक मिलते हैं। ऐसा ही एक संकलन डा० राघवन् ने व्यासप्रशस्तयः नाम से किया है तथा सर्वभारतीय काशिराज न्यास, दुर्ग रामनगर, वाराणसी से उसका प्रकाशन हुआ है। कुछ प्रसिद्ध श्लोक ये हैं—

मर्त्ययन्त्रेषु चैतन्यं महाभारतविद्यया।
अर्पयामास तत्पूर्वं यस्तस्मै मुनये नमः॥ १॥

—दण्डी

व्यासः क्षमावतां श्रेष्ठो वन्द्यः स हिमवानिव।
सृष्टा गौरीदृशी येन भवे विस्तारिभारता॥ २॥

—त्रिविक्रम

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विवाहुरपरो हरिः ।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः ॥ ३ ॥
—सुभाषितरत्नभाण्डागार

यदा नवेन्दोरमृतप्रवाहिनी विनिस्सृता पञ्चमवेदचन्द्रिका ।
तमश्च तापं च निहन्ति देहिनां ननु श्रुतीनां व्यसिता स नैकशः ॥
—सूक्तिमुक्तावली

भारती भारतीभूय यस्य निर्व्याजनिर्मला ।
जगत्पुनीते गङ्गेव तस्मै व्यासाय ते नमः ॥ ५ ॥
—दिवाकर कवि चन्द्र

धिषण—यह देवगुरु, वाणी के अधिष्ठातृ-देव बृहस्पति की संज्ञा है। राजशेखर के अनुसार इन्होंने काव्य के दोषनिरूपण प्रकरण का निर्माण किया।

ध्रुवस्वामिनी—रामगुप्त की पत्नी जिसे खशाधिपति को देकर रामगुप्त ने खशाधिपति से सन्धि-प्रस्ताव किया था। बाद में रामगुप्त के छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त को मार कर ध्रुवस्वामिनी को अपने अधीन कर लिया।

नन्दिकेश्वर—राजशेखर ने काव्यपुरुष के अष्टादश शिष्यों में इनका निर्देश किया है। नन्दी शिव के प्रसिद्ध गणों में से एक गण भी हैं। यहाँ वे रसाधिकरण के प्रणेता माने गये हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र (१. १. ८) में ये कामसूत्र के प्रणेता बताये गये हैं—महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्रेणाध्या-यानां पृथक् कामसूत्रं प्रोवाच।

पतञ्जलि—व्याकरण महाभाष्य के प्रणेता। राजशेखर इन्हें तथा गोन-र्दीय को एक व्यक्ति मानते हैं। परम्परा के अनुसार ये एक महान् वैयाकरण, योगी तथा अयुर्वेद के ज्ञाता थे—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

इनका समय ई० पू० १५० के लगभग माना जाता है। इनका व्याकरण महाभाष्य इनके पाण्डित्य का निदर्शक व्याकरण चूडान्त का ग्रन्थ है।

परमेष्ठी—शिवाजी के ६४ शिष्यों में से एक, संभवतः ये ब्रह्मा हैं।

पाणिनि—अष्टाध्यायी के प्रणेता तथा व्याकरण के एक प्रवर्तक विद्वान्। आज इनकी अष्टाध्यायी ही संस्कृत व्याकरण का प्रमाण वा एकमात्र स्रोत है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने इन्हें दाक्षीपुत्र कहा है। संभवतः इनकी माता का नाम दाक्षी था। सूक्तिसंग्रहों में पाणिनि के नाम से अनेक पद्य मिलते हैं। यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि ये पद्य वैयाकरण पाणिनि के हैं या

पाणिनि नाम वाले किसी अन्य व्यक्ति के। भण्डारकर, पीटर्सन आदि विद्वान् इन्हें वैयाकरण पाणिनिकृत नहीं मानते। इसके विपरीत औफ्रैक्ट और पिशेल इन्हें वैयाकरण पाणिनिकृत मानते हैं। राजशेखर की साक्षी भी इसी बात की पुष्टि करती है :

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम्॥

इसके अनुसार वैयाकरण पाणिनि ने व्याकरण-शास्त्र का निर्माण करने के अनन्तर जाम्बवती-जय नामक काव्य की रचना की। अन्य आलंकारिकों ने भी पाणिनि के पद्यों को उद्धृत किया है। कहीं-कहीं इस ग्रन्थ का नाम पाताल-विजय दिया है। भट्ट सोमेश्वर ने इन्हें उपाध्याय वर्ष का शिष्य कहा है। पाश्चात्य अनेकों विद्वानों ने इनका समय ई० पू० चौथी सदी बताया है, पर डॉ० भण्डारकर और गोल्डस्टुकर ने इनका समय ईसा से ७०० वर्ष पूर्व सिद्ध किया। इनके पद्य बड़े ही मनोहर तथा हृदयहारी होते हैं। शृंगार रसपूरित इस पद्य को देखिये :--

पाणौ पद्मधिया मधूकमुकुलभ्रान्त्या तथा गण्डयो-
र्नीलेन्दीवरशंकया नयनयोर्बन्धूकबुध्याऽधरे।

लीयन्ते कबरीषु बान्धवजनव्यामोहबद्धस्पृहा
दुर्वारा भ्रमराः कियन्ति सुतनु! स्थानानि रक्षिष्यसि॥

किसी कमनीयकलेवरा रमणी को सम्बोधन कर कवि कह रहा है—ले सुनतु! तुम कितने अङ्गों की इन भौरों से रक्षा करोगी? ये भौंरे तुम्हारे हाथों को कमल, गण्डस्थल को महुये का मुकुल, आँखों को नील कमल, अधर को बन्धूक तथा काले केशकलापों को अपना बन्धु समझ कर उस पर गिर रहे हैं।

पाणिनि के विषय में ये सूक्तियाँ उदाहरणीय हैं :—

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥--क्षेमन्द्र (सुवृत्ततिलक)

बभूव जिह्वाभिनयः कवीनां यदनुग्रहात्।
अनुशासितारं शब्दानां तन्नमामि कवीश्वरम्॥ —दण्डी

पाणिनि के अनुयायियों को पाणिनीयाः कहा गया है।

पराशर—काव्यपुरुष के अष्टादश शिष्यों में से एक, जिन्होंने अतिशयोक्ति का विवेचन किया। पुराणों में पराशर का चरित्र व्यापक रूप से वर्णित है। वे वसिष्ठ के पौत्र शक्ति के पुत्र तथा कृष्णद्वैपायन महर्षि व्यास के पिता हैं। विष्णु-पुराण के वक्ता भी ये ही हैं। वैदिक शाखाओं के एक प्रवर्तक के रूप में भी ये

प्रसिद्ध हैं। इनका उल्लेख धर्मशास्त्रकार के रूप में भी है। इनकी स्मृति पराशरस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है और कलियुग के लिये वही प्रामाण्य मानी गई है--कलौ पाराशरः स्मृतिः।

पाल्यकीर्ति—ये जैन वैयाकरण थे। पार्श्वनाथचरित्र में वादीभसिंह ने इनके विषय में निम्नलिखित श्लोक लिखा है :—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकां कुरुते जानान्॥

प्रक्रिया-संग्रह में अभयसिंह का निम्नलिखित वचन देखिये :—

मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्तिं जिनेश्वरम्।
मन्दबुद्धयनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे॥

इन पाल्यकीर्ति की जैन वैयाकरण शाकटायन से एकता मानी गयी है। राजशेखर के निर्देश से ज्ञात होता है कि वैयाकरण के अतिरिक्त वे एक सरस साहित्यिक भी थे, जिनके साहित्यशास्त्र के विषय में अपने स्वतंत्र मत थे। इनके व्याकरण का नाम शब्दानुशासन है। अपने संरक्षक महाराज अमोघदेव के नाम पर इन्होंने शब्दानुशासन पर अमोघा नाम की टीका भी लिखी है। ये राजशेखर से पूर्ववर्ती हैं।

पिंगल—छदःशास्त्र के निर्माता आचार्य। इन्हीं के नाम पर छन्दःशास्त्र का नाम पिंगल पड़ा। राजशेखर के अनुसार इनकी परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई थी।

पुलस्त्य—महर्षि पुलस्त्य ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं। राजशेखर ने इन्हें काव्य के वास्तव नामक अधिकरण का प्रणेता का माना है। महर्षि पुलस्त्य का रावण पौत्र था। इनका वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है।

प्रचेता—काव्यपु.ष के अष्टादश शिष्यों में से एक, जिन्होंने अनुप्रासाधिकरण का विवेचन किया। पुराणों में दश प्रचेता बताये गये हैं। इन्होंने घोर तपस्या की। तपस्या से विरत होने पर इन्होंने देखा कि सारी पृथ्वी पर वन व्याप्त हो गये हैं। वृक्षों पर क्रोध कर इन्होंने उन्हें दग्ध करना प्रारम्भ किया। वृक्षों ने वार्क्षेयी वा मारिषा नामक कन्या देकर इनसे सन्धि की। द्रष्टव्य, विष्णुपुराण १. १५; श्रीमद्भागवत ४. ३०; महाभारत अनुशासनपर्व १४७।२५; आदिपर्व, १९६।१५।

प्राचेतस—महर्षि वाल्मीकि का एक नाम। रामायण के प्रसिद्ध लेखक। क्रौञ्चद्वन्द्व में से एक के मारे जाने पर इनका शोक निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से फूट पड़ा :—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इनके काव्य के विषय में अनेकों प्रशस्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ देखिये :—

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥ १ ॥ —त्रिविक्रम
कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखं वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ २ ॥
वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ३ ॥
स वः पुनातु वाल्मीकेः सूक्तामृतमहोदधिः।
ओंकार इव वर्णानां कवीनां प्रथमो मुनिः ॥ ४ ॥ —क्षेमेन्द्र
यस्मादियं प्रथमतः परमाऽमृतौघ-
निर्घोषिणी सरससूक्तितरङ्गभक्तिः।
गङ्गेव धूर्जटिजटाञ्चलतः प्रवृत्ता
वृत्तेन वाक् तमहमादिकविं प्रपद्ये ॥ —वामननाग

बार्हस्पत्य—बृहस्पति के मतानुयायी। बृहस्पति राजनीति के प्रमुख आचार्य हैं। बृहस्पति एक महान् ऋषि तथा देवताओं के गुरु हैं।

भरत—नाटचशास्त्र के प्रणेता एक महान् आचार्य। इनके समय के विषय में मतैक्य नहीं। पाणिनि के सूत्रों में अन्य नाटचसूत्रों का तो निर्देश है, पर भरत का निर्देश नहीं। अतः ये पाणिनि से अर्वाचीन होंगे किन्तु भास, कालिदास आदि से ये निश्चितरूपेण पूर्ववर्ती होंगे, क्योंकि इन्होंने भरतवाक्य शब्द का प्रयोग किया है। नाटचशास्त्र का समय मैकडानल ईसा का षष्ठ शतक बताते हैं, किंतु महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ई० पू० दूसरी सदी बताते हैं। डा० एस० के० डे के अनुसार इनका समय ई० पू० ४ थी सदी ठहरता है (देखिए—संस्कृत साहित्य का इतिहास—दासगुप्त और डे के पृ० ५२२)।

भवानी—शिवपत्नी उमा।

भारवि—'किरातार्जुनीयम्' के रचयिता महाकवि। अवन्तिसुन्दरी कथा के अनुसार ये विष्णुवर्धन के सभापण्डित बताये गये हैं। विष्णुवर्धन पुलकेशी द्वितीय का अनुज था और वह ६१५ ई० के लगभग महाराष्ट्र प्रान्त में शासन करता था। उसका सामयिक होने से भवभूति का समय भी ६०० ई० के आसपास होना चाहिए। इसकी पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी होती है। बीजापुर जिले के ऐहोड़ नामक स्थान पर एक शिलालेख मिला है जिसका समय ५५६ शकाब्द (अर्थात् ६३४ ई०)। शिलालेख की रचना रविकीर्ति नामक किसी जैन कवि ने की। प्रशस्ति के अन्त में रविकीर्ति ने अपने को कविता-निर्माण

में कालिदास तथा भारवि के समान यशस्वी बताया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारवि ६३४ ई० से पूर्व हो चुके थे। अतः इनका समय ६०० ई० के लगभग मानना सयुक्तिक है।

भारवि की एकमात्र रचना किरातार्जुनीयम् महाकाव्य है। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है और अर्जुन तथा किरातरूपधारी भगवान् शङ्कर का युद्ध इसका मुख्य वर्ण्य विषय है। पूरे महाकाव्य में १८ सर्ग हैं और ऋतुवर्णन, पर्वत, सूर्यास्त जलक्रीडा आदि का वर्णन महाकाव्य के लक्षणानुसार यहाँ उपलब्ध होता है।

मल्लिनाथ ने अपनी टीका के प्रारम्भ में किरात का परिचय देते हुए लिखा है :—

नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशज—
स्तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥

भारवि के विषय में अनेकों प्रशंसापरक सूक्तियाँ कही जाती हैं। कुछ नीचे उद्धृत हैं :—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्याकृतिः कैरिव नोपजीव्या॥ १॥
उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्॥ २॥
लक्ष्मैर्बन्धकितं बध्वा भारवीयं सुभाषितम्।
प्रकान्तपुत्रहत्याद्यं निशि माघं न्यवारयत्॥ ३॥
जनितार्जुनतेजस्कं तत्र तमीश्वरमुपाश्रिता।
राकेव भारवेर्भाति कृतिः कुवलयप्रिया॥ ४॥
विमर्द्दे व्यक्तसौरभ्या भारती भारवेः कवेः।
धत्ते बकुलमालेव विदग्धानां चमत्क्रिया॥ ५॥

मंगल—साहित्यशास्त्र के एक आचार्य; जिनके मत का उल्लेख राजशेखर ने अनेकों बार किया है। इन मंगल के जीवनवृत्त और कृति के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में एक मंगल नामक आचार्य का मत उद्धृत किया है, जिसके अनुसार अभ्यास ही काव्य का हेतु है। सदुक्तिकर्णामृत में मंगल के नाम से दो श्लोक उपलब्ध होते हैं, जिनमें एक के अनुसार ये जैन प्रतीत होते हैं :—

यदाख्यानासङ्गादुषसि पुनते वाचमृषभो
यदीयः संकल्पो हृदि सुकृतिनामेव रमते।
स सार्वः सर्वज्ञः पथि निरपवादे कृतपदो
जिनो जन्तूनुच्चैः दमयतु भवावर्तपतितान्॥
निष्किञ्चनत्वाद्विधुरस्य साधोरभ्यर्थितस्यार्थिजनस्य किञ्चित्।
नास्तीति वर्णा मनसि भ्रमन्तो निर्गन्तुमिच्छन्त्यसुभिः सहैव॥

मानवाः—मनु के अनुयायी। महाराज मनु आद्य सम्राट् थे। इन्हीं के वंशज मानव कहलाये। धर्मशास्त्र के विषय में इनका ग्रंथ मनुस्मृति सर्वाधिक मान्य ग्रंथ है। इनके बनाये मानवसूत्र भी उपलब्ध होते हैं। मनु का चरित्र पुराणों में विस्तृत रूप से वर्णित है।

मेण्ठ (भर्तृमेण्ठ)—भर्तृमेण्ठ का विवरण हमें कल्हण की राजतरङ्गिणी में मिलता है। सुना जाता है कि भर्तृमेण्ठ हाथीवान् थे क्योंकि मेण्ठ शब्द का अर्थ हाथीवान् होता है। राजशेखर के एक पद्य से भी भर्तृमेण्ठ का हाथीवान् होना ज्ञात होता है:—

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इस धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः॥

कल्हण पण्डित के अनुसार भर्तृमेण्ठ ने हयग्रीववध नामक महाकाव्य की रचना की थी। राज्याश्रय की इच्छा से वे घूमते-फिरते काश्मीर पहुँचे। उस समय काश्मीर में मातृगुप्त शासन कर रहे थे। राजदरबार में भर्तृमेण्ठ कविता सुनाने लगे। कविता समाप्त हो चली, पर राजा ने कुछ न कहा। कविजी रुष्ट हो गये। इसे उन्होंने कविता का निरादर समझा। वे वेष्टन बाँधने लगे। पर राजा ने तो पहले से ही सोने की थाल नीचे रख दी थी जिससे काव्यरस चूकर नीचे न गिर पड़े। कल्हण लिखते हैं:

हयग्रीववधं मेण्ठस्तदग्रे दर्शयन् नवम्।
आसमाप्ति ततो नापत् साध्वसाध्विति वा वचः॥
अथ ग्रन्थयितुं तस्मिन् पुस्तके प्रस्तुते न्यधात्।
लावण्यनिर्याणभिया राजाधः स्वर्णभाजनम्॥
अन्तरज्ञतया तस्य तादृश्या कृतसन्ततिः।
भर्तृमेण्ठः कविर्मेने पुनरुक्तं श्रियोऽर्पणम्॥

—राजतरङ्गिणी, तृतीय तरङ्ग

सम्भव है ये मातृगुप्त के सभापण्डित हो गये हों। राजशेखर के उल्लेख से इतना ही निश्चित है कि ये ९०० ई० से पहले थे। इनका एकमात्र ग्रंथ हयग्रीववध है जो आज अनुपलब्ध है। केवल कहीं-कहीं सूक्तिसंग्रहों में

इसके उद्धरण मिलते हैं जो बहुत ही अपर्याप्त हैं। मम्मट ने काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास में 'अङ्ग की अति विस्तृति' एक दोष माना है और इसका उदाहरण हयग्रीववध को दिया है। अङ्गी की वर्णना की अपेक्षा अङ्ग का विस्तृत वर्णन इस दोष का आधार है। हयग्रीववध के अङ्गी–नायक–भगवान् विष्णु हैं और अङ्ग–प्रतिनायक–हयग्रीव है। इस महाकाव्य में हयग्रीव का विस्तृत वर्णन होने से इस दोष की सत्ता स्वीकार की गई है।

भर्तृमेण्ठ के विषय में अनेकों सूक्तियां प्रसिद्ध हैं। कुछ ये हैं :—

तत्त्वस्पृशस्ते कवयः पुराणाः श्रीभर्तृमेण्ठप्रमुखा जयन्ति।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥ १ ॥
पूर्णेन्दुबिम्बादपि सुन्दराणि तेषामदूरे पुरतो यशांसि।
ये भर्तृमेण्ठादिकवीन्द्रसूक्तिव्यक्तोपदिष्टेन पथा प्रयान्ति ॥ २ ॥

—पद्मगुप्त

यः कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेण्ठः।
रसप्लवेऽपि स्फुरति प्रकामं वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव ॥ ३ ॥

—सोड्ढल

वक्रोक्त्या भर्तृमेण्ठस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः ॥ ४ ॥ —धनपाल

यस्मिन्नितिहासार्थानपेशलान् पेशलान् कविः कुरुते।
स हयग्रीववधादिप्रबन्ध इव सर्गबन्धः स्यात् ॥ ५ ॥

—शृङ्गारप्रकाश

मेधाविरुद्र—मेधाविरुद्र का उल्लेख राजशेखर के अतिरिक्त भामह तथा नमिसाधु ने किया है। राजशेखर के अनुसार मेधाविरुद्र जन्मान्ध कवि थे। प्रतिभा के प्रसङ्ग में उन्होंने इनका उल्लेख किया है। प्रतिभाशाली कवि को कोई विषय अगोचर नहीं रहता जैसे मेधाविरुद्र तथा कुमारदास को। नमिसाधु ने मेधाविरुद्र को अलङ्कारशास्त्र का रचयिता माना है :—

ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येव अलङ्कारशास्त्राणि।

—रुद्रट पर टीका

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि मेधाविरुद्र एक ही व्यक्ति हैं अथवा मेधावी और रुद्र अलग-अलग दो व्यक्ति हैं। भामह ने अपने काव्यालङ्कार में मेधावी नामक आचार्य के मत का निर्देश दो बार किया है। वस्तुतः दोनों नामों के एक व्यक्तिपरक होने या न होने का निर्णय कठिन है।

यायावरीय—यह राजशेखर का उपनाम या कुटुम्बनाम है। अपने स्वतन्त्र मत का निर्देश वे इसी नाम से करते हैं।

रुद्रट—अलङ्कारशास्त्र के इतिहास तथा विकास में रुद्रट का अपना विशेष महत्त्व है। इसका कारण यह है कि इन्होंने सर्वप्रथम अलङ्कार का श्रेणी-विभाग कुछ नियमों के आधार पर किया। इनके जीवनवृत्त के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। नाम से ये काश्मीरी प्रतीत होते हैं। इन्होंने ग्रन्थारम्भ में गणेश एवं गौरी तथा अन्त में भवानी, मुरारि और गजानन की वन्दना की है, जिससे ये शिवभक्त प्रतीत होते हैं। इनके टीकाकार नमिसाधु के अनुसार इनका दूसरा नाम शतानन्द था। इनके पिता वामुकभट्ट थे तथा ये सामवेदी थे :

शतानन्दपराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सम्राजा धीमता हितम् ॥

—काव्यालङ्कार ५।१८-१४ की टीका

अलङ्कार ग्रंथों में रुद्रट का निर्देश इतनी प्रचुरता से हुआ है कि इनका समय मोटे तौर पर निश्चित करने में कोई कठिनाई नहीं है। मम्मट, धनिक तथा प्रतिहारेन्दुराज ने इनका निर्देश किया है। राजशेखर ने भी काकु वक्रोक्ति के प्रसङ्ग में इनका निर्देश किया है। अतः राजशेखर ही सबसे प्राचीन आलंकारिक हैं, जिन्होंने रुद्रट का मत-निर्देश किया। रुद्रट ध्वनि-मार्ग से भी अपरिचित हैं, अतः इनका समय ९ वीं सदी का प्रारम्भ प्रतीत होता है।

रुद्रट का एकमात्र ग्रंथ काव्यालङ्कार है, जो आर्या छन्द में लिखा गया है। इसमें अध्यायों की संख्या १६ है तथा कुल ७३४ आर्या हैं। रुद्रट के ऊपर तीन टीकाओं का पता चलता है (१) वल्लभदेव की टीका (२) नमिसाधु की टीका और (३) आशाधर की टीका। इनमें केवल नमिसाधु की टीका ही उपलब्ध है।

रूप—रूप नाम किसी कवि की राजशेखर ने उज्जयिनी में काव्यपरीक्षा का संकेत किया है। इनके जीवनवृत्त, समय आदि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

वररुचि—सूक्तिसंग्रहों में वररुचि के अनेकों पद्य उपलब्ध होते हैं। पर ये वररुचि कौन थे? पाणिनि व्याकरण पर वार्तिक लिखने वाले कात्यायन मुनि का नाम भी कोई वररुचि था और प्राकृतप्रकाश नामक प्राकृत-व्याकरण के प्रणेता भी कोई वररुचि ही थे! तो फिर कवि वररुचि तथा वैयाकरण वररुचि भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं अथवा दोनों एक ही व्यक्ति हैं? इस विषय में यही प्रतीत होता है कि कवि वररुचि तथा वार्तिककार वररुचि एक व्यक्ति हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में किसी 'वाररुचं काव्यम्' का उल्लेख किया है। यह ग्रंथ सम्प्रति अनुपलब्ध है। इसका नाम कण्ठाभरण था, जिसका उल्लेख राजशेखर ने इस प्रकार किया है :

यथार्थतां कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह ।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रिया ॥

—सूक्तिमुक्तावली

कात्यायन का समय ई० पू० चतुर्थ शतक है। कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि वररुचि कात्यायन पाटलिपुत्र के राजा नन्द के मंत्री थे। इन्होंने वर्ष उपाध्याय से विद्यायें पढ़ी थीं। व्याकरण के आप आचार्य थे। डाक्टर भण्डारकर ने कथासरित्सागर को प्रमाण मानकर वररुचि कात्यायन का समय ई० पू० चतुर्थ शतक माना है। इनकी कविता सरस तथा मनोहारिणी होती है। माधुर्य तथा प्रसाद गुण से आपूर्ण इनकी कविता बड़ी ही सजीव होती है। वर्षाकाल का वर्णन देखिये :—

इन्द्रगोपैर्बभौ भूमिर्निचितेव प्रवासिनाम् ।
अनङ्गबाणैर्हृद्भेदस्रुतलोहितविन्दुभिः ॥

वर्ष—राजशेखर ने इनकी पाटलिपुत्र में परीक्षा का उल्लेख किया है। संभवतः ये पाणिनि के गुरु तथा महान् वैयाकरण थे।

वाक्पतिराज—ये प्राकृत के महान् कवि तथा कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मा के सभाकवि थे तथा भवभूति की कविता के प्रशंसक थे :—

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥ —कल्हण

इनकी एकमात्र रचना गउडवहो (गौडवधः) है। इसमें १२०६ गाथायें हैं और यशोवर्मा के द्वारा किसी गौडदेशीय राजा की पराजय तथा वध का वर्णन है। कविता उदात्त, प्रौढ़, सरस तथा मनोरम है। भाषा की दृष्टि से भी यह एक उदात्त रचना है। इनकी कविता की प्रशंसा में धनपाल का यह श्लोक मननीय है :—

दृष्ट्वा वाक्पतिराजस्य शक्तिं गौडवधोद्धुराम् ।
बुद्धिः श्वासोपरुद्धेव वाचं न प्रतिपद्यते ॥ —तिलकमञ्जरी

वाक्पतिराज की स्वतः की उक्ति देखिये :—

भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति ।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथा निवेशेषु ॥ —गाथा ७९९

वामनीया :—वामन के अनुयायी। वामन संस्कृत के प्रसिद्ध आलङ्कारिकों में से हैं। कल्हण के अनुसार ये काश्मीरी राजा जयादित्य के मंत्री थे :

मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा ।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥

इन्होंने रीति को काव्य का आत्मा मानकर रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। वामन का समय निश्चित किया जा सकता है। इन्होंने भवभूति (७५० के लगभग) के एक पद्य को उद्‌धृत किया है अतः ये भवभूति के उत्तरवर्ती ठहरते हैं। राजशेखर (९२०) ने इनके मत को उद्‌धृत किया ही है। लोचनकार के अनुसार वामन आनन्दवर्धन (८५०) से भी पूर्ववर्ती हैं। अतः इनका समय ७५० से ८५० के बीच मोटे तौर पर माना जा सकता हैं। वामन के ग्रन्थ का नाम है काव्यालङ्कारसूत्र। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि अलङ्काशास्त्र में यही ग्रन्थ सूत्र-शैली में लिखा गया है। यह ग्रन्थ पांच अधिकरणों में विभक्त है। अधिकरण अध्यायों में विभक्त हैं। पूरे ग्रन्थ में ५ अधिकरण, १२ अध्याय तथा २१२ सूत्र हैं। रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार करने के कारण इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व है और वामन सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य हैं।

वाल्मीकि--इनका संक्षिप्त विवरण प्राचेतस के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

वासुदेव--किसी राजा का नाम। प्राचीन इतिहास में इन नाम के दो व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं। एक राजा देवभूति का ब्राह्मण अमात्य वासुदेव काण्व, जो देवभूति के मारे जाने पर सिंहासन पर आरूढ़ हुआ और ७३ ई० पू० के लगभग शासन करता था। दूसरे वासुदेव प्रथम कुषाणवंश का शासक था जिसने १४० ई० से १७८ ई० तक शासन किया।

वैकुण्ठ--श्रीकण्ठ के चौंसठ शिष्यों में से एक।

व्याडि--व्याकरणशास्त्र के एक प्रसिद्ध आचार्य; जिनकी शास्त्र-परीक्षा की बात राजशेखर कहते हैं। व्याडि का विवरण कथासरित्सागर में मिलता है और भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में इनका उल्लेख किया है। कुछ लोग व्याडि को पाणिनि का मातुल व भाई भी कहते हैं। कहा जाता है कि इनका ग्रंथ इतना विस्तृत था कि इसका प्रचार-प्रसार न हो सका।

शिशुनाग--कोई प्राचीन राजा। संभवतः इन्होंने शिशुनाग राजवंश का प्रवर्तन किया।

शूद्रक--मृच्छकटिक के रचयिता महाराज शूद्रक एक प्रतापी शासक थे। मृच्छकटिक के अध्ययन से शूद्रक वेद, गणित, नृत्य, गायन आदि कलाओं के ज्ञाता प्रतीत होते हैं। इन्होंने बड़े सम्भार से शासन तथा अश्वमेध यज्ञ किया और एक सौ वर्ष तथा दश दिन की आयु प्राप्त कर अग्नि में प्रवेश किया। वे युद्धप्रेमी, प्रमादरहित तथा तपस्वी थे। वे अत्यन्त सुन्दर थे। शूद्रक के विषय में अनेकों किम्वदन्तियाँ संस्कृत-साहित्य में प्रचलित हैं।

कथासरित्सागर में इनका आख्यान दर्शनीय है। स्कन्दपुराण तथा राजतरगिणी में भी इनका उल्लेख है।

शूद्रक के समय के विषय में मतभेद है। अनेक भारतीय विद्वानों ने आन्ध्रभृत्यकुल के राजा शिमुक से इनकी एकता मानकर इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी माना है। पर कुछ लोग इसे ईसा की पञ्चम सदी की रचना मानते हैं। शूद्रक का एक ही ग्रंथ ज्ञात है—मृच्छकटिक। यह रूपक दश अङ्कों में विभक्त है। यह शास्त्रीय शब्दावली में प्रकरण है। कथासंविधान, चरित्राङ्कन, भाषा-शैली और विषय—सभी दृष्टियों से यह नाटक अनूठा है। रामिल और सोमिल नामक दो कवियों ने इनके जीवन-चरित्र पर ग्रंथ लिखा जिसका उल्लेख सूक्तिमुक्तावली में इस प्रकार किया गया है :—

तौ शूद्रककथाकारौ रम्यौ रामिलसोमिलौ।
काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीश्वरोपमम् ॥

दण्डी नें शूद्रक के विषय में लिखा है :

शूद्रकेनासकृज्जित्वा स्वच्छया खड्गधारया।
जगद् भूयोऽप्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थता ॥

शूद्रक का नाटक मृच्छकटिक पात्रों की सजीवता तथा व्यावहारिक जीवन के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण है।

शेष—काव्यपुरुष का एक शिष्य, जिसने शब्दश्लेष का विवचन किया।

श्यामदेव—साहित्यशास्त्र के एक आचार्य जिनके मत का उल्लेख राजशेखर ने तीन वार किया है। श्यामदेव काव्यरचना में समाधि के सिद्धान्त पर विशेष महत्त्व देते हैं। एक श्यामलिक नामक कोई कवि हो गये हैं जिनका पादताडितक भाण प्रसिद्ध है। हो सकता है श्यामलिक तथा श्यामदेव एक ही व्यक्ति हों। श्यामलिक के पादताडितक भाण में इस विषय पर निम्नलिखित पद्य मिलता है :—

इदमिह पदं मा भूदेवं भवत्विदमन्यथा कृतमिदमयं ग्रंथेनार्थो महानुपपादितः।
इति मनसि यः काव्यारम्भे कवेर्भवति श्रमः सनयनजलो रोमोद्भेदः सतां तमपोहति॥

श्रीकण्ठ—काव्यविद्या के आदि प्रवर्तक जिन्होंने चौंसठ शिष्यों को काव्यविद्या का उपदेश किया।

श्रीकेशव—कोई सामन्त या सम्पन्न व्यक्ति जिसने कुडुङ्गेश्वर की सहायता की।

शर्मगुप्त—चन्द्रगुप्त का भाई जिसने खशाधिपति को मार कर ध्रुवस्वामिनी को मुक्त किया।

सरस्वती—विद्या की अधिष्ठातृ-देवी, काव्यपुरुष की माता।

सहस्राक्ष–काव्यपुरुष का एक शिष्य जिसने काव्यरहस्य का विवेचन किया।

सातवाहन—एक सम्राट्। गाथासप्तशती के रचयिता हाल का यह दूसरा नाम है। ये कुन्तल देश के सम्राट् थे। इस प्राकृत काव्य की रचना हीं उनके प्राकृतप्रेम का द्योतक है। गाथा सप्तशती प्राकृतसूक्तियों का संग्रह या कोश है। कथासरित्सागर में सातवाहन शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है :—

सातेन यस्मादूढोऽभूत्तस्मात्तं सातवाहनम्।
नाम्ना चकार कालेन राज्ये चैनं न्यवेशयत्॥

अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी के अनुसार 'हालः स्यात्सातवाहनः'। राजशेखर के अनुसार सातवाहन ने अपने अन्तःपुर में प्राकृत-भाषा बोलने का नियम प्रचारित किया था। प्राकृत का आशय महाराष्ट्री प्राकृत से है, क्योंकि कुन्तल देश महाराष्ट्र में ही समाविष्ट है। सातवाहन हाल के समय के विषय में मतभेद है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इनका समय ईसा का द्वितीय शतक ठहरता है। ये प्राकृत भाषा के कवियों के आश्रयदाता थे। इनके कवियों में प्रमुख श्रीपालित हैं जिनकी अनेकों गाथायें इस कोश में समाविष्ट हैं। गाथासप्तशती का विषय विशुद्ध शृंगार है जिसमें अनेकों अनूठी कवितायें संगृहीत हैं।

हाल के विषय में अनेकों सूक्तियाँ प्रचलित हैं। एक-दो उदाहरण देखिये—

हाले गते गुणिनि शोकभराद् बभूवु-
रुच्छिन्नवाङ्मयजडाः कृतिनस्तथाऽमी।
यत्तस्य नाम नृपतेरनिशं स्मरन्तो
हेत्यक्षरं प्रथममेव परं विदन्ति॥ १॥

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोशः रत्नैरिव सुभाषितम्॥ २॥ —बाण

सारस्वतेय—सरस्वती से उत्पन्न काव्यपुरुष।

साहसाङ्क—सूक्तिमुक्तावली के एक पद्य से प्रतीत होता है कि ये संस्कृत के विद्वानों के आश्रयदाता थे। राजशेखर के साक्ष्य से भी वे संस्कृत के संरक्षक तथा प्रेमी प्रतीत होते हैं। ये साहसाङ्क विक्रमादित्य थे ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि इतिहास में अनेकों विक्रमादित्य हैं, क्योंकि सभी प्राचीन प्रतापी नरेश अपनी विक्रमादित्य उपाधि रख लेते थे। गाथासप्तशती के एक पद्य में विक्रमादित्य का उल्लेख है :—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरित्रं अणुसिक्खियं तिस्सा॥

इससे विक्रमादित्य ईसा की प्रथम शती से प्राचीन ठहरते हैं। यह निश्चित नहीं है कि यहाँ उल्लिखित साहसांक प्रथम सदी के पूर्ववर्ती कोई

विक्रमादित्य हैं अथवा गुप्तवंश के चंद्रगुप्त विक्रमादित्य। अधिक संभावना यही है कि यह गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय होगा। साहसाङ्क के संस्कृत-प्रेमी होने का समर्थन सूक्तिमुक्तावली के निम्नांकित पद्य से होता है :—

शूरः शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसाङ्कः स भूपतिः।
सेव्यं सकललोकस्य विदधे गन्धमादनम्॥

गन्धमादन नामक संस्कृत का कोई प्रबन्ध इन्होंने वनाया होगा। सरस्वतीकण्ठाभरण में यह उल्लेख मिलता है कि इनके राज्य में सभी लोग संस्कृत बोलते थे :—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण

संस्कृत कवियों में साहसाङ्क की गणना का पता इससे भी चलता है :

भासो रामिलसौमिलौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्क कविः॥

साहित्यविद्यावधू—काव्यपुरुष की पत्नी।

सुरानन्द—ये राजशेखर के पूर्वज थे तथा यायावर कुल में उत्पन्न थे। इनके विषय में बालरामायण के इस पद्य से पता चलता है :

स मूर्तो यत्रासीद् गुणगण इवाकालजलदः, सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा।
न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयः, महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले॥

—१. १३

ये संभवतः चेदि राजाओं की राजसभा में रहते थे क्योंकि इन्हें चेदि-मण्डलमण्डन कहा गया है—

नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः।
कवीनां च सुरानन्दश्चेदिमण्डलमण्डनः॥ —सूक्तिमुक्तावली

ध्वन्यालोक में उद्धृत 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' संभवतः सुरानन्द के ग्रन्थ से ही उद्धृत किया गया है।

सुवर्णनाभ—काव्यपुरुष के अष्टादश शिष्यों में से एक जिन्होंने साम्प्र-योगिक अधिकरण का प्रणयन किया। यही बात हमें कामसूत्र में भी उल्लि-खित मिलती है—'सुवर्णनाभः साम्प्रयोगिकम्' (कामसूत्र १. १ १३)।

सूर—कोइ प्राचीन कवि। संभव है बौद्ध कवि आर्यशूर का यह संक्षिप्त नाम हो।

हरिश्चन्द्र—एक प्राचीन कवि जिनकी प्रशंसा बाणभट्ट ने इस प्रकार की है:—

पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥ —हर्षचरित १. ४

इनकी कोई कृति इस समय उपलब्ध नहीं है।

हर्ष--महाराज हर्षवर्धन का स्थान संस्कृत साहित्य में अमर है। इनके आश्रित कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में इनका व्यापक वर्णन किया है। ह्वेनसांग के यात्रा विवरणों से भी इनके जीवनवृत्त पर प्रकाश पड़ता है। इनका राज्यकाल ६०६ ई० से ६४७ ई० तक है। इनके पिता का नाम प्रभाकरवर्धन, माता का नाम यशोमती, बड़े भाई का नाम राज्यवर्धन तथा बहन का नाम राज्यश्री था। इनकी राजधानी स्थाण्वीश्वर (थानेसर) में थी। महाराज हर्ष स्वतः संस्कृत के एक प्रकाण्ड पण्डित होने के अतिरिक्त कवियों के आश्रयदाता भी थे। इनकी सभा में बाणभट्ट, मयूरभट्ट तथा दिवाकर आदि कवि रहते थे।

हर्ष संस्कृत-नाटक-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनके तीन ग्रंथ मिलते हैं—रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द। ये सभी नाट्यकृतियां है। कविता माधुर्य गुण से ओतःप्रोत तथा रसमयी है। कथानक-विन्यास, चरित्राङ्कन, भाषा तथा काव्य सभी दृष्टियों से इनकी कृतियाँ मनोरम हैं। इनके विषय् में अनेकों सूक्तियाँ प्रचलित हैं? जिनमें कुछ नीचे दी जाती हैं :—

श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलम्। --सुभाषितावली

अर्थार्थिनां प्रिया एव श्रीहर्षोदीरिता गिरः।
सारस्वते तु सौभाग्ये प्रसिद्धा तद्विरुद्धता॥ २॥ --हरहिर

श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु
नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
श्रीहर्ष एव निजसंसदि येन राज्ञा
संपूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥ ३॥ —सोड्ढल

सुश्लिष्टसन्धिबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम्॥ ४॥
--कुट्टनीमत

सचित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः॥ ५॥ --पद्मगुप्त

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्।
--सुभाषितावली

हली—यह बलरामजी का एक नाम है।

———

परिशिष्ट (ख)

भौगोलिक स्थान

अंग—यह पूर्वीय आर्य जनपद है जिसमें गंगा नदी प्रवाहित होती है (मत्स्य पु० १२१.५०, । यह प्राचीन सोलह प्रसिद्ध जनपदों में है । बी. सी. ला महाशय के अनुसार महाभारतीय साक्ष्य के अनुसार अङ्ग भागलपुर और मुंगेर के जिलों में था और उत्तर में कोसी नदी तक फैला था । किसी समय अङ्ग राज्य के अधीन मगध भी सम्मिलित था । डा० डी० सी० सरकार भी कहते हैं कि अङ्ग पूर्वीय बिहार प्रदेश था । मत्स्य पुराण (४८.२५) के अनुसार इस राज्य के संस्थापक अङ्ग बलि के क्षेत्रज संतान थे । बलि की पांच सन्तानें ये हैं : अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र और सुह्म । अङ्ग की राजधानी भागलपुर से पश्चिम में अवस्थित चम्पापुरी थी । महाभारत में कर्ण अङ्ग देश का राजा बताया गया है ।

अन्तर्वेदी—राजशेखर के अनुसार अन्तर्वेदी के उत्तर में गंगा, दक्षिण में यमुना, पश्चिम में विनशन (त्रिकाण्डशेष के अनुसार विनशन कुरुक्षेत्र है—कुरुक्षेत्रं विनशनम्; iii, 14) ।

आन्ध्र—बी० सी० ला आधुनिक तेलगू भाषी प्रदेश को आन्ध्र देश बताते हैं । इसमें हैदराबाद के पूर्वी भाग समाविष्ट थे । एक शिलालेख में तैलंग देश की सीमा इस प्रकार बतायी गयी है :—

पश्चात्पुरस्ताद्यस्य देशौ महाराष्ट्रकलिङ्गसंज्ञौ ।
अर्वागुदक् पाण्ड्यककान्यकुब्जौ देशस्स तत्रास्ति तिलिङ्गनामा ॥

डा० डी० सी० सरकार तैलङ्गदेश और आन्ध्र को एक ही बताते हैं (स्टडीज इन ज्योग्राफी आफ एन्स्येण्ट इण्डिया) । पार्जिटर कहते हैं कि निजाम के पूर्वी प्रदेश वाले अंश की राजधानी वाराङ्गल थी और दूसरी राजधानी धेनुकाकत में थी । तन्त्रशास्त्र में इसकी सीमा इस प्रकार है—

जगन्नाथादूर्ध्वभागादर्वाक् श्रीभ्रमरालकात् ।
तावदन्ध्राभिधो देशः ……………… ॥

अयोध्या—उत्तरप्रदेश के फैजाबाद जिले में सरयू के तट पर अवस्थित नगर । यह सूर्यवंशी राजाओं की प्रथित राजधानी थी । मर्यादा पुरुषोत्तम राम का अवतार यहीं हुआ था । इसे अवधपुरी या साकेत भी कहते हैं ।

अर्बुद—यह राजपूताने की वर्तमान आबू पर्वत श्रेणी है । मत्स्यपुराण (२२.३८) के अनुसार यहां का किया श्राद्ध महत्त्वपूर्ण है ।

अवन्ती—यह प्राचीन काल के १६ जनपदों में से एक था। मोटे तौर पर इस देश में आधुनिक मालवा, निमार तथा अन्य समीपी प्रदेश थे। इस प्रदेश की राजधानी उज्जैनी या अवन्तिका थी। उज्जैनी का महाकाल मन्दिर प्रसिद्ध है। कालिदास की वृत्ति इस प्रदेश में बड़ी रमी थी। इस प्रदेश के महाकालवन में शिव और अन्धक में युद्ध हुआ था (मत्स्यपुराण, १७९.५)।

अश्मक—महामहोपाध्याय डा० मिराशी अहमदावाद और भीर जिलों में अश्मक की स्थिति मानते हैं। डा० सरकार नन्देर निजामावाद प्रदेश भी इसी में समाविष्ट मानते हैं (द्र० स्टडीज इन ज्याग्राफी एन्स्येण्ट इण्डिया, पृ० १५८)।

आनर्त—आनर्तदेश की स्थिति के विषय में मतभेद है। एस० बी० चौधुरी के अनुसार आनर्त कठियावाड़ का हलर प्रदेश है। रुद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख में आनर्त का सुराष्ट्र के साथ उल्लेख है। कुछ लोग इसे उत्तरी गुजरात में मानते हैं। बी० सी० ला के अनुसार यह बडनगर जिसका प्राचीन नाम आनन्दपुर के समीपवर्ती प्रदेश में अवस्थित है। डा० सरकार इसे द्वारका के चतुर्दिक् मानते हैं (विशेष के लिये द्रष्टव्य—काशिराजन्यास की 'पुराणम्' पत्रिका के ५.१ में कान्तावाला का निबन्ध)। आनर्त की स्थापना शर्याति के लड़के आनर्त ने की थी (मत्स्यपुराण १२.२२)।

आर्यावर्त—मनुस्मृति में इसकी सीमा इस प्रकार है :—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ —२।२१

इन्द्रकील—हिमालय पर्वत का एक शिखर।

इन्द्रद्वीप—भारतवर्ष के नौ भागों में से एक। कुछ लोग वर्मा को इन्द्रद्वीप मानते हैं।

इरावती—पञ्जाब की प्रसिद्ध नदी रावी। इसी के तटपर लाहौर नगर अवस्थित है। कुछ लोग अवध प्रदेश की राप्ती नदी को इरावती कहते हैं।

इलावृतवर्ष—महामेरु को घेरे हुये प्रदेश।

उज्जैनी—आधुनिक उज्जैन। शिप्रा नदी के तटपर अवस्थित है। भगवान् शंकर का प्रसिद्ध ज्योतिर्लिङ्ग महाकाल यहीं पर हैं।

उत्कल—वर्तमान उड़ीसा प्रदेश।

उत्तरकुरु—पुराणों में शृङ्गवान् नामक वर्ष-पर्वत को व्याप्त किये प्रदेश का नाम उत्तरकुरु है। रामायण और महाभारत के अनुसार तिब्बत और तुर्किस्तान इसमें समाविष्ट थे।

उत्तरकोशल—अवध प्रदेश दो भागों में विभक्त था—उत्तरकोशल और कोशल। इन दोनों कोशलों की राजधानियाँ अयोध्या और कुशावती नागरी थी।

उत्तरापथ—पृथूदक से उत्तरवर्ती देश उत्तरापथ कहलाता है।

उत्पलावती—दक्षिणी भारत के तिन्नीवेली जिले की नदी। यह ताम्रपर्णी नदी के समान्तर प्रवाहित होती है।

ऋक्षपर्वत—भारत के कुलपर्वतों में से एक। यह विन्ध्य की पूर्वी पर्वतश्रेणी है जो बंगाल की खाड़ी से नर्मदा के उद्गम स्थल तक फैली है।

कच्छीय—कच्छ। बृहत्संहिता में मरुकच्छ कहा गया है।

कपिशा—सिंहभूमि और उड़ीसा की सुवर्णरेखा नदी। इसका उद्गमस्थल ऋक्षपर्वत बताया जाता है।

कम्बोज—कम्बोज की स्थिति के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग इसकी स्थिति अफगानिस्तान में मानते हैं तो कुछ पामीर में। डा० डी० सी० सरकार कन्दहार के आस-पास इसकी स्थिति मानते हैं। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल पामीर के समर्थक हैं (इसकी स्थिति के विषय में विवाद के लिये द्रष्टव्य काशिराज न्यास की 'पुराणम्' पत्रिका का भाग ५ अङ्क २ तथा भाग ६ अङ्क १ में अग्रवाल, सरकार और सेठना के निवन्ध।)

करकण्ठ—उत्तरापथ का एक देश। कराकोरम पर्वतघाटी को कुछ लोग करकण्ठ मानते हैं।

करतोया—ब्रह्मपुत्र में मिलने वाली बंगाल की प्रसिद्ध नदी जो रंगपुर दिनाजपुर और बोगरा जिले में रहती है।

कर्णाट—मैसूर और कुर्ग देश की भूमि। रामनाथ से श्रीरङ्ग तक इसका विस्तार बताया गया है।

कलिङ्ग—उत्तर में उड़ीसा से दक्षिण में आन्ध्रतक प्रसृत प्रदेश। कलिङ्ग राज्य प्राचीनकाल में प्रसिद्ध था।

कलिन्द—हिमालय की श्रेणी। यही यमुना नदी की उद्गमभूमि है इसीलिए यमुना 'कलिन्दगिरिनन्दिनी' या कालिन्दी कही गयी है।

कशेरुमान्—भारत के नौ विभागों में से एक। कनिंघम ने इसका तादात्म्य सिंगापुर प्रदेश से किया है।

काञ्ची—मद्रास नगर के ४३ मील दक्षिण-पूर्व में अवस्थित काञ्जीवरम्। यह प्रसिद्ध सप्तपुरियों में से एक है। यह पालार नदी के तटपर अवस्थित है।

कामरूप—असम प्रदेश का प्राचीन नाम कामरूप है। राजशेखर ने पर्वत के रूप में इसका उल्लेख किया है। कामरूप की राजधानी प्राज्योतिषपुर थी। संभवतः कामरूप पर्वत नीलकूट पर्वत का पर्याय हो जिस पर कामाख्या देवी का मन्दिर अवस्थित है। महाभारत में यहाँ का राजा भगदत्त था। उस युद्ध में भगदत्त का हाथी प्रसिद्ध था।

कार्तिकेय नगर—हिमालय पर्वतश्रेणी अल्मोड़ा से अस्सी मील की दूरी पर अवस्थित वैद्यनाथ या बैजनाथ। वराह-पुराण (१४०.५) में लोहार्गल विष्णु का निवासस्थान बताया गया है। इस पर्वतश्रेणी में कार्तिकेय कुण्ड का उल्लेख है।

कालप्रिय—इस स्थान के विषय में मतभेद है। डा० मिराशी इसे कालपी मानते हैं जो कान्यकुब्ज से दक्षिण में है। वे कालप्रियनाथ को कालपी के सूर्यदेव मानते हैं। डा० सरकार की सम्मति भी कालपी के पक्ष में है। डा० काणे कालप्रियनाथ को उज्जैन का ज्योतिर्लिङ्ग मानते हैं जिसका भवभूति के नाटको में उल्लेख है। इसके विस्तृत विमर्श के लिये द्रष्टव्य मेरा अन्य ग्रन्थ 'महाकवि भवभूति' (चौखम्बा प्रकाशन)।

कावेर—कावेरी नदी के तट पर अवस्थित कुछ प्रदेश।

कावेरी—दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी।

काश्मीर—वर्तमान काश्मीर।

किम्पुरुषवर्ष—हिमालय के उत्तर में अवस्थित है और हेमकूट पर्वत को चतुर्दिक् से घेरे है। एन एल. डे इसे नेपाल मानते हैं। पर राजशेखर के अनुसार किम्पुरुष का ऐक्य नेपाल से नहीं माना जा सकता। नेपाल को वे भारत के पूर्व में अवस्थित बताते हैं और किम्पुरुष को हिमालय के उत्तर में।

कीर—पञ्जाब का बैजनाथ या कीरग्राम। किर्थर पर्वत-श्रेणी के चतुर्दिक् प्रसृत भूमि से भी ऐक्य किया गया है। पर राजशेखर ने इसे उत्तरापथ में बताया है। कीरों के विषय में विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली (भाग ९, सं. १)।

कुन्तल—डा० सरकार के अनुसार इसमें उत्तरी कनारा जिला, मैसूर के भाग, बेलगांव तथा धारवाड़ जिले समाविष्ट थे। पर डा० मिराशी के अनुसार यह बहुत उत्तर तक फैला था और इसमें दक्षिण मराठा देश भी सम्मिलित था। (विशेष के लिये द्रष्टव्य, सरकार, स्टडीज इन दि ज्याग्राफी आफ एन्स्येण्ट इण्डिया, पृ० १५५-१५६)। सातवाहन यहाँ के शासक बताये गये हैं।

कुमारीद्वीप—भारत के नौ वर्षों में से एक। संभवतः यह भारत वर्ष का ही दूसरा नाम है; जो उत्तर में हिमालय से दक्षिण में हिन्दमहासागर तक प्रसृत है। इसमें राजशेखर ने विन्ध्य, पारियात्र आदि सात कुलपर्वतों को गिनाया है।

कुमारीपुरम्—कन्याकुमारी।

कुलूत—उत्तरापथ में अवस्थित देश। पञ्जाब में व्यास नदी के समीप कांगरा जिले में स्थित कुलू को कुलूत माना गया है। इसकी प्राचीन राजधानी नगरकोट थी।

कुशद्वीप—सर्पिष् सागर से घिरा एक द्वीप बताया गया है। यह पृथ्वी के नौ द्वीपों में से एक है।

कुहू—उत्तरापथ की एक नदी। इसे सम्प्रति काबुल नदी कहते हैं। यह सिन्ध की सहायक है।

कृष्णवेणा—कृष्णा नदी। वेणा नदी के संगमस्थल पर इसे कृष्णवेणा भी कहते हैं।

केकय—सतलज और व्यास के बीच में स्थित पञ्जाब प्रदेश। यह प्रदेश गन्धार (वर्तमान पेशावर-रावलपिण्डी) के पूर्व में है।

केरल—दक्षिण मालाबार देश। इसमें मालाबार, ट्रावनकोर कोचीन राज्य सम्मिलित थे।

कोलगिरि—मैसूर राज्य का वर्तमान कुर्ग। कावेरी का यही उद्गमस्थल है। यह कोडगु या कोलगिरि भी कहा जाता है।

कोशल—अवध का दक्षिणी भाग। कोशल के दो विभाग थे—उत्तर कोशल और दक्षिण कोशल। अयोध्या और कुशावती इनकी राजधानियां थीं।

कौंकण—पश्चिमी घाट तथा अरब सागर के बीच की भूमि। यह घट्ट से लेकर कोटिशा जिले तक फैला था।

क्रथकैशिक—विदर्भ देश का नाम (रघुवंश ५.३९-४०)। पर राजशेखर दोनों को पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट करते हैं। महाभारत (सभापर्व १४।२१) में कैशिक देश का उल्लेख है जिस पर विदर्भराज भीष्मक ने विजय प्राप्त की थी।

क्रौञ्चद्वीप—भूमण्डल के सप्तद्वीपों में एक।

गंगा—देवनदी गंगा जिन्हें जाह्नवी, भागीरथी आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यह हिमालय से निकल कर गंगासागर (समुद्र में) मिलती हैं।

गन्धर्व—भारत के नवद्वीपों में से एक। कुछ लोगों ने काबुल को गन्धर्व प्रदेश माना है।

गभस्तिमान्—यह भी भारत के नौ भागों में से एक है।

गाङ्ग—दक्षिणापथ का एक देश। लोगों ने कोयम्बटूर तथा सलेम जिलों में स्थित कोंगु से इसका ऐक्य माना है। लोगों का अनुभव है कि गांग नाम प्रसिद्ध गांगवंशीय राजाओं के नाम पर पड़ा है।

गाधिपुर—राजशेखर ने इसे कन्नौज का दूसरा नाम बताया है (बाल-रामायण)। काव्यमीमांसा में कन्नौज के उत्तर का स्थान बताया है। हेमचन्द्र ने भी अभिधानचिन्तामणि (भूमिखण्ड) में कान्यकुब्ज और गाधिपुर को एक बताया है—कान्यकुब्जं महोदयम्। कान्यकुब्जं गाधिपुरं कुशस्थलं च तत्॥

गिरिनगर—गिरिनार। काठियावाड़ के जूनागढ़ के पास अवस्थित गिरिनार का समीपवर्ती प्रदेश।

गोदावरी—दक्षिणभारत की प्रसिद्ध नदी। पुराणों में इसकी पवित्रता का विशेष वर्णन है। यह दक्षिण भारत के नासिक जिले में स्थित त्र्यम्वक ज्योतिर्लिङ्ग के समीप ब्रह्मगिरि से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है। भगवान् श्रीराम ने वनवास के समय यहां निवास किया था।

गोवर्धन—वृन्दावन से १८ मील पर स्थित पर्वत जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्द्र के कुपित होने पर उगलियों पर धारण किया था।

गौड—एन. एल. डे ने इसे बंगाल निश्चित किया है। (गौड देश के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये डा० डी. सी. सरकार कृत स्टडीज इन द ज्याग्राफी आफ एनस्येण्ट इण्डिया, पृ० ११०-१२२)।

चकोर—काव्यमीमांसा में पूर्वी भारत का एक पर्वत बताया गया है। मिर्जापुर को चुनार से इसका ऐक्य स्थापित किया गया है।

चक्रर्वातिक्षेत्र—उत्तर में हिमालयस्थ बिन्दुसर से दक्षिण में कन्यांकुमारी के बीच के प्रदेश को चक्रवर्ति क्षेत्र कहा जाता है। कभी-कभी इसे चारों समुद्रों से घिरा हुआ भी बताया जाता है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण भारत वर्ष ही है। वायुपुराण में भारतवर्ष का यह उल्लेख है :

> उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत्।
> वर्षं तद्भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा॥ —वायु पु०

तथा—

> उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
> वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥
> कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्।
> अतः सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात् प्रयान्ति वै॥
> तिर्यक्त्वं नरकं चापि यान्त्यतः पुरुषा मुने॥

इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यं चान्तश्च गम्यते ।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्म भूमौ विधीयते ।।

—विष्णुपुराण २।१३।२–५

एवं—

दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः ।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः ।।

—मार्कण्डेय ४७.५९

चन्दनगिरि—इसका प्रसिद्ध नाम मलयगिरि या मलयाचल है। यहाँ के चन्दन वृक्ष प्रसिद्ध हैं।

चन्द्रभागा—पञ्जाब की चिनाव नदी जो सिन्ध में मिलती है।

चन्द्राचल—हिमालय की एक श्रेणी। इसी से चन्द्रभागा नदी निकलती है।

चोड़— दक्षिण का चोल या चोड़ प्रदेश। इसमें तंजोर और अर्काट जिले समाविष्ट हैं।

जम्बूद्वीप—नव द्वीपों में एक द्वीप। भारतवर्ष इसी द्वीप का एक देश है। पुराणों में इस द्वीप का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

जाह्नवी—गंगानदी का एक नाम।

टक्क—विपाट् और सिन्धु नदियों का मध्यवर्ती क्षेत्र। वह बाह्लीकों या टक्कों का देश था।

तङ्गण—उत्तरापथ का देश। रामगङ्गा से सरयू तक फैला है।

तापी—ताप्ती नदी। विन्ध्य से निस्सृत होकर अरब समुद्र में गिरती है।

ताम्रपर्ण—भारत के नव प्रदेशों में से एक।

ताम्रपर्णी नदी—मलय के अगस्तिकूट से निकल कर तिन्नेवाली जिले में प्रवाहित होती है।

ताम्रलिप्तक—बंगाल के मिदनापुर जिले का तमलुक।

तुङ्गभद्रा—कृष्णा की एक सहायिका नदी।

तुरुष्क—तुर्किस्तान का पूर्वी भाग तुरुष्क कहा जाता था।

तुषार—उत्तरवर्ती एक देश। आक्सस नदी की ऊपरी तराई बल्ख और बदख्शां तुषार देश में समाविष्ट हैं। यहाँ के घोड़े प्रसिद्ध होते थे।

तोसल—इसका ऐक्य दक्षिण कोशल से किया गया है।

त्रवण—पश्चिमी भारत का कोई प्रदेश।

दक्षिण देश—कन्या कुमारी और नर्मदा का मध्यवर्ती भूभाग दक्षिण देश में समाहित थे। इसी को दक्षिणापथ भी कहते हैं।

दण्डकवन--प्रसिद्ध दण्डकारण्य। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इसका विस्तृत वर्णन है। वामन पुराण के अनुसार महर्षि शुक्र द्वारा शप्त होने के कारण यह प्रदेश निर्जन हो गया (वामन० ३७ अ०)।

दर्दुर—एक पर्वत। कालिदास इसे मलय का समीपवर्ती बताते हैं।

दशपुर--मालवा का मन्दसौर। इस समय यह दशोर कहा जाता है। इसका उल्लेख मेघदूत में भी है।

दशेरक—मालवा।

देवसभा—पश्चिमी भारत में इसका अस्तित्व है। देवास राज्य या उदयपुर का पहाड़ी प्रदेश प्रतीत होता है।

देविका--नदी। रावी की सहायिका डीग से ऐक्य माना जाता है।

द्रविड—द्रविड़ देश।

द्रोणाचल—कुमायूं डिवीजन में द्रोणगिरि पर्वत।

नर्मदा—प्रसिद्ध नदी।

नागद्वीप--भारत के ९ भागों में से एक।

नासिक्य—नासिक।

निषध—जम्बूद्वीप का एक पर्वत जो महामेरु के दक्षिण में है। यह हरिवर्ष का प्रधान पर्वत है।

नीलगिरि—जम्बूद्वीप का वर्ष पर्वत।

नेपाल–पर्वतीय प्रदेश तथा जनपद जो राजशेखर द्वारा भारत के पूर्वी भाग में समाविष्ट है।

पयोष्णी--दक्षिण भारत की नदी। तापी की सहायिका पूर्णा को पयोष्णी माना जाता है।

पल्लव—दक्षिण का प्रसिद्ध पल्लव साम्राज्य जिसकी राजधानी काञ्ची में थी। उसी के समीपवर्ती प्रदेश का नाम पल्लव रहा होगा।

पश्चाद्देश—सिन्ध, पश्चिमी राजपूताना, कच्छ आदि को समाविष्ट किये पश्चिमी भारत।

पञ्चाल—मध्यप्रदेश में अवस्थित है। हिमालय से लेकर यमुना तक तथा विनशन से प्रयाग तक। इसके उत्तर पञ्चाल तथा दक्षिण पञ्चाल दो भेद हैं। एक की राजधानी अहिच्छत्रा में तथा दूसरे की काम्पिल्य में थी। दोनों पञ्चालों की विभाजक रेखा गंगा नदी थी। पञ्चाल देश का वैदिक और पौराणिक युग में बड़ा महत्त्व था।

पाटलिपुत्र—वर्तमान पटना नगर।

पाण्ड्य–मद्रास के तिन्नेवली और मदुरा जिलों में पाण्ड्य राज्य प्रसृत था।

पारियात्र—कुमारीद्वीप का एक कुल पर्वत। विन्ध्य के पश्चिमोत्तर भाग से इसका ऐक्य माना गया है।

पाल—दक्षिणापथ का एक जनपद महाड़ के समीपवर्ती पाल से इसका ऐक्य किया गया है। राजशेखर ने पाल और मञ्जर का एक साथ उल्लेख किया है।

पुण्ड्र—बंगाल का माल्दा जिला

पुष्करद्वीप—सप्तद्वीपों में से एक द्वीप।

पूर्वदेश—पूर्वी भारत। काशी से पूर्व और असम, बर्मा तक पूर्व देश था।

पृथूदक—थानेश्वर से १५ मील पर स्थित पेहोआ स्थान जो हरियाना के कर्नाल जिले में है।

प्रयाग—वर्तमान इलाहाबाद।

प्राग्ज्योतिष—कामरूप या कामाख्या।

प्लक्षद्वीप—सप्तद्वीपों में से एक।

बर्बर—पुराणों में उत्तरी भारत का जनपद वा स्थान बताया गया है। कनिंघम ने सिन्धु के किनारे से मम्बूर से इसका ऐक्य माना है।

बाल्हवेय—उत्तरी भारत का देश। मुल्तान के समीप भाटिय से ऐक्य माना जाता है।

बाह्लीक—व्यास और सतलज के बीच का प्रदेश। त्रिकाण्डशेष में त्रिगर्त को बाह्लीक बताया गया है।

बिन्दुसर—हिमालय में अवस्थित है। गंगोत्री से इसकी दूरी दो मील है।

बृहद्गृह—पर्वत।

ब्रह्म—पूर्वी भारत का देश। सम्भवतः आधुनिक बर्मा।

ब्रह्मशिला—कन्नौज की पूर्वी सीमा थी।

ब्रह्मोत्तर—पूर्वी भारत का एक देश। बर्मा का कोई भाग हो सकता है।

ब्राह्मणवाद—पश्चिमी भारत का कोई देश।

भादानक—यहाँ के लोग अपभ्रंशभाषी बताये गये हैं।

भारतवर्ष—

भृगुकच्छ—भडोच और समीपवर्ती प्रदेश।

भैमरथी—कृष्णा की सहायक भीमा नदी।

मगध—दक्षिणी विहार का प्रदेश। गया यहाँ का प्रधान तीर्थस्थान है।

मध्यदेश—सरस्वती, हिमालय, विन्ध्य और प्रयाग के बीच का प्रदेश।

मरु—राजपूताना या मालवा का मरुस्थल।

मलद—विहार के शाहाबाद जिले का एक भाग।

मलय—पर्वत ।

मल्लवर्तक—बिहार और उड़ीसा के हजारीबाग तथा सिंहभूमि जिलों की पहाड़ियों से इसका ऐक्य माना गया है ।

माहिषक—नर्मदा के निचले भाग में यह देश था । इसकी राजधानी महिष्मती नगरी थी । डा० सरकार कहते हैं कि माहिषक महिष्मती के चारों ओर था । यह नेमाद जिले में है ।

महिष्मती—प्राचीन नगरी । यह माहिषक प्रदेश की राजधानी थी । इसका ऐक्य निमार जिले के ओंकार मान्धाता या प्राचीन इन्दौर राज्य के महेश्वर नामक स्थान से माना गया है । यहीं से दक्षिण की ओर राजशेखर का दक्षिणापथ आरम्भ होता है ।

मुद्गर—बिहार के वर्तमान मुंगेर जिले को मुद्गर माना जाता है ।

मुरल—मुरला नदी के समीप का प्रदेश । मुरला नदी भीमा नदी की सहायिका है ।

मेकल—विन्ध्य की पर्वत श्रेणी । इसे अमरकण्टक कहते हैं । मेकल से नर्मदा नदी निकलती है जिससे उसका नाम मेकलकन्या या मेकलसुता पड़ा है ।

मेरु—या महामेरु । यह जम्बूद्वीप के मध्य में है तथा इलावृत पर्वत से घिरा है ।

यमुना—प्रसिद्ध नदी । यह सूर्यपुत्री तथा यम की बहन है ।

यवन—पश्चिमी प्रदेश का एक देश । अनुमान है बलूचिस्तान का दक्षिणी-पूर्वी भाग राजशेखर का यवन देश रहा होगा ।

रत्नवती—मलय पर्वत की एक नगरी ।

रमठ—उत्तरी भारत में इसका निर्देश राजशेखर ने किया है । लेवी ने इसे गजनी और बलख के बीच में निर्दिष्ट किया है ।

रम्यक वर्ष—महामेरु के उत्तर में अवस्थित एक वर्ष ।

रावणगङ्गा—राजशेखर ने इसे दक्षिण भारत की एक नदी बताया है ।

लङ्का—वर्तमान लङ्का या सिंहल द्वीप ।

लाट—वर्तमान गुजरात प्रदेश । राजशेखर ने लाट देश के निवासियों को प्राकृत भाषा का प्रेमी बताय है । लाट देश के निवासी अनुप्रास के प्रेमी बताये जाते हैं और उन्हीं के नाम पर अनुप्रास का एक प्रकार लाटानुप्रास बना है ।

लिम्पाक—राजशेखर ने इसे उत्तर भारत का प्रदेश बताया है । कनिंघम ने हुवेन्त्साङ्ग द्वारा वर्णित लायो और टालेमी वर्णित 'लम्बाटो' या वर्तमान

लघमान से इसका ऐक्य स्थापित किया है। लघमान काबुल नदी के उत्तरी क़िनारे पर है।

लोहितगिरि--पूर्वी भारत का एक पर्वत। संभवतः यह हिमालय की पूर्वी पर्वतश्रेणी है जिससे लौहित्य या ब्रह्मपुत्र निकलती है।

लौहित्य—ब्रह्मपुत्र नदी।

वङ्ग—बङ्गाल।

वञ्जुरा—गोदावरी की सहायिका नदी वञ्जुला या मञ्जुला।

वत्सगुल्म--राजशेखर इसे विदर्भ की नगरी बताते हैं। यह महाभारत में वर्णित वंशगुल्म हो सकता है जहाँ से नर्मदा निकालती है।

वरुण—भारत के नौ खण्डों में से एक।

वर्णा--राजशेखर दक्षिण की नदी बताते हैं। यह कृष्णा अथवा उसमें मिलने वाली वेणा नदी हो सकती है।

वल्लार—संभवतः वल्लालवंशीय राजाओं द्वारा शासित देश वल्लार संज्ञा से अभिहित किया गया है।

वल्हव—उत्तर का देश बताया गया।

वाणायुज--उत्तर का देश। एन० एल० डे ने इसे अरव बताया है। कौटिल्य ने यहाँ के अश्वों को सर्वोत्तम माना है।

वानवासक—उत्तरी कनारा। टालेमी वेनवास नगर को वानवासक बताता है।

वामनस्वामी--कन्नौज नगर के पश्चिमी भाग में अवस्थित वामन भगवान् का मंदिर

वाराणसी – वाराणसी, काशी या बनारस।

वार्तघ्नी--पश्चिमी भारत की एक नदी। साबरमती की सहायक नदी वात्रक से ऐक्य माना जाता है।

वाह्लीक—व्यास और सतलज के बीच का प्रदेश। यह केकय के उत्तर में है। इसको वाहीक भी कहते हैं।

वितस्ता—झेलम नदी।

विदर्भ – प्राचीन समय में विदर्भ के अन्तर्गत सम्पूर्ण बरार। खानदेश, हैदराबाद के अंश तथा मध्यप्रदेश के अंश समाविष्ट थे।

विदेह--तिरहुत, तीरभुक्त या मिथिला का प्रदेश।

विनशन—थानेसर के पश्चिम। यहाँ सरस्वती लुप्त हो जाती है।

विन्ध्य--विन्ध्याचल पर्वत।

विपाशा—व्यास नदी।

विशाला—उज्जैनी नगरी।

वेणा—कृष्णा की सहायक नदी वर्णा।

वैदिश—वेतवा नदी के किनारे मालवा में भिलसा। यह प्राचीन दशार्ण देश की राजधानी थी।

वोक्कण—यह उत्तरी भारत का देश बताया गया है। ह्वेनसांग द्वारा वर्णित 'ओ-पी-क्येन' से इसका ऐक्य स्थापित किया गया है।

शक—भारत में आने पर जहाँ शक लोग प्रथम बसे उसे शक या शक-स्थान के नाम से पुकारा गया। स्यालकोट से शक का ऐक्य माना जा सकता है।

शतद्रु—सतलज नदी।

शाल्मलिद्वीप—विश्व के द्वीपों में से एक। नन्दलाल डे इसका ऐक्य मेसोपोटामिया के काल्डिया से मानते हैं।

शिप्रा—इसी के किनारे उज्जैनी नगरी बसी है।

शुक्तिमान्—भारत का एक कुलाचल। विन्ध्य की ही कोई श्रेणी है।

शूरसेन—मथुरा यहाँ की राजधानी थी। मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश का शूरसेन नाम था।

शृङ्गवान् - महामेरु के उत्तर में अवस्थित तीसरा पर्वत। उत्तरकुरुवर्ष का प्रमुख पर्वत माना गया है।

शोण—प्रसिद्ध सोन नदी। इसी के मिलने के कारण सोनपुर नगर का नाम पड़ा है। यह पटने के समीप गंगा में मिलती है। इसको नदी न कहकर नद कहा गया है।

श्रीपर्वत—श्रीशैलपर्वत। यहाँ मल्लिकार्जुन महादेव का मन्दिर है।

श्रवी—पश्चिमी भारत की एक नदी। गुजरात की साबरमती नदी से इसका ऐक्य माना जा सकता है।

श्वेतगिरि—महामेरु के उत्तर में अवस्थित दूसरा पर्वत। हिरण्मय वर्ष का प्रमुख पर्वत है।

सरयू—उत्तरी भारत की नदी। अयोध्या नगरी इसी के किनारे है। यह छपरा के पास गंगा में मिलती है।

सरस्वती—सरस्वती नाम की दो नदियों का राजशेखर उल्लेख करते हैं। एक उत्तरी भारत में, दूसरी पश्चिमी भारत में।

सहुड—राजशेखर इसे उत्तरी भारत का एक प्रदेश बताते हैं।

सह्य—पश्चिमी घाट पहाड़ का उत्तरी भाग, जो कावेरी और गोदावरी के बीच में है।

सिन्धु—सिन्ध नदी।

सिंहल—सिलोन या श्रीलङ्का।

सुराष्ट्र—काठियावाड़ तथा समीपवर्ती भाग।

सुह्म—राजशेखर इसे पूर्वी देशों में से एक बताते हैं। यह वङ्ग के ही समीप का कोई भाग था।

सूर्पारक—दक्षिणी भारत का कोई देश। बम्बई के थाणा जिले के शोपास से इसका ऐक्य स्थापित किया गया है।

सौम्य—भारत के नौ खण्डों में से एक।

हंसमार्ग—इसे क्रौञ्चरन्ध्र या हंसद्वार भी कहते हैं। यह हिमालय में है और कहा जाता है कि परशुराम ने अपने बाण से इस मार्ग का निर्माण किया था। इसका ऐक्य तिब्बत और भारत को मिलाने वाले निति दर्रे से माना गया है।

हरहूख—सिन्ध, झेलम, गन्दगढ पर्वत और साल्टझील के बीच का प्रदेश। राजशेखर उत्तरी भारत में इसे बताते हैं।

हरिवर्ष—महामेरु के दक्षिण में अवस्थित वर्ष पर्वत।

हस्तिनापुर—कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर में थी। यह गंगा के दक्षिणी किनारे पर अवस्थित है।

हिडिम्बा—पश्चिमी भारत की नदी। चम्बल से इसका ऐक्य माना गया है।

हिमवान्—हिमालय पर्वत।

हिरण्मयवर्ष—जम्बूद्वीप के सात वर्षों में से एक।

हूण—उत्तरी भारत का एक प्रदेश। कालिदास ने रघु के दिग्विजय के प्रसङ्ग में हूण का उल्लेख किया है।

हूहुक—उत्तरी काश्मीर से इसका ऐक्य किया जाता है।

हेमकूट—महामेरु के दक्षिण में अवस्थित दूसरा वर्ष पर्वत। किम्पुरुष वर्ष का यह वर्ष पर्वत है।
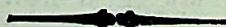
परिशिष्ट (ग)

काव्यमीमांसा के उपजीव्य ग्रंथ

काव्यमीमांसा का विषय अत्यन्त व्यापक है अतः राजशेखर के लिए किसी एक ही ग्रन्थ वा विषय पर आश्रित रहना सम्भव न था। इसके अतिरिक्त नाना उदाहरणों को उपन्यस्त करने के निमित्त सम्पूर्ण वाङ्मय का उन्होंने आलोडन किया था। साहित्य, दर्शन, भूगोल इत्यादि नाना विषयों के ग्रंथों का राजशेखर ने उपयोग किया है और प्रायेण सभी प्राचीन कवियों के पद्यों को उन्होंने उद्धृत किया है। तथापि विशेषरूप से जिन पुस्तकों का किसी प्रकरण को पूरा करने में उन्होंने उपयोग किया है उनमें पुराण, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, बाण का हर्षचरित, भरत का नाटयशास्त्र, वामन का काव्यालङ्कार सूत्र, रुद्रट का काव्यालंकार, वात्स्यायन का कामशास्त्र, आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, वाक्पतिराज का गउडवहो इत्यादि प्रमुख हैं। परन्तु यह सुस्पष्ट बात है कि राजशेखर का पाण्डित्य बहुत व्यापक था और काव्य, दर्शन, व्याकरण, वेद, वेदाङ्ग, इतिहास-पुराण, भुवनकोश आदि के सम्पूर्ण साहित्य का उन्होंने अध्ययन और उपयोग किया है।

परिशिष्ट (घ)

काव्यमीमांसा का परवर्ती साहित्यशास्त्र में उपयोग

राजशेखर की काव्यमीमांसा का हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन-विवेक में अत्यधिक उपयोग किया है। काव्यमीमांसा (अध्याय ८) में वर्णित व्युत्पत्ति (काव्यार्थयोनि) का काव्यानुशासनविवेक अध्याय १ में, काव्यमीमांसा अध्याय ९ अर्थव्याप्ति का काव्या० विवेक अध्याय ४ में, कविसमय एवं हरण का अध्याय १ में, तथा देशकाल (काव्यमीमांसा अध्याय १७, १८) का तृतीय अध्याय में हेमचन्द्र ने उपन्यास किया है।

इन्हीं विषयों का वाग्भट ने अपने काव्यानुशासन (अध्याय १ तथा ५) में उपयोग किया है। इन दोनों ग्रंथों के अतिरिक्त सरस्वतीकण्ठाभरण, शृङ्गारप्रकाश तथा भावप्रकाशन में भी काव्यमीमांसा के उद्धरण मिलते हैं।

परिशिष्ट (ङ)

काव्यमीमांसा में आये श्लोकों की अनुक्रमणी

—:०:—

कतिपय प्रकाशन

दशरूपकम् । धनिककृत 'अवलोक' संस्कृत टीका एवं डॉ० भोलाशंकर व्यास कृत 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका सहित — १६–००

रसगङ्गाधरः । आचार्य बदरीनाथ कृत 'चन्द्रिका' संस्कृत टीका एवं आचार्य मदनमोहन झा कृत हिन्दी टीका सहित । १-३ भाग सम्पूर्ण ८०–००
- प्रथमाननपर्यन्त : प्रथम भाग — २०–००
- द्वितीयाननं का उत्प्रेक्षानिरूपणान्त : द्वितीयभाग — ३०–००
- अतिशयोक्त्यलङ्कारादिसमाप्तिपर्यन्त : तृतीय भाग — ३०–००

काव्यप्रकाशः । 'शशिकला' हिन्दी व्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह — २०–००

कुवलयानन्दः । 'अलङ्कारसुरभि' हिन्दी व्याख्या । डॉ० भोलाशंकरव्यास २०–००

साहित्यदर्पणम् । 'शशिकला' हिन्दी व्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह १-६ परिच्छेद २०–०० सम्पूर्ण ३०–००

ध्वन्यालोकः । अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' संस्कृत टीका एवं आचार्य जगन्नाथ पाठक कृत 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या । सम्पूर्ण ३०–००

काव्यमीमांसा । 'प्रकाश' हिन्दी टीका सहित । डॉ० गङ्गासागर राय — १५–००

काव्यालङ्कारः । रुद्रट । नमिसाधु कृत संस्कृत टिप्पण सविमर्श 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित । श्री रामदेव शुक्ल — १५–००

अलङ्कारानुशीलन । डॉ० राजवंशसहाय 'हीरा' — २५–००

अलङ्कारशास्त्र की परम्परा । डॉ० राजवंशसहाय 'हीरा' — ८–००

अलङ्कार मीमांसा । डॉ० राजवंशसहाय 'हीरा' — ५–००

कौटिलीय-अर्थशास्त्रम् । हिन्दीव्याख्योपेतम् । वाचस्पति गैरोला — ५०–००

अलङ्कार-सार-मञ्जरी । सान्वय परीक्षोपयोगि हिन्दी व्याख्या सहित । म० म० पण्डितराज श्री गोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी' — २–००

काव्यमीमांसा । परीक्षोपयोगि संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकारः—पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी । १–५ अध्याय — ३–५०

नैषधीयचरितम् । 'चन्द्रकला' सं० हि० व्याख्या । शेषराजशर्मा । १-६ सर्ग २५–००

स्वप्नवासवदत्तं । 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या । शेषराजशर्मा रेग्मी: ६–००

भट्टिमहाकाव्यम् । 'काव्यमर्मविमर्शिका' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम् । नवीन परिवर्द्धित संस्करण । म० म० श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी' प्रथम भाग ७–०० द्वितीय भाग ८–००, तृतीय भाग ८–००

निरुक्त । १–७ अध्याय । विवेचनात्मक विस्तृत हिन्दी व्याख्या, भूमिकादि सहित । व्याख्याकार—प्रो० उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि' — १६–००

पुराणपर्यालोचनम् । डॉ० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी । प्रथम : गवेषणात्मक भाग ३०–००
द्वितीय : समीक्षात्मक भाग २०–००

भक्तिरत्नावली । डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी — १५–००

चौखम्बा विद्याभवन, चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी–२२१००१